प्रकाशकीय

श्रीसूत्रागमप्रकाशकसमितिकी ओर से अब तक अपने ३२ सूत्र (मूलपाठ) सुत्तागमेके रूपमें छपकर प्रकाशित होनेके पश्चात् इनका प्रचार ६० से अधिक आन्तरराष्ट्रों Cauntry में भले प्रकारसे हुआ है। वहां के क्षीर नीर विवेकी कोविदों और प्राध्यापकोंने स्वाध्याय-चिन्तन-मनन करके वड़ा सन्तोष प्रगट किया है और वड़े उच्चस्तरीय प्रमाणपत्र भेजकर समाजका गौरव वढ़ाया है।

हर्ष का विषय है कि सुत्तागमेके पश्चात् अव अर्थागमका आरंभ किया जा रहा है। आचारांगके प्रकाशित करते समय वहुतसे स्वाध्याय-प्रेमिओंकी इच्छानुसार श्रीसन्तबालका अनुवाद पसन्द किया गया और इस विषयमें उनकी तथा महावीर प्रकाशन साहित्य मंदिर (अहमदावाद) के कार्यकर्ताओंकी सम्मतिसे हमारी समिति द्वारा प्रकाशित होकर आपके करकमलों तक पहुंचा रहे हैं। आशा है जिज्ञासु पाठकोंको यह प्रकाशन आत्मा की खुराकका काम देगा। क्योंकि आत्माकी खुराक सुश्रुत-सम्यक्-ज्ञान ही तो है। इसलिये आपको पसन्द आना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त श्री सन्तवाल की मंजी हुई लेखनीने इसमें आगम और निगम की वड़ी वड़ी पतेकी वातें प्रस्तुत करके इसे चार चांद लगा दिए हैं। वहुतसे आचारांग प्रकाशित हुए हैं, परन्तु यह अपनी नाम नामी एक ही वस्तु है।

आचारांगसूत्रंका यह पहला श्रुतस्कन्ध श्रुत या अध्यात्मज्ञानका महाभंडार कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। और योग्य अनुवादक ने स्वसमयके साथ परसमयको मानो सोनेके साथ चिरमठी(गुंजा)को तोलकर स्वसमयकी स्वाभाविकता-व्यापकता सत्यता उपादेयता और 'षड्दर्शन जिन अंग भणीजे' की मौलिकता सिद्ध कर दिखाई है। इसके

अतिरिक्त इसे लोकभाषाके सांचेमें ढाल कर आध्यात्मिक प्रेमी और हिन्दीपाठकोंकेलिए बड़ा सुगम सुनहरी द्वार खोल दिया है। आशा है पाठक वर्ग इसकी कदर करेगा और श्रीमहावीर भगवान् के प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तोंको आन्तरमें उतार कर कृतकृत्य होनेका महालाभ लेनेका प्रयत्न करेगा।

इसके पढ़ने और चिन्तन के अनन्तर आप इस परिणाम पर पहुंचोगे कि हमारा गार्हस्थ्य जीवन कैसा है या कैसा होना चाहिए और सम्पूर्ण त्यागीवर्गको उनके अपने-जीवनका मार्गदर्शन कराते हुए उन्हें यह लगेगा कि सम्पूर्ण त्यागी जीवन कैसा होता है या हमारा संपूर्ण निवृत्तिपरायणताप्राप्त महाव्रती समाज श्रीज्ञातपुत्रमहावीरभगवानके आदेशोंका कितना पालन कर रहा है। हाथ कंगन को आरसी क्या ? आप इसका सही उत्तर इस ग्रन्थरत्नके अगले पृष्ठपटोंमें पा सकोगे, और फिर पा सकोगे। असलमें यह आचार शास्त्र अपनी और परकी खूब अच्छे ढंगसे परख करा देगा। इसके सतत स्वाध्यायसे आपका तीसरा नेत्र अवश्य उघडेगा और आपका आत्मा अपने आत्मीय ज्ञानसे अच्छी तरह चमक उठेगा। तथा फिर परवादी समूह और कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म रूपी तमस्तोम इस परमज्ञानरूपी सूर्यके सामने पलायन होते नजर आयेगा। इसीलिए आपको अपने 'घर पुस्तकालयमें' इसे स्थान देना चाहिए और नित्यस्वाध्याय करना न चूकियेगा। क्योंकि चरित्र-संगठन और मनोबलका विकास आचारशास्त्रके स्वाध्यायसे ही होना संभव है।

कुछ अव्यवस्था—बाजारोंमें आजकल कागजकी अत्यन्त महँगाई के कारण यथासमय एक प्रकारका कागज न मिलनेके कारण आपको इसमें त्रिगुणीमायाका घाटसा मालूम देगा। इसका हमारे आन्तरमें बड़ा क्षोभ और पश्चाताप है।

इसके अतिरिक्त कम्पोजीटर उच्चकोटिके लघुलाघवी कलापूर्ण छापकाम कलाकोविदके न होनेसे उनके दृष्टिदोष भी हमें खटक रहे

हैं। सतर्कता रखते हुए भी कुछ अप्रासंगिकता सी आना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसलिये 'जब तीर छुटगया हाथसे थामे तो फिर कैसे थमे' की कहावतके अनुसार राजहंसके साथी विवेकी पाठकोंकी सूचना आनेपर आनेवाले संस्करणमें उन्हें फिरसे ठीक करने का प्रयत्न किया जासकेगा।

एक प्रेसके कार्यमें स्खलना, विलंब तथा शैथिल्य देखकर दूसरे प्रेसमें काम देनेकी आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक है। वरन् यह भागीरथी काम द्रुतगतिसे पूरा नहीं हो सकता था। इसलिए इस ग्रन्थरत्नको दो अंशोंमें विभक्त करना पड़ा।

आगम एक महान और असीम समुद्र है। इसमें तत्वरत्न बड़े ही दुर्लभ्य और अमूल्य हैं। इसका स्वाध्याय साधकको अन्तसे अनन्तमें लेजानेका काम कर सकता है। इसमें यही विलक्षण आकर्षण है। साधक वर्ग यदि अनुभव, श्रद्धा, भक्ति और सोपयोगिता, गुणग्राहकता द्वारा योग्य अभ्यासके गोते लगाकर अनन्त आत्मगुणमय रत्नोंकी राशि के पानेका प्रयत्न करेगा तो हम अपनी ज्ञानसेवाको सफल समझेंगे।

निवेदक—मन्त्री, रामलाल जैन,

प्रमुख—दुर्गाप्रसाद जैन B. A. B. T.

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ णायपुत्तमहावीरस्स

नवीन प्रस्तावनाके रूपमें दो बोल

आचारांगसूत्रका अंगसूत्रके स्थानमें In Place of जैनागमोंमें ऊंची महिमा है ही। इसके उपरान्त पूर्वार्धमें बहुत ही गम्भीर आध्यात्मिक चिंतन भी असीम संख्यामें रहा हुआ है। यह चिंतन इतना अधिक रसिक और प्रेरक है कि जिज्ञासु वाचक इसे अमलमें लाए विना रह नहीं सकता।

आचारांगके पूर्वार्धकी खास विशेषता यह है कि एक और सब इन दोनोंकी जुदाईमें जो एक अपूर्व एकता पड़ी हुई है उसका स्पष्ट भान इससे सहज होजाता है। 'जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो एक पर विजय पाता है वह सबको जीत लेता है।' ऐसे ऐसे छोटे वाक्योंसे व्यक्ति, समाज और समष्टिके संबंध ताजह होते हैं। फिर इन सम्बन्धोंके साथ आनेवाला विगाड़ दूर रहकर उसमेंका सर्वोत्तम वात्सल्य पान किया जा सके इस प्रकारकी मङ्गल साधनाके मार्गमें चलने की प्रेरणा देता है।

श्रमणभगवान महावीरकी जीवनसाधनाका मूल्य इस दृष्टिसे महानतम वना हुआ है। उन्होंने राज्यपद छोड़ा और सामान्य मानवीके साथ महव्वत जोड़ी, अंतमें मानव हृदयके सिंहासन पर आरूढ़ हो गए। माताओंके अन्तस्तलका हेत चख सके। अनार्योंका अपमान सहकर भी आर्यत्वका विलेपन लगाया। कानोंमें कील ठोकनेवालेको भीं उन्होंने अन्तर का आशीर्वाद दिया। चंडकौशिकके प्रचण्ड विषको अमृतमें पलट दिया। ऐसी साधनाका आचरण करके उन्होंने सिद्ध कर वताया कि प्राणीमात्र में आत्मा एक ही तरहका वसा हुआ है। इस प्रकार यदि स्वयं एकताका अनुभव करके वे वैठ जाते तो व्यक्तिगत रूपसे स्वयं मोक्ष तो अवश्य पा जाते परन्तु स्थायी प्रकारके समाजमें मोक्षका चेप न लगता। खूवीकी वात तो यह थी कि महावीर जैसे तीर्थंकरों द्वारा प्रस्थापित संघोंमें देश, वेश, जात,पात या लिंग(चिन्ह) आदिके किसी भेद भावके विना

आवालवृद्ध अनेक जन सम्मिलित हो गए। जिन्होंने न्याय, नीति, धर्म और आध्यात्मिकताकी प्रतिष्ठा फैलाकर अन्याय, अनीति, अधर्म और भौतिकवादकी प्रतिष्ठाको तोड़ डाला। हजारों वर्ष बीतने पर भी यह संस्कृति धारा अविच्छिन्नतया प्रचलित रही है। जिन्होंने अनेक संतों और भक्तोंको आज तक परिपक्व किया हैं। अन्तमें भारतके सपूत गांधी जीने 'अहिंसा परमो धर्मः' का चमत्कार आम जनता द्वारा जगत को बताकर उपरोक्त साधनाकी सफलता फिर से पूर्ण कर बताई।

आज जब विश्वमें हाईड्रोजन और नाइट्रोजन बम वर्षासे मानवजात पीड़ित हो रही हैं, ऐसे अवसरमें सबकी एक मात्र आशा 'भारत' बनी हुई है। भारतके १३ लाख जैन इस उत्तरदायित्वमें आगे रहकर 'प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्' सिद्ध कर बतायेंगे या पीछे पड़े रहेंगे? यह आजके युगका एक बहुत बड़ा उलझन भरा Puzzle प्रश्न है। धन, सत्ता और यंत्रकी वेड़ीसे बाहर निकालकर अहिंसा, सत्य और विवेकमय जात महनतके चौगानमें आनेकेलिए क्या जैन पहल करेंगे? जैन साधु साध्विओंको इस दिशामें मार्गदर्शक Lead या Guide बने विना छुटकारा ही नहीं है। यदि वे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रोंका गहरा अध्ययन करते हुए आचारांगको अमली रूप दें तो क्या ही अच्छा हो?

पूज्य मुनिमहाराज श्री 'पुप्फ भिक्खू' मुनिराज ने 'सुत्तागमे' द्वारा मूल और मान्य आगमोंका सुन्दर संपादन किया है जिसे देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ हैं।

'अर्थागम' की दिशामें श्रीआचारांगके पूर्वार्धका आज जो हिंदी भाषांतर प्रगट हो रहा है यह आशाजनक चिन्ह है।

मुझे आशा है कि जैनजैनेतर हिंदीभाषाभाषी मानवजगत इसका सच्चा लाभ उठायेगा और गुडगांवकी महेच्छुक संस्थाकी महेच्छा पूरी करेगा।

'संत बाल'] साणंदके पास रूपावटी गाम ता० १३-५-५७

णमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्तमहावीरस्स

नमस्कार हो श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्र महावीर को

आपके सुपुत्र श्रीअमरनाथजी महानुभाव समितिके सहायक सदस्य है।

आपका व्यक्तित्व धर्मपरायण, प्रामाणिक, मिलनसार एव परोपकारी-दयालुप्रकृतिपूर्ण और गंगाजलके समान पवित्र विचारसे भरपूर था, कपड़ेके प्रमुख व्यापारी होते हुए आप अपने सत्यके ध्येयको सुरक्षित रखनेकेलिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। जनसेवाके आप अजोड़ प्रेमी थे।

संवत् १९९० मे आपने अपने कासनगांवमें एक सार्वजनिक (आयुर्वेदीय) धर्मार्थ औषधालय स्थापन करके वहां रहनेका निश्चय करके जनसेवा करते हुये वही रहने लगे। अन्तमे १९९८ में चैत्रवदी (सोमवती) अमावास्याके दिन प्रातः अपनी परलोक यात्राका पूर्वसंकेत करके प्रभुस्मरण करते करते जीवनलीला समाप्त करके स्वर्गारोहण किया।

अनुक्रमणिका

धूत

(६)

पांचवें अध्याय में लोक में से सार खेंचने की सूचना दी है, परन्तु जहां तक चित्तवृत्ति पर कुसंस्कारों का ज़ोर रहता है चित्त की मलिनता रहती है वहाँ तक सार किस प्रकार खेंचा जाय ? चरित्र गठन किस तरह से हो ? अभिमान और मोह के बुरे प्रभाव से किस तरह पीछा छूटे ? और स्वच्छन्दता से दूर कैसे रहा जा सके ? इसलिए सूत्रकार इस अध्ययन में चित्त शुद्धि के उपाय बताने का प्रयत्न करते हैं।

धूत धो डालने को कहते हैं। जिस प्रकार वस्त्र को किसी रंग से रंगने के पहले उसके पहले के लगे रंग को दूर करना पडता है और उसके दूर होने क बाद ही दूसरा नया रंग चमक उठता है। ऐसे ही जब चित्त पर से मलिनता के लगे हुए संस्कार दूर हो जायँ, तब ही नवीन संस्कार सुरेख बन सकते हैं। अन्यथा एक या दूसरी रीति से पूर्व अध्यास बीच में दखल दिए बिना नहीं रहते। इस रीति से सबसे पहले साधक के लिए चित्तशुद्धि की क्रिया अनिवार्य बन जाती है। इस क्रिया को जैन दर्शन में संवरकरणी में स्थान प्राप्त है।

पहला उद्देशक

पूर्वग्रहों का परिहार

पूर्वग्रहों में पूर्व के अध्यास, जटिल कदाग्रह और जड मान्यताओं का समावेश है। ये सब भूतावलियाँ जीवन पर इतनी दृढ़ता Firmness से चिपटी हुई हैं कि आंतर प्रकाश की ओर जाने वाली दृष्टि को पकड़कर रोक लेती हैं, और मोह के अंधकार में चित्त को घेर कर घुमाती रहती हैं।

(१) वे ज्ञानी पुरुष इस जगत् के मानवों मं सच्चे नररत्न हैं, जो तत्व को यथार्थ जानते हैं, और जगत्कल्याण के लिए औरों को भी वाणी द्वारा कह-कर बताते हैं। जन्म-मरणरूप संसार का स्वरूप उन्होंने सब प्रकार से जान लिया है, और इसीसे वे जब कुछ श्रीमुख से कहते हैं तब मानो ऐसा लगता है जैसे वे कुछ अद्वितीय ज्ञान अर्पण कर रहे हैं।

विशेष—जिन्होंने कदाग्रहों का परिहार कर दिया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों का साधकों को आदर्श देकर सूत्रकार यहाँ दे

भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं:—पहली तो यह कि मानव जीवन पाकर जो ज्ञान के लिए पुरुषार्थ करके इसे प्राप्त करते हैं, वे ही मनुष्य अधिकार के रूप में पाये हुए साधनों का पूर्ण सदुपयोग कर सकते हैं। यह निस्संदेह कहा जा सकता है और दूसरी भावना यह है कि ज्ञानी पुरुषों के वचन स्वानुभव से पूर्ण होने से नवीन से लगते हैं और अंतःकरण में प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। तब नए इसलिए लगते हैं कि वे अपने अनुभव से कुछ अलग ही तरह से कहते हैं। इसलिए रूढिमत मानस होने से कई बार वे पचा भी नहीं सकते तो भी कुछ अद्‌भुत लगने से वे ज्ञानरुचि उत्पन्न कर सकते हैं। यह कह कर सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि—ज्ञानी पुरुषों की इस विचित्रता को देखकर कोई द्वेष भी न करे, एवं अंधभक्त भी न बने। परंतु उनकी शिक्षा को जीवन में उतारने के हेतु सच्चा प्रयत्न करे। वह किरण नई लगने पर भी अपनी शक्तिके अनुसार उसे पचाने की चेष्टा करे, क्योंकि उनके वचन संसार स्वरूप का पूर्ण अनुभव पाने के बाद निकलने से उन वचनों में अनुपम प्रेरणा शक्ति होती है और वे जो कुछ कहते हैं इसमें जगत्‌कल्याण के सात्विक हेतु के सिवाय दूसरा कोई हेतु नहीं होता।

(२) विनीत जंबू! जो ज्ञानी पुरुष त्याग मार्ग को ओर झुके हुए, हिंसक क्रिया से निवृत्त, बुद्धिमान् और समाधि की इच्छा करने वाले सुपात्र साधकों को

की तह पर आने के लिए मार्ग मिलना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार इस जीवात्मा को जब संसार रूपी जलाशय में आसक्ति का गाढ़ा आवरण मिलता है, तब उससे बाहर निकलने का मार्ग मिलना उसके लिए दुःशक्य हो जाता है।

विशेष—यहां आत्मभान होने के पश्चात् सतत जागृति रखने की सूचना की है और वह योग्य भी है। पूर्व अध्यासों का प्रभाव धीरे-धीरे नाश नहीं हो सकता, क्योंकि अनन्त जन्मों में अनन्तकाल से उन प्रभावों को अलग-अलग रीति से पोषण मिलता रहा है।

जबतक ज्ञान के संस्कार सुदृढ़ रीति से फिर से चित्त पर स्थापित न हों तब तक जीवात्मा को निमित्त मिलते हुए पूर्व वेग में खिंच जाने का अवसर मिलता है और तुरन्त ही मोह का अंधकार आगे आ जाता है। ऐसा पतन बड़ा भयंकर होता है। बहुत से साधक सहज असावधानतया या लापरवाही से इतने अधिक पिछड़ जाते हैं कि उन्हें फिर से आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इससे प्रत्येक पल जागते रहना चाहिए। प्रत्येक क्रिया विवेक बुद्धि को जागृत रखकर करे, साथ ही फल की आसक्ति भी छोड़ दे। यह बात सदा याद रखने योग्य है।

विवेकबुद्धि का उपयोग करने के लिए संक्षेप में इन तीन बातों पर विचार करना आवश्यक है:—

(१) जिस क्रिया को मैं करता हूँ वह मुझसे बन सकेगी या नहीं ? या फिर मेरी शक्ति के बाहर की तो नहीं है ? क्योंकि यदि शक्ति बिना क्रिया करने चलें तो कई बार अधबीच में रह जाना पडता है। इसलिए क्रिया चाहे कितनी ही सुन्दर हो तो भी अपनी शक्ति विचार कर करना चाहिए।

(२) मैं जिस क्रिया को करता हूँ, वह इच्छानुसार ध्येय युक्त फल देगी या नहीं ? क्योंकि ध्येय शून्य क्रिया में उत्साह, शक्ति, या साहस साँगोपांग टिकते नहीं, और इसीसे वह क्रिया सफल सिद्ध नही होती। आशय यह है कि प्रत्येक काम के पीछे कुछ स्पष्ट ध्येय होना ही चाहिए।

(३) जो क्रिया मैं करता हूँ वह मेरा या किसी और का अनिष्ट तो नहीं करती ? बहुत-सी क्रियाएँ देखने में सुन्दर, अपनी शक्ति से साध्य तथा थोड़ा-सा इष्ट देने वाली होती है, तो भी जिस क्रिया का परिणाम अति अनिष्टजनक होता है उस क्रिया को हाथ में न लेना चाहिए।

इतने सामान्य विचार यदि स्थिर बुद्धि से किए जायं, तो बहुत-सी अनर्थकारिणी क्रियाओं को करने से

बचा जा सकता है, और इस रीति से की हुई क्रिया को विवेक-बुद्धिपुरःसर की क्रिया कहते हैं।

(४) (बहुत से साधक साधना मार्ग में लगते हुए भी दूसरे सब गुणों का विकास करते हैं, और करने के लिए मंथन करते हैं। परन्तु पूर्वग्रह को छोड़ नहीं सकते। भगवान् सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि:—सबसे पहले साधना मार्ग में लगे हुए साधक को पूर्वग्रह छोड़ देना चाहिए, क्योंकि विकास मार्ग में बड़ी से बड़ी बाधा उसके द्वारा ही खड़ी होती हैं। इतना सुनने पर भी प्रज्ञसाधक कई बार पूर्व पकड़ को छोड़ नहीं सकते, उसके कारण ये हैं)—हे प्रिय जंबू! जिस प्रकार वृक्ष अनेक संकट पड़ने पर भी अपना स्थान नहीं छोड़ता, इसी प्रकार ऐसी कोटि के जीव अलग-अलग कुल और क्षेत्रों में युज्यमान होकर विविध प्रकार के विषयों में आसक्त बनकर, पूर्व अध्यासों में फंसे रहने से उसमें से निकल सकने में समर्थ नहीं होते और परिणाम की भयंकरता का उन बाल जीवों को अनुभव न होने से जब उसका दुःखद परिणाम आता है, तब वे सिर पटककर रोया करते हैं। ऐसे बेचारे जीव "दुखका मूल अपना ही कर्म है" इस बात से अनभिज्ञ होकर दुःख में से छूट भी नहीं

सकते । अर्थात् कर्म से मुक्ति नहीं पा सकते ।

विशेष—इस सूत्र में पूर्वग्रह का कारण बताया है । पूर्वग्रह अर्थात् पूर्व की दृष्टि को पकड़े रखना जो कि अनेक प्रकार की होती है । जिस कुल में स्वयं जन्म लिया है, उस कुल की पकड़, धर्म की पकड़, मान्यता की पकड़, व्यवहार की पकड़ इत्यादि हैं । ऐसी पकड़ों का कारण संकुचितता है । वृक्षों की उपमा देकर सूत्रकार यह कहना चाहते हैं, कि वृक्ष को दुःख पड़ने पर भी वह अपना स्थान नहीं बदल सकता, क्योंकि वह उसके वश की बात नहीं है । इसी तरह बहुत से साधकों को अपनी पकड़(हठ)के फल का जब दुःखद अनुभव होता है, तब दुःख के डर से भागकर उस पकड़ को छोड़ देने की मनोदशा का सेवन अवश्य कर डालते हैं । परंतु फिर से जहां ऐसा प्रसंग आ जाता है, वहां वही भूल फिर से कर डालते हैं । इसके दो कारण हैं, एक तो शक्ति की कमी और दूसरे विचार का अभाव । इसी से वे वृत्ति के आधीन बने हुए हैं । साधना में यह एक बहुत बड़ी त्रुटि समझी जाती है ।

इस रीति से आगे बढ़ने वाले गण्यमान्य साधक भी एक या दूसरी तरह पूर्वग्रह में पड़कर महान् अनर्थ करते रहते हैं । उस साधक को मात्र व्यक्तिगत ही नहीं बल्कि कई बार समाजगत हानि होती है । उसमें भी दूसरी ओर पकड़ की अपेक्षा साम्प्रदायिकता में माने हुए धर्म की पकड़ मानव-समाज को अधिक पीड़ित कर सकती है । क्योंकि वह पकड़ जगत कल्याण के सुन्दर बुर्के के नीचे दबी हुई होने से भोली

जनता को अधिक आकर्षित करती है और अपने जाल में लेकर उलझा सकती है। इसलिए साधक किसी भी प्रकार की पकड़ को अपने चित्त पर स्थान न दे और पहले की भूल से अन्तर में घुस जाने वाली पकड़ को पहले पहल दूर करने की ओर विवेक को ऊंचा उठाए। पूर्वग्रह की इन बातों में बहुत से साधकों को अतिशयोक्ति लगना सम्भव है, परंतु वह पकड़ धीरे-धीरे साधना में कैसी अड़चन पैदा करती है अनुभवी आदमियों को उसका पूरा अनुभव होने से उसमें अधिकांश पूर्ण अनुभव होने से ही उन्हें चकित होना पड़ता है।

(५) जंबू ! देख इस ओर दृष्टि डाल इन अलग अलग योनिओं में, तथा अलग-अलग कुलों में ममत्व को और कर्म की पकड़ को लेकर जीव उत्पन्न होते हैं।

विशेष—अलग-अलग साधन, विविध आकार, भिन्न-भिन्न योनियों में होने वाले जन्म, ऐसी जीवमात्र की जो विचित्रता इस संसार रूपी नाटकशाला में दीख पड़ रही है, उसका ईश्वर या दूसरी कोई शक्ति निर्माण करती है यह बात केवल बुद्धि के समाधान के लिए समझाने मात्र की पूर्ति करती है। सूत्रकार कहते हैं कि असल बात तो यह है कि जीव स्वयं ही अपनी कर्मरूपी पकड़ को लेकर जहाँ जाना होता है चला जाता है। "अर्थात् हम क्या करें, ईश्वर ने हमको ऐसा ही बनाया है" यह कहकर रोना पीटना या अपनी दुर्बलता को छुपाने के लिए आश्वासन मात्र है। जो कुछ निर्माण

हुआ है वह अपने ही पूर्वजन्म के किये हुए कर्मों का परिणाम है, आकस्मिक कुछ नहीं है। यदि अब भी वर्तमान कर्मों पर सावचेती रक्खे तो भावी शुद्धि अपने ही हाथ में है। इसलिए वर्तमान दशा पर रोने धोने की अपेक्षा भविष्य की शुद्धि के लिए वर्तमान में जागृत रहना अति उत्तम है। जीवमात्र में अनन्त शक्ति है। मानव को तो स्वतन्त्र विचार शक्ति और पुरुषार्थ की स्वाधीनता भी प्राप्त है। अर्थात् वर्तमान जीवन सुधार पर अधिक लक्ष्य देना और पहले किये कर्मों के दुःखद परिणामों को समभाव से सहन करने की सहिष्णुता शक्ति रक्खे। इन दो साधनों से कर्मों के साथ वीरतापूर्वक लड़ता रहे। जो आदमी भूल करके भूलों का परिणाम भोगते समय रोया धोया करते हैं, वे भूलों को दूर करने के बदले और दूसरी अनेक भूलें कर डालते हैं।

(६) जंबू ! जो क्रियाएं बिना विचारे वासना के पूर्वग्रहों के आधीन होकर की जाती हैं, उन क्रियाओं का फल अति भयंकर होता है। ऐसे जीवों को मानसिक पीड़ा के उपरांत शारीरिक पीड़ा उत्पन्न करने वाले रोग भी हो जाते हैं, जैसे कि:—किसी को गंडमाल रोग होता है, किसी को पागलपन या सन्निपात होता है, किसी को आंखों का रोग तो किसी को शरीर की जडताका रोग, किसी को अंगों की हीनता का दोष तो किसी को कुबड़ेपन का दोष, किसी को

पेट का दर्द, तो किसी को गूंगापन, किसी को सूजन, अति भूख की वेदना, कंपनवायु, पीठ का टेढा होकर मुडना, श्लीपद (हाथी के पैर के समान इतना कठोर पैर हो जाता है कि उसे यथेच्छ मोड न सके), मधुमेह, आदि सोलह तो राज रोग होते हैं। और इसके सिवाय शूल आदि अनेक पीड़ायें, घाव आदि दूसरे अनेक भयंकर रोग होते हैं। इन रोगों को पीडाओं से शरीर की क्षीणता और मानसिक पीडा रहा करती है एवं पीडित अवस्था में अन्त में मर भी जाता है। फिर जिसे जीवन भर रोग ही नहीं होते ऐसे देवादि जीवों के पीछे भी जन्म मरण तो होता ही है। क्योंकि किए हुए कर्म कभी निष्फल नहीं जाते। इसलिए प्रज्ञसाधकों को कर्म के फलों को जानकर कर्म के उच्छेदन की ओर दृष्टि रखनी चाहिए।

(७) प्रिय जंबू! रोग, जन्म और मरण के सिवाय सुख, दुःख, भय, शोक, अनिष्टका संयोग, इष्ट का वियोग आदि सब स्थितिओं का आधार भी कर्म फल के ऊपर है। सुन, कर्मवशात् ही जीव (ज्ञानचक्षु मुंद जाने से अज्ञानतिमिर को लेकर)अंधा होकर अंधों की तरह घोर कर्म करके घोर अंधकारमय (नरक आदि घटिया योनिओं में) स्थलों में बार-बार

जन्म लेते हैं, और दारुण दुःख भोगते हैं। इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों ने अनुभव पूर्वक कहा है।

विशेष—कार्य मात्र का कारण होता है। कारण विना एक छोटे से छोटा कार्य भी नहीं हो सकता। यह विश्व का एक अटल नियम है। अमुक जीव को जीवन में अमुक ही योनि, क्षेत्र, स्थल, जाति, कुल, कुटुम्ब, या माता पिता के यहाँ जन्म लेना पड़ता है, उस क्रिया के पीछे इस जीव के पूर्वजन्म के कारण सत्ता में होते ही हैं। यद्यपि यह स्वयं अपने किये हुए पूर्व कर्मों को देख सकने की परिस्थिति में नहीं होता, वहाँ तक इसे अपने ही कर्मों का यह परिणाम है ऐसा ठीक भान न हो यह वनने योग्य है। कई वार तो वर्तमान के कर्मो के परिणामों का भी भान नहीं होता। ऐसा भी कुछ साधकों के लिए हो जाता है, परन्तु इससे क्या ? जो क्रिया होती है, वह अपना फल तो देती ही है। फिर चाहे वह जानकारी से हो या अनजानपन से हो।

जीवन काल में रोग, जन्म, जरा और मरण इतने ही दुःख नहीं होते। पलपल में हमारे सामने उपस्थित होने वाले अनेक प्रश्नों का मूलकारण कर्म है। और वह अपने ही किये कर्म का विपाक-परिणाम रूप है। संचित प्रारब्ध और क्रियमाण इस प्रकार के कर्म के मुख्य तीन विभाग जैन आगम में वर्णन किये गये हैं। संचित अर्थात् एकत्रित रहे हुए कर्म जो कि अभी उदय में आने के लिए तैयार नहीं हुए हैं। प्रारब्ध यानी

उदय में आने की तैयारी वाले कर्म जिन्हें हम भावी के रूपमें भी पहचानते हैं, और क्रियमाण अर्थात् वर्तमान में किये जाने वाले कर्म ।

ऊपर के दो सूत्रों से जो जीवात्मा कर्म का कर्ता है, वही कर्मों के फलों का भोक्ता है ऐसा सिद्धांत भी फलित होता है, और इसी से पुनर्जन्म का सहज समर्थन हो जाता है ।

(८) दो इंद्रियादि जोव, संज्ञी पंचेंद्रियादि जीव, जलकाय के जोव, जलचर जंतु तथा पक्षी आदि ये सब आपस में एक दूसरे को दुःख देते रहते हैं ।

(९) इस रीति से विश्व में महाभय बरत रहा है ।

(१०) संसार में फंसे हुए जीवों को दुःखको कोई परिसीमा हो नहीं है ।

(११) इतना जानते देखते हुए भी मूढ़ मनुष्य काम भोगों में सतत आसक्त होकर निस्सार और क्षणभंगुर शरोर के (मानलिए गए मृगतृष्णा के पानी की तरह) सुख के लिए पाप कर्म का काम करके अपने आप दुःखी होते हैं ।

विशेष—पहले तो सूत्रकार ने ८-९ सूत्र में "**जीवो जीवस्य भक्षकः**" इस मान्यता की भयंकरता का वर्णन करके चूहा, बिल्ली, कुत्ता, हिरन, सिंह आदि जो एक दूसरे जीव को भक्षक बुद्धि से एक दूसरे के प्रति जीते हैं और इसी से

भयग्रस्त रहते है । इसका कारण अज्ञान बताया है । जीव-मात्र में भय एक प्रकार का विशिष्ट स्थान है । इसका कारण उसके हृदय में रहने वाली हिंसक वृत्ति ही है । जितने अंश में हिंसक वृत्ति नष्ट हो जाती है, उतने ही अंश में वह जीव निर्भय बनता है । अहिंसक ही निर्भय हो सकता है, या फिर निर्भय जीव ही अहिंसा का पालन कर सकते हैं। मनुष्य के पास बुद्धिबल और शरीर रचना इतनी अधिक सुन्दर है, कि वह स्वयं निर्भय हो सकता है । परन्तु जब तक आसक्ति और पूर्वग्रहों का पर्दा आगे पड़ा हुआ है, तब तक आत्मश्रद्धा कहाँ से आवे ? मनुष्य अपने विभाव से जितना भयभीत होता है, उतना ही वह वहमी, लालची और पामर हो जाता है। इस तरह के मनुष्य अपनी ही भांति से अपने आप भय की अनेक भूतावलियाँ खड़ी करते हैं, और फिर दूर से देखते ही डर-डर कर चिल्लाते हैं और शांति की खोज में हाथ पांव मारते हैं, परन्तु महापुरुष कहते हैं, कि आदमी स्वयं ही अपना रक्षक बन सकता है। जो भय या दुःख बाहर दिखाई देता है वह बाहर पैदा नहीं हुआ है बल्कि उसका मूल कारण भीतर है।

(१२) तो भी विवेकहीनता के कारण अति-दुःख पानें वाले ये बेचारे अज्ञानी जीव अपनी भूल के परिणाम से शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होने लगें तब चितातुर होकर उसका मूल कारण (भीतर) न खोजकर बाहर के दूसरे निमित्त या जीव सामने क्रूर बन जाते हैं। कई बार चिकित्सा या

प्रतीकार के लिए वे दूसरे जीवों की हिंसा कर डालते हैं, अथवा उन्हें परिताप देते हैं।

(१३) परन्तु ऐसी प्रति क्रिया से कुछ (कर्मोदय होने) से रोग तो मिटते ही नहीं। इसलिए हे मुनिसाधक! तू ऐसी पापवृत्ति न कर। अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को पीडित करना बड़ी भयंकर वस्तु है। इसलिए मुनिसाधक ऐसा काम नहीं करते जिससे दूसरे को पीड़ा हो।

विशेष—मूढता के कारण मूढ भी दुःख से त्रास पाता ही है। दुःख दूर करने के लिए वृथा हाथ पैर मारता है। तो भी दुःख निवारण करने के लिए मूल कारण को न समझने से दुख मिटाने के लिए जाते हुए और दूसरे दुःख खड़े कर लेता है। यहाँ सूत्रकार अज्ञानी की चेष्टा बताकर ज्ञानी साधक को चेतावनी देते हैं कि:—तू ऐसा न कर: क्रोध, मान, माया, लोभ, रोग, दुःख, या जो कुछ आता है वह बाहर से नहीं आता। इसलिए बाहर के शत्रुओं से लड़ना छोड़कर आंतरिक युद्ध करो। जो बाहर के वैरियों को मारते हैं, वे वैरी को नहीं मारते बल्कि अपने आपको ही मारते है, क्योंकि वैर की समाप्ति (शमन) वैर से नहीं होती, प्रेम से होती है। विश्व-बंधुत्व की शिक्षा का लेना ही सब दुःखों से मुक्ति पाने का सरल उपाय है और विश्वबंधुत्व तब ही सध सकता है, जब कि साधक फूल जैसा हलका और सुगंध मय बनकर सबको आकर्षित कर सके।

(१४) (भगवन् ! आपने चित्त शुद्धि के अनेक उपाय बताए हैं। उनमें से ऐसा सरल और सर्वोत्तम उपाय कौनसा है जिसका प्रत्येक साधक आचरण कर सके ? कृपा करके उसे कहें ! यह सुनकर गुरुदेव बोले :—साधना मार्ग के मुमुक्षु ! ध्यानपूर्वक सुन । मैं तुझे पूर्वकृत कार्मों को निवारण करने का उपाय बताता हूं ।)

इस संसार में बहुत से संस्कारी जीव अपने किये कर्मों की परिणति को भोगने के लिए उन-उन कुलों (अलग-अलग स्थलों) में माता पिता के शुक्रवीर्य के संयोग से गर्भरूप में आकर—क्रमपूर्वक परिपक्व अवस्था में आकर, और फिर प्रतिबोध पाकर त्याग अंगीकार करके अनुक्रम से महामुनि के रूप में प्रसिद्ध हुए ।

विशेष—यहाँ त्याग को ही हलके फूल के समान होने का सर्वोत्कृष्ट उपाय बताया है। परन्तु उस त्याग का हेतु क्या है ? यह बात भी बहुत ही बिचारने योग्य है। बोध पाने के बाद ही त्याग जागृत होता है। साथ ही सूत्रकार ने यह भी कह दिया है कि त्याग भी क्रम-पूर्वक और योग्यता के पश्चात् ही उद्भव होना चाहिए। इसे बताने के लिए आगे का सूत्र कहा है।

(१५) जब ऐसे वीर पुरुष त्याग मार्ग में जाने को तैयार होते हैं, तब इनकी वृत्ति की Inclination सच्ची कसौटी होती है। इनके माता-पिता, स्त्री तथा पुत्रादि (मोहजन्य पूर्व संस्कारों को उत्तेजित करने वाले प्रलोभनों को खड़े करके) शोक करते-करते कहते हैं :—हम तुम्हारी इच्छा के अनुसार बर्ताव करेंगे और तुम्हारे प्रीतिपात्र होकर रहेंगे। जो स्नेह की अवगणना करके मां बाप को छोड़ देते हैं, वे कुछ आदर्श मुनि नहीं गिने जाते। और ऐसा मुनि संसार से पार भी नहीं हो सकता।

विशेष—यहाँ यह भाव प्रदर्शित होता है, कि माता-पिता का प्रेम और ऋणानुबन्धों को यथार्थ जानकर जो साधक सच्चे वैराग्य पूर्वक माता पिता के हृदय को जीत कर उन पर अपने सच्चरित्र का प्रभाव डाल कर त्याग को अङ्गीकार करता है, वही सांगोपांग पार उतर सकता है। जो गृहस्थाश्रम में भी आदर्शरूप नहीं, वह त्याग जैसे महा बोझ को किस तरह वहन कर सकेगा।

जैन दर्शनों में गृहस्थ साधक और भिक्षु साधक दोनों के लिए त्याग पर पूर्ण बल दिया है, उसके पीछे कोई तत्व अवश्य है। अनासक्ति की साधना पदार्थों के त्याग के विना सम्पूर्ण रीति से सफल होना कठिन है। ज्ञानियों ने ऐसा कुछ अनुभव करने के पश्चात ही त्याग मार्ग की वृत्ति को विकास के

मार्ग के रूप में माना है, भोग और अनासक्ति ये दोनों साथ साथ तो किसी अपवादित असाधारण व्यक्ति को ही सहज से प्राप्त हो सकते हैं। अर्थात् त्याग आवश्यक है। आसक्ति के निमित्तों से दूर रह कर अनासक्ति की साधना करने का प्रयत्न करना त्याग मार्ग है।

इसलिए यहाँ माता पिता, स्त्री, स्नेही या कुटुम्बीजनों के वास्तविक स्नेह की अवगणना की बात नहीं है। एवं घृणाजन्य सम्बन्ध त्याग की भी यह बात नहीं है; क्योंकि ऐसा त्याग आवेश के चले जाने पर ही विरम जाता है। फिर जो साधक ऋणानुबंध और कर्तव्य के लिए ही स्नेह सम्बन्ध रखता है वह स्नेह अपना और पराया इनमें से किसी का पतन नहीं करता। परन्तु जो स्नेह कर्तव्य के बहाने के नीचे केवल मोह और वासना की वृद्धि करता है, वह अपना और परका कुछ भी विकास नहीं साध सकता। यहाँ सम्बन्ध त्याग की बात मोह त्याग की भावना का अनुलक्ष्य पूर्वक है। इस रहस्य को शायद कोई अपमानित न कर डाले। इसी से अब सूत्रकार कहते हैं कि :—

(१६) ऐसे समय में यदि कोई आदमी अपरिपक्व वैराग्य वाला होता है वह (उनके मन का यथार्थ समाधान करके) मोह से अलग रह सकता है। उसके हृदय में आत्म विकास की दृढ़ प्रतीति होने से उस मोहजन्य सम्बन्ध में रच पच नहीं सकता। प्रत्येक

साधक को यह बात अच्छे प्रकार जानकर ऐसे विवेक की उपासना करना सीखना चाहिए।

विशेष—इस सूत्र से यह फलित होता है, कि मोह हो संसार को बढ़ाने और बन्धन का कारणभूत है इसलिए प्रत्येक सम्बन्ध से मोह छूट जाना चाहिए। अनुभव भी यही कहता है कि विश्व में रहने वाले व्यक्ति विश्व के सम्बन्ध से नहीं छूट सकते और न ही छूट सकेंगे। फिर चाहे वे पूर्ण त्यागी हों या अणत्यागी। कारण खान, पान तथा साधन सामग्री पाने को इसे भी जरूरत होने से लोक संसर्ग में आना अनिवार्य बन जाता है। इसलिए मात्र इस सम्बन्ध में रही हुई वासना और मोह को छोड़ना है, सम्बन्ध नहीं। यह अशुद्धि जितनी सहज रीति से छूट जाय, उतने ही अंश में वैराग्य उत्पन्न हुआ गिना जाता है।

उपसंहार—शक्ति की कमी और विचार का अभाव पूर्वग्रह का परिहार करने से रोकते हैं। पूर्व-ग्रह के परिहार के विना विकास का द्वार नहीं खुलता। ज्ञानी पुरुषों का यह द्वार खुल जाने से उनको पद पद में नवीनता दृष्टिगत होती है।

जो कुछ निर्माण हुआ है, वह कर्मों का परिणाम मात्र है। जो भय या दुःख बाहर दीखता है, उसका कारण बाहर नहीं है। बाहर का प्रतीकार दुःख और

भय इन दोनों को निमन्त्रण देता है। साधक की साधना का पहला बीज पूर्वग्रहों का त्याग है। उसके द्वारा हृदय की शुद्धि होती है, और अन्तःकरण में ज्ञान के किरण प्रवेश करके उद्योत करते हैं। संयम और त्याग के प्रति प्रेम की स्फुरणा होती है और उत्साह, प्रेमभाव और सावधानता, अप्रमत्तता आसक्ति आदि के दुःखद परिणामों की प्रतिक्रिया दुःख भोगे विना दूसरी रीति से शक्य नहीं है। इसलिये धैर्य धारण किए विना छुटकारा नहीं है। विकास का मार्ग तो सरल है, तो भी वह केवल झंखना से नहीं मिलता। वह तो पुरुषार्थ से ही फलता है।

और इस रीति से जो साधक ऊपर के गुणों में परिपक्व होकर साधना में दृढ़ रहता है। वही साधक उस साधना में पार उतरता है।

इस प्रकार कहता हूँ

धूत अध्ययन का पहला उद्देशक समाप्त।

दूसरा उद्देशक—

सर्वोदय का सरलमार्ग-स्वार्पण

कर्मों को धोने के मार्ग में पूर्वग्रहों का त्याग सबसे पहले होना चाहिए, ऐसा सूत्रकार ने पहले उद्देशक में प्रतिपादित किया है, और इस पूर्वग्रह के त्याग के उपरान्त यहाँ कुछ नवीन है—जगत में स्वयं जिस मार्ग पर चल रहा है उसकी अपेक्षा और भी कोई सुख का मार्ग है, ऐसा भान उनके जीवन के जीवन बीत जायं तब भी नहीं होता।

पूर्वग्रहों को छोड़ देने में भी बल की आवश्यकता होती है, क्योंकि जड़ के संसर्ग का जितना प्रभाव हो उतने प्रमाण में जीव मात्र में स्थितिस्थापकता के संस्कार दृढ़ होते हैं। मानव जीवन प्राप्त होने से पहले जिन-जिन गतियों और स्थितियों में जीव विकास पाता आया है, उनमें उसे स्थितिस्थापकता का परि-हार करने की अनुकूलता, योग्यता या अवसर नहीं

मिला क्योंकि वहाँ बौद्धिक विकास कुण्ठित हो कर प्रकृति के नियम को अनिच्छा से भी आधीन रहना अनिवार्य होने से उसका प्रत्येक कार्य उसी ढंग से चलता है ।

मानव जीवन में उसे सब अनुकूलताएँ मिली हैं । नवसर्जन कर सकने वाली बुद्धि का सुन्दर तत्व और नव-निर्माण करने वाले पुरुषार्थ का अमोघ साधन भी उसे मिला है, परन्तु स्थितिस्थापकता के पूर्व रूढ़ होने वाले संस्कारों के कारण मानव जाति का महा वर्ग इस अवसर का लाभ नहीं ले सकता । यह स्वयं जिस स्थिति में, जिस गति में, जिस कुल में या जिस धर्म में जन्म लेता है. वह अपने को परम्परागत मिले हुए संस्कारों के अनुसार जीवन बिताता है और वातावरण तथा संयोगों के आधीन होकर गतानुगतिक गति करता है ।

साधना मार्ग में आने की भावना तब ही जागती है, जब उसे ज्ञात हो कि मेरे लिए जो कुछ मार्ग होना चाहिए वह मुझे मेरी अपनी शक्ति को खोज कर निश्चित करना चाहिए । यह जानकर अपनी विवेक बुद्धि द्वारा वह उस दूसरे मार्ग या रीति को पसन्द करके जो उसके अपने लिए योग्य हो, उसे स्वीकार

करता है और स्वीकार करने के पश्चात् साधक को किस रीति से बर्ताव करना है, उसे सूत्रकार अब इस उद्देशक में बताना चाहते हैं।

साधना मार्ग को कवल स्वीकार कर लेने से ही कुछ काम नहीं बनता बल्कि साधना मार्ग में पदार्पण करने के अनन्तर तो प्रतिपल वृत्ति और विकल्पों से सावधान रहना होता है, परन्तु बहुत से साधक इस बात को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। साधना मार्ग में लगने से पहले उनमें जो जिज्ञासा, पुरुषार्थ, निरभिमानता और जागरूकता होती है, वह साधना मार्ग को स्वीकार करने के बाद थोड़े ही समय में समाप्त होती हुई देखते हैं। ऐसे विकट समय में ज्यों-ज्यों वह साधक शिथिल होता जाता है त्यों-त्यों धीरे धीरे पूर्व सम्बन्ध और पहले अनुभूत कामभोगों की वासना को मारने वाले विष का उस पर प्रभाव होने लगता है। ऐसे समय साधक यदि जागृत होने के बदले 'इसमें क्या है' ऐसी लापरवाही करता है, उसके ऊपर दंभ का पिंजर चढ़ाने लगे, और आन्तरिक पतन के मार्ग को खोलता जाय, तो दूसरों की दृष्टि में वह त्यागी वीर दीखते हुए भी वृत्ति में पामर (Mean) तुच्छ बनता जाता है, और अपनी थोड़ी सी असाव-

धानता से भयानक पतन मोल ले लेता है। इसलिए वीर साधक को भी नियमों की दृढ़ता का कवच (Armour) सतत धारण कर रखना चाहिए। चलते हुए प्राकृतिक द्वंद्व में इसकी विशेष आवश्यकता है।

गुरुदेव बोले:—

(१) इस अखिल विश्व की चंचलता तथा आतुरता के रूप को समझकर माता पिता तथा सगे स्नेहियों के पूर्व संयोग (पूर्वमोहक सम्बन्ध) को छोड़कर तथा सच्ची शान्ति प्राप्त करने के साधना मार्ग में प्रवेश करके, ब्रह्मचर्य (आत्म तत्व को चर्या) में निवास करने वाले बहुत से मुनि साधक या गृहस्थ साधक अपने स्वीकार किए हुए धर्म के उत्तरदायित्व को जानते हुए भी किसी पूर्व के कुसंस्कारों के उदय के आधीन होकर मोह जाल में फँस जाते हैं और सदाचार के मार्ग को छोड़ देते हैं। इसी प्रकार मुनि पक्ष में देखें, तो साधना मार्ग में आने वाले प्रलोभनों को न पचा सकने से वस्त्र, पात्र, कंबल तथा रजोहरणादिक (श्रमण के चिह्न या उपकरण) छोड़कर भ्रष्ट होते हुए, काम भोगों में (सुख की भाँति से) एकान्त आसक्त होते हैं और अतिआसक्ति से भटककर मर जाते हैं। परन्तु कुछ

समय में इस क्षणभंगुर शरीर से अलग पड़ने के पश्चात् ऐसे पुरुष को अनन्तकाल तक ऐसी सामग्री फिर मिलना कठिन है। इससे वे बेचारे इस रीति से काम भोग में अतृप्त रहने से फिर दुखमय जीवन बिताकर संसार में चक्कर ही काटते हैं।

विशेष—गृहस्थ साधक और भिक्षु साधक इन दोनों का उद्देश एक ही है। केवल अन्तर इतना ही है कि पहले की शक्ति की परिमितता के कारण मर्यादित त्याग है, तब दूसरे की शक्ति के विकास को लेकर पूर्ण त्याग है। इससे सूत्रकार दोनों की बात ध्यान में रखकर उपरोक्त सूत्र कहते हैं, और इसमें वसु, अणुवसु (त्यागी और गृहस्थ त्यागी) पद भी स्पष्ट रखते हैं। फिर 'पुत्रादि के सम्बन्ध को छोड़कर" जब सूत्र में यह अर्थ आता है, तब बहुत से आदमी संदेह में पड़ जाते हैं, और इसका कारण यह है कि स्त्री पुत्रादि का सम्बन्ध छूट जाना अर्थात् गृहस्थाश्रम का छूट जाना, और उस सम्बन्ध को जोडना अर्थात् गृहस्थाश्रम का आरम्भ करना आज के लोगों के मनों में ऐसी मान्यता घर कर गई है। इस मान्यता को लेकर गृहस्थ संयमी या त्यागी हो सके, साधनामार्ग में लग सके, यह बात भी हम लोगों को नई ही लगती है। ऐसा होने में एक तो संयम, त्याग और साधना के मालिक अर्थ की असमझ और दूसरे रूढ़ि से पकडी हुई मान्यता का विना बिचारे अनुकरण ही कारण हैं। इससे यह सब पहले प्रसंग में नया लगना कुछ अस्वाभाविक नहीं

है, परन्तु नया लगे तो भी सार को समझे विना एक सत्यार्थी का छुटकारा कहाँ है ?

यहां सूत्रकार ने "स्त्री पुत्रादि के पूर्व संयोगों को छोड-कर" ऐसा वाक्य लिया है इसका अर्थ 'मोह-सम्बन्ध छोड़कर' है, कर्तव्य सम्बन्ध छोडकर नहीं। उलटा जब कर्तव्य सम्बन्ध का विकास होता है, तब अपने आप ही त्याग हो जाता है, त्याग में तो संकुचितताका त्याग करके सारे विश्व का स्वीकार ही है। एक त्यागीं केवल माता या स्त्री को छोड़ता है। इसका अर्थ तो यह है, कि अब यह संकीर्णता तथा मोह संबंध को छोड़कर विश्व के समस्त व्यक्तियों के साथ निर्मल संबंध बाँधता है। यहां गृहस्थ साधक को लगती बात हैं।

आजकल गृहस्थ साधक स्त्री पुरुष का संबंध यानी केवल शरीर भोग संबंध समझते हैं, और माता पिता का संबंध रक्षण पोषण करने को क्रिया संबंध मानते हैं। परन्तु शास्त्र-कार के कथनानुसार ये सब स्वार्थी और मौहिक संबंध हैं, कर्तव्य संबंध नहीं। गृहस्थसाधक जब साधना मार्ग में लगता हैं तब इसे इन सब संबंधों में से वासना और लालसा के तत्वों को दूर करके सबके साथ कर्तव्य संबंध जोड़ना चाहिए। कर्तव्य संबंध में विकास है, पतन नहीं।

गृहस्थ साधक यदि अपनी पत्नी, कुटुंबादि के वैभव या पदार्थों में मोह संबंध बांधे तो पतन ही होगा। वास्तव में गृहस्थाश्रम का हेतु मोहसंबंध बांधने का नहीं है बल्कि केवल

कर्तव्य संबंध बांधना है। कर्तव्य संबंध में पतन नहीं है, क्योंकि उसमें मोह या पागलपन न होने के कारण विश्व के किसी भी व्यक्ति को बाधा न पहुँचाते हुए उस संबंध का निभाव होना संभव है। परंतु मोह संबंध में ऐसा नहीं है। मोह संबन्ध में तो एक व्यक्ति को अपना स्वार्थ साधन करते हुए समस्त विश्व के अहित की भी पर्वाह नहीं रहती और ऐसी घटनाएँ कई बार होती हैं क्योंकि कर्तव्य संबंध में जो विवेक बुद्धि जागृत होती है, वह मोह संबंध में नहीं।

इतना कहकर सूत्रकार कहते हैं कि मैंने किसका त्याग किया है; और किसलिए किया है, इस उद्देश को भूल जाने से इन दोनों में से बहुत से साधक फिर पूर्व वेग के वश होकर साधना को छोड़ देते हैं। इस प्रकार रूपक बनने के दो कारण हैं। पहला तो मोह सम्बन्ध किसलिए छोड़ा गया है उसकी स्मृति चली जाने से मोह सम्बन्ध छोड़ना या पदार्थों का छोड़ना, बस इतना संकुचित अर्थ होता है। परन्तु वास्तव में पदार्थों को विषय भोग की दृष्टि से उपयोग करना छोड़ देना है। इसका यह व्यापक अर्थ है, क्योंकि वासना से जब पदार्थों का उपयोग होता है, तब पदार्थ लाभ के बदले हानि पैदा करता है, संस्कार के बदले विकार बढ़ाता है, और सुख के स्थान पर दुःख उत्पन्न करता है। इस भावना से या भोग की भावना दृष्टि से जो जो पदार्थ काम में आते हैं, वे सब त्याज्य हो जाते हैं। यह स्मृति स्थिर रहे तो पूर्व अध्यास (काम भोग से सुख मिलता है ऐसे पहले पुष्ट किए गए

संस्कार) अपना बल नहीं कर सकते। और साधना से गिरने का दूसरा कारण पूर्व अध्यासों का खिंचाव होता है, तब उनको शमाने के लिए पुरुषार्थ की कमी है इन दो कारणों से प्रतिज्ञा की आवश्यकता अनिवार्य रूप से सिद्ध होती है। तब भी यहां प्रतिज्ञा यानी प्राणों की बली दे कर भी नियमों में अचल होकर टिका रहने का दृढ संकल्प रखने का अर्थ लेना है, क्योंकि जो साधक प्रतिज्ञा को ही त्याग समझ बैठे हैं, वे साधक प्रतिज्ञा लिए पीछे असावधान हो जाते हैं, और शुद्ध हेतु से गिर जाते हैं।

(२) बहुत से भव्य पुरुष, संस्कारी साधक, धर्म को पाकर तथा त्याग को अंगीकार करके पहले से सावधान रहकर जगत के किसी भी प्रपंच में न फँसकर ली हुई प्रतिज्ञा में दृढ होकर रहते हैं।

विशेष—जो भव्य पुरुष साधक पलपल में उपस्थित होने वाले प्रसंगों में जागरूक होते हैं, वे ही पार पा सकते हैं। इस प्रकार दिशा सूचन किया है। काम-वृत्तिपर विजय पाये विना कामविकार साध्य नहीं है। भोग की आसक्ति के त्याग के विना त्याग लभ्य नहीं है। यों पहले से ही समझ बूझकर जो साधक साधनामें कायम रहता है, वह साधक त्याग द्वारा अनासक्ति के हेतु को जीवन के साथ ओतप्रोत कर सकता है।

(३) जो साधक यह मानता है, कि आसक्ति ही दुःखका कारण है और यह जानकर जो उससे बिल्कुल अलग रहता है, वही संयमी महामुनि होता है।

विशेष—सब दुःखों का मूल आसक्ति है, इससे विपरीत अनासक्ति भाव में रमण करने के उपरोक्त सब प्रयोग हैं। जीवन में अनासक्ति का ताना बाना तनने के बाद दुःख चला जाता है और सुख अपने आप आता है। इस सूत्र में आसक्ति से परको महामुनि या संयमी बताकर सूत्रकार महात्मा ने जैन दर्शन की गुण पूजा को अच्छे प्रकार व्यक्त करदिया है। इसके द्वारा यह ज्ञान भी होता है, कि बाहर के चिन्ह या क्रियाकांड की मर्यादा कितनी है।

(४) जंबू ! साधक सब प्रपंचों का त्याग करके 'मेरा कोई नहीं है' 'मैं अकेला हूं', ऐसी एकांत (राग द्वेष रहित) भावना रखकर पापक्रिया से निवृत्त होकर त्यागी के आचार में उपयोग पूर्वक रमण करें, और द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार से मुंडित होकर अचेल (वस्त्रादि सामग्री में अपरिग्रही) होकर संयम में उत्साह पूर्वक रहे और अतिपरिमित आहार लेकर सहज तपश्चरण करता रहे।

विशेष—ऊपर के सूत्र का कोई उलटा अर्थ लगाकर क्रियाशून्य न बन जाय। इस सूत्र में इसका क्रियात्मक स्वरूप

दिया है और साधना मार्ग में लगने के पश्चात् पदार्थ त्याग की प्रतिज्ञा में दृढ रहने की सूचना दी है, त्याग की आराधना के रचनात्मक उपाय बताये हैं। जो कि संक्षिप्त रूप से इस प्रकार हैं।

(१) एकांत वृत्तिकी जिज्ञासा-ऐसी जिज्ञासा से स्वावलंबीपन और मोहसंबन्धका त्याग व्यवहार्य बन जाता है। परन्तु "मेरा कोई नहीं है" ऐसी भावना वाला साधक दूसरे की सेवा नहीं ले सकता। त्याग करने वाला साधक किसी से कुछ न चाहेगा। बल्कि औरों को जिसपदार्थ की आवश्यकता हो, यदि वह अपने पाससे हो तो दे देता है। त्याग का अर्थ कर्तव्य का त्याग नहीं है, बल्कि स्वार्थ त्याग लेना चाहिए।

(२) उपयोगमय---ध्येययुक्त जीवन। ध्येययुक्त जीवन से जीवित रहने वाले की कोई भी क्रिया अयुक्त या परपीडाकारी नहीं होती।

(३) वैराग्य भावना-इस भावना का अधिपति साधक पदार्थ का उपभोग केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही करता है और जीवन को स्वावलंबी और लघुभूत (हलका) बनाता है।

(४) वृत्ति की अचेलकता-और मुंडनवृत्ति की अचेलकता यानी आंतरिक वृत्ति जैसे स्वरूप में हो

ऐसे ही स्वरूप में जगत के सामने रखता है। प्रत्येक वृत्ति में निर्लेपता रक्खे, जैसा हो वैसा बताये। और वृत्ति का मुंडन यानी वृत्ति पर रहे हुए मलिनता के संस्कारों को निकाल बाहर करे। जहां तक वृत्ति खुली न हो जाय, अपने दोषों का ज्ञान न हो जाय, वहां तक मलिन संस्कारों का यथार्थ ध्यान न आवेगा, और वह दूर भी न होंगे। यह क्रिया बडे महत्व की है। इसके अभाव में बहुत से साधक अपनी वृत्ति को दंभ और पाखंडबुद्धि के मुलम्मे से ढँक कर जीवन को पूर्ण करते देखे गये हैं और इस सजावट से दूसरे व्यक्ति आकर्षित होते हैं। इससे साधक को मान पूजा या प्रतिष्ठा का लाभ मिलता है, परंतु इसमें साधक और आकर्षित होने वाले (दोनों) का अहित होता है। विलासकी-चाह करने वाले साधक को सबसे पहले दंभ के ऐसे पर्दे को फाड़डालना चाहिए।

(५) कभी कोई पुरुष, मुनि साधक को (उसके पहले के निंदित कामों की ओर ध्यान दिलाया जा कर अथवा किसी दूसरे कारण से) संबोधन करके असभ्यरीति से कहकर या झूठे आरोप लगाकर इसको निंदा करे अथवा उसके अंगपर आक्रमण करे, मारे, बालखींचे, आदि कष्ट दे, तो भी उस समय

वह वीर साधक, 'अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही यह परिणाम है' यह सोंचकर व्याकुलता करने वाले प्रतिकूल परिषहों का एवं कोई स्तुति करे, मनोहारी पदार्थों का आमंत्रण करे आदि (प्रलोभन) अनुकूल परिषहों को भी समभावसे सहन करे।

विशेष—साधक की भावना उच्चकोटि की होते हुए जीवनव्यापी क्यों नहीं बन सकती। इसके कारण यहाँ बताये हैं। साधनामार्ग में उपस्थित होने वाले परिषह और उपसर्ग दोनों संकट हैं। परिषह स्वेच्छासे स्वजन्य या परजन्य कष्ट हैं। तब उपसर्ग तो किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न होने वाले संकट हैं। निंदा या स्तुति लाभ हानि, सुख तथा दुःख इन दोनों ही स्थितियोंमें समभाव रखना अत्यन्त कठिन है। आपत्तिमें तो बहुतसे साधक पार उतर जाते हैं। इसमें ऐसी भी ध्वनि है कि प्रबल प्रलोभनोंके निमित्तमें भी जो आत्मलक्ष्यी साधक नहीं डिगता, वही साधक साधनाकी सिद्धिमें सांगोपांग पार उतर सकता है।

(६) इसलिए साधको ! इस प्रकार जो दोनों प्रकारके संकटोंको यथार्थ रीतिसे सहकर निष्परिग्रही रहता है और आसक्तिका त्याग करनेके पश्चात् फिर उसमें नहीं फँसता वही वास्तविकरूपसे निर्ग्रंथ मुनि या नग्न साधक कहलाता है।

विशेष—पाँचवें सूत्रमें साधनामार्गकी कठिनाई बताई है। वास्तविकरीतिसे जिसने समभावके योगकी साधना की

है, उसके मनमें तो ये कठिनाइयाँ कुछ हैं ही नहीं। इस सूत्र में यही बताया है क्योंकि जगत्के जीव जिस लोकैषणाके वेगमें वहते हैं उनसे इसका मार्ग बिलकुल निराला है। अर्थात् लोग उसे पागल कहें या लोगोंके अपने पास जो कुछ हो उसे बाहर निकालें या ललचानेका प्रयत्न करें तब भी उसे क्या ? उसे तो यह भी अस्वाभाविक नहीं लगता क्योंकि विश्वके अबाधित नियमका उसे ज्ञान न होनेसे यह स्वयं अपनी वृत्तिको किसी ओर न जाने देकर स्थिर रखता है। परंतु जिनमें पूर्व अध्यासोंके सामने टिकनेकी शक्ति नहीं, शायद वे उस ओर न खिंच जायं ? इसीलिए यहां उन्हें सब प्रकारसे चेतावनी दी है।

(७) आत्मार्थी शिष्य ! तीर्थंकर देवोंने कहा है कि आज्ञा में ही मेरा धर्म अथवा आज्ञा ही मेरा धर्म है। (मेरी आज्ञा का खयाल रखकर ही मेरा धर्म पालन करना चाहिए) इस प्रकार जो साधक आज्ञा को शिरोधार्य करके रहता है, वही साधना के पार पहुँचता है। जंबू ! साधकों के लिए यह कितनी उत्तम कोटि की आज्ञा है।

विशेष—इस उद्देशक में छः सूत्र तक ज्ञानमार्ग और सत्कर्मके मार्ग बताये हैं। आगे स्वअर्पणका सरलमार्गकहा है।

'आज्ञासे मेरे धर्मका पालन किया जाय' इस कथन के पीछे बहुत बड़ा रहस्य है। विकल्प और शंकाओंसे जिसका अंतःकरण घिरा हुआ है ऐसा साधक संसारके प्रत्येक व्यक्ति की अलग अलग मान्यता भिन्न-भिन्न मत और पृथक् पृथक्

धर्मोंको देखकर शायद अधिक से अधिक उलझनमें न पड़जाय ! इसलिए यहाँ आज्ञापालनमें ही धर्म बताया है। भक्तिमार्गकी जो अर्पणता की भावना है, वह वहाँ स्वअर्पणताका प्रतिपादन करती है। इस मार्ग पर चलने वाले साधकको बुद्धिके विकल्प या तर्क वितर्क नहीं सता सकते। समभाव प्रधान साधकमें अर्पणताका तत्व खिल जानेसे इसके लिए यह मार्ग अतिसरल और साधक सिद्ध होता है। परंतु वह जहाँ तहाँ अर्पण न हो जाय इसलिए यहाँ सर्वज्ञदेवकी आज्ञामें अर्पण होनेकी सूचना की है और वह ठीक ही है।

जिस ज्ञानी पुरुषने साधकके मार्गकी पूर्ण चिकित्सा की है, वही ज्ञानदेनेका अधिकारी है। यह बात तो आगे स्पष्ट की जा चुकी है अर्थात् इसमें संदेह रखनेका कोई कारण नहीं रहता, कि इस रीतिसे सत्पुरुषकी आज्ञा साधकका परम अवलंवन बन सकता है और आज्ञाकी आधीनता आनेपर साधक का हलका फुलका फूल सा हो जाना स्वाभाविक है।

परंतु "मैं भी कुछ हूं" इस प्रकारका कांटा इस संसारके सामान्यकोटिके मनुष्योंमें भी है। उसके निकल जाने पर ही आज्ञाकी आधीनता आती है। यद्यपि इस स्थितिमें पहले साधकको अपना व्यक्तित्व छिन जानेका भय लगता है, परंतु असलमें तो उसमें व्यक्तित्वका विकास है। जिस साधकको अपने व्यक्तित्वका सच्चा भान हुआ है, उसमें तो ऐसा ज्ञान सहज प्रगट हो जाता है कि वह स्वयं विश्व जैसे महासागर का एक अविभक्त बिंदु है, और इतना समझनेके बाद उसे फिर किसका भय ? उलटा महासागरमें अर्पण होनेका उसे

आनंद आयेगा। परंतु जिसे व्यक्तित्वका ज्ञान नहीं होता उसके लिए तो 'मैं कुछ हूं' यह ज्ञान केवल शरीरके आसपास की यंत्र सामग्री और संकीर्णताको लेकर ही उत्पन्न होता है। और उसकेलिए तो वह शल्य अर्थात् काँटेका ही काम करता है। इसलिए इस शल्यको निकाले विना छुटकारा ही नहीं हैं। विश्वबंधुत्वकी भावना भी इस शल्यके दूर होने पर ही जागृत होती है।

(८) भगवन् ! क्या वीतरागदेव स्वयं आज्ञा करते होंगे ? सर्वथा इच्छा से रहित रहने वाले बंधन मुक्त पुरुष किसी को किसलिये आज्ञा देंगे ? श्री जंबू ने यह पूछा।

गुरुदेव बोले—प्रिय जंबू ! उन महापुरुषोंने साधना-सिद्धि करनेके पश्चात् अपने संपूर्ण अनुभव जगतके कल्याण के लिए प्रकट किए हैं, उस मार्गमें गमन करना ही उन महापुरुषोंकी आज्ञाकी आराधना है) इसलिए विशेषज्ञ साधकको संयममार्गमें लीन रहकर हेतुपूर्वक कर्मनाश करनेवाली धर्मक्रियाका आचरण करना चाहिए। धर्मका यथार्थ स्वरुप जाननेके बाद ही धर्मक्रिया करने से कर्मोंका क्षय होता है।

विशेष—सत्पुरुषोंकी आज्ञाके आधीन होनेमें कुछ हानि नहीं होती। इस सूत्रमें इसी विषयकी प्रतीति कराई है। जिस

क्रियासे पापकी वृत्ति रुक जाती है, और आत्मशत्रुओंपर विजय प्राप्त होता है, वही सच्ची धर्मक्रिया है और ऐसी धर्मक्रियाकी आराधना में ही ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञाकी आराधना है।

(९) जंबू ! बहुतसे प्रतिमाधारी महर्षि साधकों को अमुक समयकेलिए एकाकी विचरनेकी प्रतिज्ञा होती है। ऐसे प्रतिमाधारी मुनियोंको सामान्य या विशेषका भेदभाव रक्खे विना प्रत्येक कुलमें से शुद्ध भिक्षा लेनी चाहिए और प्राप्त हुई भिक्षा सुन्दर हो या असुन्दर, तो भी उसमें सुन्दरता या असुन्दरताका आरोप किये विना समभावसे उसका उपयोग करे। एवं एकाकी विचरते हुए मार्गमें कुछ जंगली पशुओं द्वारा किसी प्रकारका उपद्रव हो तो, उस समय भी धैर्यपूर्वक उस प्रसंग को समभावसे सहन करे।

विशेष—अर्पणताका उद्देश किसी व्यक्तिमें बंध जाना अथवा किसी स्थानमें रहना नहीं है। बल्कि वीतराग पुरुषोंके अनुभूत मार्गमें चलनेका प्रयास करना ही स्वार्पणका हेतु है।

भिक्षु जीवनमें कई साधक प्रतिमा (उचित-ठीक तरहकी प्रतिज्ञा) धारण करते हैं। उसमें अमुक समय तक अकेला विचरना होता है। यह क्रिया लगभग दो वर्ष तक की जाती है। ऐसी प्रतिमाके १२ भेद हैं। उसके विशेष अधिकार और

विधिनियम दशाश्रुतस्कंध आदि सूत्रोंमें वर्णित हैं। इसलिए इनका वर्णन यहां अभी नहीं दिया जायगा। परन्तु यह एक-चर्या स्वच्छंदी या दोषजन्य न हो, तो प्रशंसनीय है। यहाँ सूत्रकार यही भाव प्रगट करना चाहते हैं।

स्याद्वादका रचनात्मक स्वरूप यहाँ ही समझाया है। स्याद्वाद दर्शन किसी भी पदार्थको पदार्थकी दृष्टिसे बुरा नहीं कहता। पदार्थ स्वयं निन्द्य नहीं है, बल्कि वह तो वृत्तिकी अशुद्धिसे ही निंद्य है। पदार्थ निंद्य लगता है, तो वह भी वृत्ति के कारणसे ही है। यह बात इस सूत्रसे स्पष्ट हो जाती है। कोई यह प्रश्न करे कि यहाँ एकचर्या का उल्लेख किसलिए है? सूत्रकार कहते हैं, कि आज्ञाकी आधीनता अर्थात् गुरुकुल में ही रहना यह कुछ एकांत नहीं है। गुरुकुलका निवास भी विकास की दृष्टि से है। और त्याग भी विकासकी दृष्टिसे हो सकता है। गुरुकुलका वास या उसके त्यागका यहाँ आग्रह नहीं है। बल्कि विकासका आग्रह है। केवल आशयकी उच्चता और योग्यता लक्ष्यगत होनी चाहिए।

उपसंहार—पूर्वसंबंधकी शुद्धिके बाद ही त्यागकी आराधना की जा सकती है। नियमोंकी वाडसे उस की रक्षा होती है, और आसक्तिको पूरे रूप से जीतना ही त्यागकी सिद्धि गिनी जाती है।

अनासक्ति की शिक्षा पानेकेलिए एकांतवृत्ति की जिज्ञासा, उपयोगमय (ध्येययुक्त) जीवन, वैराग्य-

पूर्णभावना और वृत्तिकी नग्नता तथा मुंडन ये चार मुख्य उपाय हैं।

मोहसंबंध विकास को रोकता है, कर्तव्य संबंध विकासकी साधना को पूरा करता है।

कामवृत्ति पर विजय पाये विना कामविकार साध्य नहीं।

आसक्ति ही सब दुःखों का मूल है।

विशुद्धि, पवित्रता, और प्रतिभाकी अभिलाषा हो, तो जैसी वृत्ति हो, वैसा ही दिखानेका प्रयत्न करो।

वृत्तिओंको प्रगट करनेवाला पातकी भी प्रभुता पाता है।

स्वार्पणताका मार्ग सर्वश्रेष्ठ है।

ज्ञानीपुरुषोंके आशय को समझकर मन, वचन और बर्तावको तदनुकूल बनाना ही स्वार्पण है।

इस प्रकार कहता हूं।

धूत अध्ययन का दूसरा उद्देशक समाप्त।

———

तीसरा उद्देशक

देह दमन और दिव्यता

धूत अध्ययनमें पूर्वग्रहका परिहार और स्वार्पण को उपयोगियाके दो उद्देशक बतानेके पश्चात् अब सूत्रकार तीसरे उद्देशकमें क्रियात्मक तपश्चर्याका वर्णन करते हैं। वृत्तिको वशमें करनेमें शारीरिक तपका महत्व भी कुछ कम नहीं है। शारीरिक तप मानसिक तपकेलिए अनिवार्य एवं उपयोगी है। इस में अनुभवी पुरुषोंको कोई शंका नहीं है। परन्तु यह शारीरिक तप शक्तिके अनुसार और विषयरस-वासना विजय के हेतुपूर्वक होना चाहिए।

जिस रीतिसे विलास भोगोंसे प्रतिबद्ध (व्यसनी) शरीर, आलस्य, प्रमाद और मिथ्याचारसे साधनका पतन करता है, उसी रीतिकी शक्तिसे साधक और क्रम से विरुद्ध की गई तपश्चर्या भी देह रूपी साधना

को असमयमें चूरा चूरा कर डालता है। तपश्चर्या का हेतु शरीरको कसना है, मन और इन्द्रियोंके आवेशको उपशमा देना है. शरीरको निर्बल या शिथिल बनाना नहीं। इसी दृष्टिसे विविध तपको आलोचना करते हुए।

गुरुदेव बोलेः–

(१) सद्धर्मका आराधक और पवित्र चरित्रको पालनेवाला मुनि साधक धर्मोंपकरणोंके सिवाय सब पदार्थोंका त्याग करता है।

विशेष—जिसने वास्तविक धर्म को जान लिया है और जिसे धर्मके अचल नियममें अटूट श्रद्धा है, वह आवश्यक उपकरणके अतिरिक्त किसी वस्तुका भी उपयोग नहीं कर सकता, न आचरण ही कर सकता। और न उसे संग्रह करने की ही आवश्यकता है दूसरी रीतिसे कहें तो यह भी कहा जा सकता है, जिसने अपनी आवश्यकताओंका संकोच(कम)कर दिया है, उसने ही धर्मको यथार्थरूपसे जाना है। धर्म कुछ अमक स्थान पर पालन करनेकी या(अमुक)शब्दों द्वारा उच्चारण करनेकी वस्तु नहीं है। बल्कि धर्म तो जीवन का अंग बनाने तथा उसमें तन्मय होनेकी वस्तु है। यह कहकर विश्व संबन्धके उत्तरदायित्वका भान कराया है। पुण्य या पुरुषार्थ से यह मिला है, इसका उपयोग क्यों न किया जाय ? शक्ति होते हुए स्वार्थ को क्यों न पूरा किया जाय ? इस

प्रकार कहनेवालोंको यह सूत्र रोकता है। प्रत्येक व्यक्तिको अपनेलिए सम्प्राप्त या होनेवाले साधनोंकी मर्यादा समझकर ही उपयोग करना चाहिए, और जिसके पास मर्यादासे अधिक है, उसे उसका उपयोग विश्वके लिए खुला छोड़ देना चाहिए। मनुष्य पदार्थों का मालिक नहीं है, मात्र विनिमय करने वाला है। उसकी बुद्धि, कला और शक्ति पदार्थोंकी सुन्दर और सफल व्यवस्थाकेलिए बने हैं। इनका जितना दुरुपयोग होता है उतना जगत में दुःख बढता है, यह स्वाभाविक है। परन्तु आज तो स्वामित्व मिलकियत की भावनासे मर्यादाकी सीमाको भी उल्लंघन कर दिया है। इसीसे जगत अत्यन्त दुखी है।

(२) जो मुनि अल्पवस्त्रादि (उपयोग पूर्तिके साधन) रखता है अथवा बिलकुल वस्त्ररहित रहता है, ऐसे मुनिको यह चिंता नहीं रहती, कि जैसे "मेरे कपड़े फट गए हैं, मुझे दूसरा नया कपड़ा लाना है, सुई डोरा लाना है, वस्त्र जोड़ना है, सीना है, बढाना है, तोड़ना-फाड़ना है, पहनना है, लपेटना है।"

विशेष—मुनि साधककेलिए उत्तरदायित्व सबसे बढ़ कर वात है, क्योंकि इसे तो साधन पर भी ममत्व न होना चाहिए। यही समझानेकेलिए अल्पवस्त्र अथवा वस्त्र रहित की भावना प्रस्तुत की है। यद्यपि आज मुनिओंकेलिए वस्त्र रहित रहना (होना) लोकजीवनकी दृष्टि से अव्यवहार्य

लगता है, परन्तु पूर्वकालमें जो मुनि साधक वनवासी या गुफावासी थे ऐसे जिनकल्पी मुनिवरोंको सम्बोधन करके सूत्रकार यह कथन करते हैं। आज के जैनमुनि वसतीमें रहते हैं, इसके लिए किसीको कुछ भी आग्रह नहीं है, परन्तु यहां तो सूत्रके पीछे की भावना खास विचारने योग्य है। अल्पवस्त्र या निर्वस्त्र की भावना के पीछे केवल उपाधि घटाने का हेतु है। यह हेतु फलित हो गया हो, तो साधन पूर्तिकेलिए जितने वस्त्र हों, उसमें कोई बाधा नहीं है, और यदि फलित न हुआ हो, तो निर्वस्त्र रहने में कष्ट सहन की दृष्टि से कुछ विशेषता लगती हो, तो भी वह विशेषता त्यागकी दृष्टिसे नगण्य या साधारण है।

प्रकृति के अनुकूल जितना हो जाय उतना ही सहज बन जाता है। ऐसी सहज प्रवृत्तिवाले साधक को निर्वस्त्र रहना ज़रा भी कठिन या अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु यह सहजता उसके जीवनकी प्रत्येक क्रियामें ओतप्रोत हो, तब ही वह वास्तविक गिनी जाय, और इसीलिए अब आगेके सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि:—

(३) वस्त्ररहित रहनेवाले साधक मुनियोंको कभी (तृण शय्यापर सोनेके कारण) घासकी सलियाँ या कांटे चुभें, अथवा सर्दी, हवा या ताप लगता हो, अथवा डांस या मच्छर काटते हों, इत्यादि प्रतिकूल (अनिच्छित) परिषह आ पड़ें, तब जो मुनि

साधक अपनी प्रतिज्ञा में अडिग रहकर उन सबको समभाव पूर्वक सहता रहता है, वही सच्चा तपस्वी गिना जाता है।

विशेष—अपवस्त्रपनकी असल कसौटी यही है। एक क्रियाको प्रकृतिके अनुकूल माननेवाला दूसरी क्रिया में न रहता देखा जाय, तो ऐसा नहीं माना जाता, कि वह प्रकृति के नियम को बराबर समझ गया है। देहाध्यास छूटने पर ही निसर्गको सांगोपांग अनुसरण करना सहज हो जाता है। यहां अपवस्त्रत्व का निर्देश भी इसी हेतु से है। **वैसे नग्न होने में कोई विशेषता नहीं है।** बल्कि नग्नताको सहज साध्य बनानेमें विशेषता है। और जो सहजताके पथपर हो उसे तो यह भी सहज है। ऐसे सहज नग्नको सर्दी, गर्मी या पानी से बचनकेलिए दूसरे अप्राकृतिक उपायोंके करनेका मन नहीं होता। डांस और मच्छरोंके डंकोंसे भी उसकी वृत्ति अटल रह सकती है। असलमें इस प्रकारकी सहज तपश्चर्यामें ही समता टिक सकती है जिसमें समता न हो, प्रतीकार वृत्ति हो, वह देहदमनके लाभके बदले केवल हानि ही कर सकता है।

(४) इसलिए जिस आशयसे भगवान्ने यह कहा है, उस पवित्र आशय सहित प्रत्येक साधक समभावपूर्वक बर्ताव करे, और पहले जो जो भव्य महर्षि-साधक बहुत वर्षों तक सतत संयम में रहकर जो जो

तितिक्षा सह गए हैं, उन उनकी ओर दृष्टि बिंदु रक्खें।

विशेष—इस सूत्रमें कहा है, कि "भगवान् ने जो कुछ कहा है, उन वचनोंको विवेक बुद्धिपूर्वक विचार कर आचरण में लाओ" यह वाक्य कहकर साधकोंके प्रति सूत्रकार यह कहना चाहते हैं, कि सब साधक अपनी शक्तिको देखकर क़दम बढ़ायें। कितना सुन्दर मार्ग है ऐसा समझ कर बहुतसे पागलसाधक बिना आगा पीछा देखे छलांग लगा देते हैं, परन्तु उस मार्गसे चलेंजानेके बाद शक्ति समाप्त हो जाने से, वे उलट पाँव चलने लगते हें जो कि अनुचित हैं। इसलिए साधनामार्गमें प्रवेश करनेसे पहले अपनी शक्तिका विचार करना चाहिए।

समर्थ साधकोंको भी अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं,। इसकी याद दिलाकर यह कहा गया है, कि कर्म किसी भी करने वालेको नहीं छोड़ते। जो आदमी कर्म करते समय प्रसन्न रहता है, यदि वह उसी प्रकार कर्मके फलको भोगते समय भी प्रसन्न रहे तब ही वह वीर पुरुष हो सकता है। यहाँ भाव यह है कि कर्मो के फल भोगते समय भी सुखदुःख अपने कियें गये कर्मो का परिणाम मानकर किसी और पर दोषारोपण न करते हुए अपने आत्माको ही सुन्दर बनानेका पुरुषार्थ करना चाहिये।

(५) ज्ञानी साधकोंकी भुजाएँ कृश होती हैं,

इनके शरीरमें माँस और खून बहुत कम होता है। ऐसे मुनि समता भावनासे रागद्वेष तथा कषायरूप श्रेणी का नाश करके क्षमा आदि उच्च गुणों के धारक बनते हैं, और इससे वे संसार समुद्र को तैरकर भवबंधनसे छूटकर पापवृत्तिसे दूर रहनेवाले निरंजन-निर्लेप गिने जाते हैं।

विशेष—इस सूत्रमें यह भावना रक्खी है, कि देहदम की मर्यादाको जानकर यथार्थ तपश्चरण अवश्य करे। जिस ज्ञानका फल जीवनमें परिणमित होता है, वह ज्ञान ऐसा बताया है। पर जिसके हाडमांस सूख गये हों, वही ज्ञानी या मुक्तिका अधिकारी है, शायद कोई यह न मान बैठे। इस पंक्तिसे इतना ही समझना है, कि मोक्षार्थी साधकको शरीर शुश्रूषाका मोह नहीं होता और दीर्घतपश्चर्या करना उसके लिए सहज है, परंतु यही वाक्य लिखकर इसी सूत्रमें सूत्रकार जताते हैं, कि यह सब विवेकपूर्वक सम्पन्न हो, इसलिए कि उसकी सब क्रियाएं हेतुपूर्वक और साहजिक होतीं हैं। उस तपस्वीका शरीर जितना कृश होता है, उसकी वासना भी उतनी ही कृश होती है। उसमें क्रोधादि कषाय-विभाव घटकर और क्षमादि गुण बढ़ते हैं। ऐसे साधक संसारमें होने पर भी संसार-समुद्र से पार हुए जाने जाते हैं। यह कहकर सूत्रकार समझाते हैं, कि संसार कुछ स्वयं बंधन कारक नहीं है, बल्कि रागादिक आंतरिक शत्रुओंके बारे में जो संसार बनता है, वह

बंधनकारक है। इससे यह फलित होता है कि संसारका अंत आंतरिक शत्रुओंके नाश हुए बिना नहीं हो सकता।

(६) जंबू! इस तरह अधिक समयसे संयम मार्गमें रमे रहने वाले, असंयमसे निवृत्त होकर और उत्तरोत्तर प्रशस्त भावमें बरतनेवाले मुनि साधक को क्या संयम मार्ग में होनेवाली अरुचि संयमसे विचलित कर सकती है?

विशेष—क्या विरत, भिक्षु, चिरसंयमा ये तीन विशेषण मुनि साधककेलिए उपयुक्त साधकको भी कुछ अरुचि हो सकती है? ऐसा प्रश्न सूत्रकारने भी यहां किया है। इस प्रश्नके पीछे उनका दृढ अनुभव पूर्वक निश्चय प्रस्तुत करना चाहते हैं। ऐसे सुयोग्य भिक्षु साधकको किसी भी जगह अरुचि नहीं होती। यह दृढ प्रतीति है। और फिर वे यह भी कहना उचित समझते हैं, कि ऐसे भिक्षु को कोई भी प्रलोभन या संकटका प्रसंग छू नहीं सकता। और स्पर्श हो जाय, तो भी उनकी वृत्ति चलायमान नहीं होती। इसी कारण यह भूमिका बहुत ही ऊंची है। इस हद तक पहुँचा हुआ साधक अनासक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ समझा जाता है। असल में यह त्यागके फलका माप बताया है, सुन्दर या असुन्दर प्रसंग साधकके मन पर या कर्म पर कैसा प्रभाव डालते हैं, साधकका विकास क्षेत्र कितना साध्य हुआ है और कितनी दिव्यता पाई है, इसको मापा जा सकता है।

सारांश यह है, कि जिसमें समता है; उसपर अच्छे या बुरे प्रसंग अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते।

(७) इसलिए कहता हूं कि जंबू ! अरुचि ऐसे जागृत और गुणविशिष्ट साधकोंका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती, क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर प्रशस्त भावों की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रशस्त भावनाकी श्रेणीपर चढ़नेवाले साधक (समुद्र के) पानीसे न ढँका जा सके ऐसे सुरक्षित द्वीप(समुद्र के बीच में रहे हुए)के समान हैं।

विशेष—ऐसी ऊँची भूमिकाके योगीजनोंको यहाँ द्वीपकी उपमा दी गई है, जो कि सुघटित ही है। जैसे द्वीप पानीके होते हुए भी पानीके बीचमें रहकर अपना और अन्यका रक्षण अच्छे प्रकार कर सकता है, इसी तरह ऐसे साधक चारों ओर संसारके अनेक रागरंग इसके आसपास फैले हुए हैं, फिर भी पानीमें कमलके समान निर्लेप रहकर औरोंकेलिए स्वाभाविक प्रेरक बन सकते हैं।

(८) इसी प्रकार तीर्थंकर भाषित सद्धर्म भी द्वीप के समान है।

विशेष—यहाँ तीर्थंकर भाषित जैनधर्मको द्वीपकी उपमा देकर इसकी विश्वव्यापकता और नैसर्गिकता सिद्ध की है। बहुतसे थके हुए आदमियोंको जैसे द्वीप आश्वासन दायक

प्रकृतिसिद्ध है, इसी भांति तीर्थंकरभाषित धर्म भी आश्वासन कारक होता है। इसमें विश्वके पतित, पीडित तथा दलित, आदि सब प्राणियोंका समावेश है। धर्मकी यह उदारता प्रत्येक धर्मिष्ठ साधकको विचारने योग्य है। जिसके जीवनमें इतनी उदारता और स्वाभाविकता-साहजिकता आई हो, समझो कि उसीने धर्मका आराधन किया है।

(९) मुनि साधक संसारके भोग विलासका सर्वथा त्याग करके किसी भी प्राणीको न सताते हुए सर्वलोकका प्रियपात्र बनकर, मर्यादामें रहकर सचमुच वह पंडित पद को पाता है।

विशेष—धर्ममें आगे बढ़नेवाले मुनिसाधककी पूर्ण अहिंसा और सर्वलोकप्रियता इन दोनोंमें पूर्णसम्बंध है। परंतु अहिंसाका पालन तो भोगलिप्सासे दूर होनेपर ही हो सकता है। इसलिए भोगकी इच्छा-वासना जितनी मंद पड़ती है, उतना ही जीवनमें अहिंसाकी साधना होती है, और विश्वबंधुत्वका दावा मजबूत होता है। ऊपरके सूत्रका यही सार है, और धर्मका फल भी यही है।

(१०) परन्तु जिन साधकोंको ऊपरके विषयों का पूर्ण ज्ञान नहीं है, वे सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित दृढ़ता संभृत उग्रमार्गमें बरतनेकेलिए अच्छे प्रकार उत्साहित नहीं हो सकते। जिस तरह पक्षी धीरे-धीरे

सतर्कता (सावधानी) के साथ अपने बच्चोंका पालन करते हैं, उसी प्रकार पंडित और वयःस्थविर साधक ऐसे साधकोंको बड़े यत्नसे सुरक्षित रखकर उन्हें धर्ममें कुशल बनाते हैं, क्योंकि इसी भांति अनुक्रम पूर्वक दिन रात शिक्षा देनेसे वे इस संसारके बंधनों को तोड़ सकनेमें समर्थ हो सकते हैं।

विशेष—इससूत्रमें सूत्रकारने यह समझाया है, कि जैन-धर्मको समझकर फिर उसे कौन पचा सकता है। जिन्होंने यह धर्म समझाया है, वे उन्हें सन्मार्ग पर लानेका यत्न करते हैं, क्योंकि जो महापुरुष इस धर्मको समझ चुके हैं वे ही दूसरोंकी भूलें उन्हें सहजभावसे समझा सकते हैं और भूले हुए की ओर अधिक उदारता दिखा सकते हैं।

दूसरी बात यह है, कि बहुतसे साधक त्याग और तपश्चर्या के अनेक कष्ट स्वेच्छा पूर्वक सहते हुए संयमके तंग रास्तेमें बहुतसी कठिनाइयोंसे पार होते हुए, जब उनको जनसमूह या समाजकी ओरको सद्भावना या सहानुभूति प्राप्त न हो, तो वे निरुत्साह और नीरस-फीके बन जाते हैं। तब उन्हें संयम तथा संयमके नियम भी खटकने लगते हैं, एवं उन्हें समाजके प्रति घृणा भी हो जाती है। ऐसे समय स्थविर साधकोंको

उनके मनका असंतोष दूर करके उनमें उत्साह और नवचेतन की स्फुरणा पैदा करना चाहिए, क्योंकि कई बार अपरिपक्व-साधककी गर्मी नर्मी, मानसिक जड़ताकी ठंडसे बचालेनेमें पूर्णसहायता करती है ।

यह सूत्र तो यहाँ तक कहता है, कि-धर्मिष्ठ पुरुषोंका समस्त जीवन उसकाममें अर्पण कर दिया गया है । दिनरात की पर्वाह किए विना, वे सत्यवृत्तिमें परायण रहते हैं, और उनकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होती जिसका उपयोग जगत के भलेकेलिए न हो । जगतके तो ये आधारभूत स्तंभ होते हुए इनमें वात्सल्यका अमृत भरा रहता है । ये पथभ्रष्टके प्रति तो पिताके समान वात्सल्यभाव दर्शाते हैं ।

उपसंहार—वृत्तिदानकेलिए देहदमन भी आवश्यक है । देहदमन और दिव्यताका जन्य-जनक भाव संबंध है । जीवनोपयोगी प्रत्येक साधनाका निर्ममत्व भावसे उपयोग करना देहदमनकी सार्थकता है । उपाधि और साधन सामग्री कम हुई कि उपाधि और पाप दोनों घटने लगते हैं ।

जितने अंशमें जीवनमें सद्धर्म प्रवाहित होता है उतने अंशमें अंतःकरणकी शुद्धि और चरित्र संगठन होता है ।

जितना देहाध्यास छूटता है उतना ही जीवन नैसर्गिक बनता है। जो संयम वासनाको कृश करनेके प्रयोगमें उपयोगी होता है वही सच्चा संयम है।

इस प्रकार कहता हूं

धूत अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।

चौथा उद्देशक

साधनाका सम-विषम श्रेणियां

—०—

साधनाका मार्ग एक अनजान झाड़ी झुंडेवाले बीहड़ जंगलके समान अटपटा है। वहां वन्यपथ में साधकोंकी बुरी स्थिति होती है। कामक्रोधादि क्रूर पशुओंके आक्रमणसे उन्हें प्रतिक्षण सावधान रहना पड़ता है। वाद और मान्यताओंकी फटनेवाली अनेक छोटी बड़ी टेढोमेढ़ी पगडंडियोंके बीचकी भूल भुलैया आ जायँ तो उसमेंसे मार्ग खोज लेना पड़ता है, और सुखशायकता पसंद होनेसे सत्पुरुषोंकी सीख कांटेकी तरह बन कर उनके नंगे पैरोंमें चुभने लगें तो भी उस मार्गमें चलना ही पड़ता है। इस प्रकार अनेक संकटों से भरपूर साधनाका यह विषम और कठिन मार्ग है।

साधनाके कठोर मार्गकी कल्पना तो लगभग सब साधकोंको है। मानसिक बल, जिज्ञासा और संयम प्रेमकी शिक्षा लेनेपर ही वह इस मार्गमें पदार्पण कर सकता है, परन्तु कल्पना और अनुभव के बीचके भेदका ज्ञान जिन्हें नहीं होता, ऐसे साधकों को ज्यों ज्यों अनुभव होता है, त्यों त्यों वे बेचैन होते हैं। एक ओर चित्तके परितापसे उनका बल, जिज्ञासा और संयम का प्रवाह सूखने लगता है, दूसरी ओर पहले की हुई महान कल्पनाएँ और महत्वाकाँ-क्षाओंके शिखरोंके टूट पड़नेका भय उनकी व्याकु-लता में वृद्धि करता है।

वे पूर्वग्रहके संग्रहको साथ लेकर फिरते रहने के कारण सद्गुरुकी शरणको स्वीकार नहीं कर सकते। यदि स्वीकार कर लें तो, उसे पचा नहीं सकते। अर्थात् मूढ अहंकार उन्हें मूढ बना डालता है और उसकी शक्तिको विकृत कर देता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यद्यपि ऐसे साधक बाह्य दृष्टिसे संयमी, त्यागी और तपस्वी के समान देखे जाते हैं, दूसरोंको सन्मार्गमें प्रेरणा दे सकनेकी चमत्कारिणी शक्ति भी उनमें है, तो भी उनके अपने विकासकी डोरी किनारेपर बंध गई है। अर्थात् किनारेपर

बंधी हुई डोरी(रस्सी)वाली नावकी तरह ये बुद्धि और क्रियाओंके चप्पू लगाते हुए उतने ही वर्तुलमें रुकी रहती हैं। विकास मार्गमें सीधी गति नहीं कर सकती। ऐसे साधकोंकी भूमिकाओंका और उनकी उलझनोंका उल्लेख करनेकेलिए गुरुदेव बोले:—

(१-२) जंबू ! पहले कहेगये कथनानुसार वीर और विद्वान् गुरुदेव दिन रात सतत शिक्षा देकर शिष्योंको तैयार करते हैं। फिर भी उनमें बहुतसे शिष्य गुरुदेवसे ज्ञान पानेके बाद, उनके आशयको न पहचाननेसे, शांतभावको छोड़कर अभिमानी, स्वच्छंदाचारी और उद्धत बन जाते हैं, और कई साधक पहले तो उत्साह पूर्वक संयममें लग जाते हैं, परंतु संयमी होनेके बाद सत्पुरुषोंकी आज्ञाका अनादर करके सुखलंपट होकर विविध विषयोंकेजाल में फँस जाते हैं।

विशेष—इस विश्वके रंगमंचपर बहुतसे प्राणी अभिनय करते हैं, और कई द्रष्टा बनकर देखते हैं, परन्तु अभिनेताओं या दर्शकोंमेंसे किसी विरलेको ही यह भान होता है, कि यह सब नाटक मात्र है। ऐसा ज्ञान जागृत हो या जागनेकी तैयारी हो, तब ही साधनाका मार्ग अच्छा लगता है। वहां तक तो मनुष्यमात्र साधनोंको साध्य मानकर साधनका ही दुरुपयोग

करते रहना स्वाभाविक है। जगतमें ऐसा ही कुछ देखा जाता है। परन्तु सूत्रकार मानवको सम्बोधन करके मानवजातिको भी चेतावनी देते हैं, क्योंकि उनको साधनमें जुड़नेकी योग्य सामग्री सहज प्राप्त होती है, और इससे प्रकृतिका संकेत इनके लिए स्वतन्त्र और सहज है। इसलिए आदमी चाहे तो ऐसी संसारकी गतानुगतिक प्रवृत्तिको बदल सकता है और ऐसा करना मानवीजीवनका प्रधान हेतु भी है।

परन्तु यदि साधनामार्ग अच्छा लगे, तो भी अच्छा लगने मात्रसे उस मार्गमें नहीं जाया जा सकता, इसे कोई भूल न जाय। अर्थात् जिसने इस मार्गमें जानेके योग्य आंतरिक बलको फूलकी तरह खिलाया है वही इसमें कदम रख सकता है।

कई बार बहुतसे साधकोंके संबंधमें ऐसा भी होता है, कि एक को अचानक पहले पहल सब प्रकारके अनुकूल संयोग मिल जाते हैं, जैसे कि—सद्गुरु या सरल उपसाधकोंका योग, सुन्दर और सरल दर्शन, भक्तिमान और गुणान्वेषी भक्तिमंडल, और साधनाके लिए सहज प्राप्त होनेवाले भोजन, तथा वस्त्रादि साधन आदि। इससे 'हमने आंतरिक बलका विकास किया होगा इसीसे तो आज साधनोंको पाकर भीतरकी शक्ति के कारण ही आगे बढ़ रहे हैं,' ऐसा मानकर यह साधक अब मानो अन्तरकी शक्तिको विकसित करनेकी इसे जरूरत ही नहीं है, ऐसा बर्ताव करने लग पड़ता है। परन्तु कसौटीके संयोग उपस्थित होते ही इनकी ये मान्यताएँ झूठी सिद्ध होती हैं। और इसे अपने भीतरकी कमजोरियोंका ज्ञान भी होता

है। इसलिए सूत्रकारके आशयके अनुसार पहले से ही भीतर की तैयारियां की जानी चाहिये, जिससे पीछे पछताना न पड़े। पूर्ण आंतरिक तैयारीके विना अनुकूल प्रतिकूल कोई भी संयोग नहीं पचता। एक संयोग उद्धत बनाता है तो दूसरा संयममें शिथिलता ले आता है। साधक इतना अवश्य विचार करे।

ऊपरके पहले सूत्रमें जिन साधकोंको ज्ञानका अजीर्ण हो गया है, ऐसे साधकोंको यह निर्देश है, कि 'अनुभव विना ज्ञान नहीं पचता' यह सूत्र सचमुच हर समय मननीय है। जब सद्गुरु शिष्यकी मानसचिकित्सा पूरी तरह किये विना, अर्थात् इस शिष्यकी अनुभव दृष्टि जहां नहीं पहुंच सकती हो, ऐसा ज्ञान दे डालता है तब ही ऐसे अजीर्ण होनेका भय उपस्थित हो जाता है।

जैसे औषधिकी मात्रा रोग निवारक होती है, और दयालु वैद्य अपने प्रियरोगीको शीघ्र आरोग्य एवं शक्तिमान् बनाना चाहताहै, तो भी उसरोगीकी जाठरी औषधिको ठीक तरह पचा सके तब ही उसे उचितमात्रामें दे सकता है और तब ही उसें आरोग्य लाभ होता है। इसमें जितनी शीघ्रता की जायगी उतना ही रोगीको दुःख होना सम्भव है। यह अनुभव सिद्ध होनेसे यदि रोगी आरोग्यके लिए शीघ्रता भी करे तो भी हितैषी वैद्य ऐसी भूल नहीं करता। ज्ञानीपुरुषोंको भी साधकों के प्रति वैसा ही ध्यान देना चाहिए। इसी दृष्टिकोणसे ज्ञानी-पुरुषों द्वारा ऐसे साधकोंकेलिए अमुक वाचन, अमुक संग,

अमुक खानपान और वस्त्रादि सामग्री तथा' अमुक ही स्थान नियत करके नियमबद्ध योजना वना दी गई हैं, और इनकी प्रत्येक वृत्तिपर आगे पीछे दृष्टिपात करते रहते हैं। कुछ साधक इस कोटिके भी होते हैं, जो सदैव गुरुआज्ञामें टिके रहते हैं।

परन्तु यहां ऐसे साधकोंकी बात है, जो साधक पूर्वग्रहोंके आधीन होते हैं, ऐसे साधक सत्पुरुषके सम्पूर्ण आधीन होकर नहीं रह सकते, और इसी कारण इनकी स्थिति त्रिशंकु जैसी बन जाती है। ऐसे साधक गुरुकी आज्ञाको बंधन मानते हैं। तभी तो अपनी वृत्तिके बंधनमें वरावर जकड़े रहते है, और इसीसे केवल उद्धत बनकर उलटी प्रवृत्तिमें पड़ जाते हैं। यह एक प्रकारसे पतनका ही मार्ग है। और ऐसे साधकोंको यह अधिक पीड़ित करता है। अधिक इसलिए कि ऐसे साधकों का शास्त्रीय ज्ञान केवल वाचालताके रूपमें परिणमित होने से वे ज्ञानका व्यापार करने लग जाते हैं। और औरोंको संबोध देकर ब्रह्मचर्य,संयम,तप,त्याग,अर्पणता आदि अनेक विषयोंपर सुन्दर वक्तव्य या लेख लिखते हुए अपने जीवनमें उतारना भूल जाते हैं। जगत ऐसे साधकोंको त्यागी या संयमी देखता है, वे वाहरकी पूजा, प्रतिष्ठा और सन्मान पा सकते हैं, परन्तु आत्माका सन्मान नहीं पा सकते। अन्तमें उन्हें वह सव पटककर भी सन्मार्गमें मुड़ना ही पड़ता है। और उनमेंसे वहुतसे वापिस भी आजाते हैं, परंतु इस मार्गमें जितना अधिक समय लगाना पड़े उतना ही उनको पीछेसे पछताना और सहन करना पड़ता है। कभी समस्त जन्म भी वीत जाता है।

तो भी योगभ्रष्ट होकर अन्य जन्ममें फिरसे साधनामार्गमें लगे विना इनका छुटकारा नहीं होता।

दूसरे सूत्रमें दूसरी कोटिके साधकोंकी बात है। इसमें आज्ञाकी आराधनाका बहिष्कार तो है ही, तो भी इसमें औद्धत्यका अंश नहीं है। केवल इतना ही फेर है। अर्थात् यहां साधकोंका बलात्कृत दोष नहीं गिना जाता। इनके पूर्वाध्यास ही इन्हें विषयोंकी ओर खेंचते रहते हैं और वे खिच जाते हैं। यद्यपि ऐसा होनेमें मुख्यकारणभूत उनकी असावधानी हीं है, जिसे क्षम्य नहीं कहा जाता। और वह लगभग विना समझे उत्पन्न होती है, क्योंकि त्याग अर्थात् पदार्थ पर होनेवाली लालसा और विषयोंकी ओर आकर्षितवृत्तिओंको रोकनेका प्रयोग, और तप इच्छाओंको रोकना है। ऐसा इसे मान न होनेसे उलटीसमझ-मतिविभ्रमता पैदा होती है। और इतने मात्रसे पदार्थत्याग करके साधनाकी इतिसमाप्ति मान लेता है। अथवा वेगसे खिचकर प्रयोग करने लगता है। या अन्तमें विना समझा हुआ यह वेग अमुक समय तक ही टिकता है। यह चलता गया और उसका वेग बदला, और पूर्व-अध्यास जागृत होते ही वे अपनी ओर खींचने लगते हैं। यदि ऐसे साधकोंको अवलंबन मिल जाय, तो उनका ठिकानेपर शीघ्र आ जाना सम्भव है।

(३) साधक जंबू! (ऐसा भी देखते हैं कि) बहुत से साधक माननीय और पूजनीय बनकर मान पानेकी वृत्तिसे त्याग ग्रहण करते हैं, परंतु वे आगे

चलकर मोक्षमार्ग में न बढ़तेहुए कामेच्छासे जलकर बाहरके सुखमें मूर्छित होते हुए विषयोंका ध्यान करते हैं और तीर्थंकर भाषित समाधि साधनों में असफल होते हैं। जंबू ! ऐसे समय यदि कोई उन्हें हित शिक्षा दे तो वे सुनने को तैयार न होकर उलटा उस शिक्षकको निंदा करने लग जाते हैं।

विशेष—असलमें यहां तो पहलेसे ही उद्देश्यकी अशुद्धि है। बिना शक्तिका त्याग किसीको कैसे पचे ? परंतु ऐसे साधककी अपेक्षा उन्हें साधनामार्गमें लगानेवाले साधकोंका अधिक उत्तरदायित्व है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि ऐसे साधकोंसे समस्त साधनामार्ग निंदित हो जाता है। धर्मके नामपर अत्याचार, हत्या और बहुतसे दूषण इसप्रकारके साधकोंमें घुसनेका डर रहता है। ऐसे साधकोंकी अपनी निजी विकृति तो बढ़ती ही है,परंतु अपने निकृष्ट आंदोलनोंको जगतमें फैलाते हैं और वह विकृति बड़ी ही भयंकर सिद्ध होती है। ऐसे साधक शिक्षाके अधिकारी भी नहीं होते। जो इन्हें शिक्षा देता है, उसको भी ये निंदा करते हैं। अर्थात् इसी प्रकार वे गंगाके समान नीचेकी भूमिकामें चले जाते हैं। मात्र अंध, जड़, वहमी और लालची प्रजामें इनका पतन फलता फूलता है।

(४) जंबू ! परंतु कई साधक तो स्वयं भ्रष्ट होते हुए दूसरे सुशील, क्षमावान और विवेक पूर्वक संयम

मार्गमें लगनेवाले मुनिदेवोंको भी भ्रष्ट करते फिरते हैं। ऐसे मूर्ख और मंदबुद्धि साधक सचमुच दुगुने अपराधके पात्र हैं।

विशेष—यह विभाग ऐसे विचित्रकोटिके साधकका है, जिसमें चरित्रबल नहीं है, जिनका आत्मविश्वास समाप्त हो रहा है तो भी जिन्हें पहले किसी धर्म या वेषके बहाने जगी हुई प्रतिष्ठा गँवा देना कठिन हो गया है, अथवा पहले जिन्होंने चरित्रबलसे जो पूजा, प्रतिष्ठा या सन्मान प्राप्त किया है, उस चरित्रबलके समाप्त होनेसे जिन्हें भय लगता है। वे अपने स्थानको टिकाए रखनेकेलिए गुणीजन और चरित्रशील व्यक्तिओंकी निंदाका मार्ग ग्रहण कर लेते हैं। ये सब उनकी दुर्बलताकी वातें हैं। यद्यपि ऐसा करनेसे उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता, और आत्मिक पतन अधिक होता है, तो भी सूत्रकार कहते हैं, कि सचमुच वे दयाके पात्र हैं, क्योंकि वे अज्ञानसे दूषित हैं, वैसे दूषित नहीं हैं। ऐसे अस्थिर साधकोंको प्रज्ञसाधक चाहें तो उन्हें यथास्थान लानेमें सफल हो सकते हैं, कारण वे अभिमानी या हठाग्रही नहीं होते। प्रयत्न करनेपर वे शीघ्र सुधर सकते हैं।

(५) आत्मार्थी जंबू ! फिर कई साधक स्वयं शुद्ध संयमका पालन नहीं कर सकते, परंतु दूसरोंको शुद्धसंयम पालन करनेकेलिए प्रेरणा करते हैं, और

शुद्ध संयम पालन करनेवालोंका बहुमान भी करते हैं।

विशेष—ऐसे साधकको सत्संयोग न मिलनेके कारण ही विकासको रोके रखते हैं, परंतु गुणग्राही बुद्धिको लेकर उनको विकासमार्ग ऊपरके सब साधकोंको अपेक्षा पहले मिलता है। इन साधकोंका दिखनेवाला पतन क्षणिक होता है। और वह पतन भी विकासका हेतुरूप बन जाता है।

(६) जिज्ञासु जंबू ! परंतु जो स्वयं साधना मार्ग से भ्रष्ट होकर यह कहते हैं, कि हम जो कुछ पालन करते हैं वही शुद्ध संयम है, दूसरा नहीं, ऐसे मूढ साधक ज्ञान और दर्शनसे भी भ्रष्ट हो जाते हैं। यद्यपि व्यवहारसे वे उत्तम कोटिके (आचार्यादि) साधकोंको (दंभसे) नमते हैं परंतु ऐसे भ्रष्ट साधक सदाचारसे गिरे हुए हैं, ऐसा जानना चाहिए।

विशेष—'स्वयं संयमी न होकर स्वयं ही सच्चा संयम पालते हैं, दूसरे नहीं, इसमें असत्यका अपलाप और एकांतवाद ये दो दूषण हैं, और तीसरे दोषको छुपाता है वह भी दोष है। पापकरनेवालेकी अपेक्षा पापकरके उसे छुपानेवाला अधिक दोषी है। इतना ही नहीं बल्कि पहलेका साधक सुधर जाता है, तब दूसरे को तो सुधरनेका अवकाश ही बहुत अपवादरूप हो जाता है। महापुरुषोंका नित्यका संग भी ऐसे साधककेलिए

उपकारक नहीं होता, क्योंकि जो अज्ञानको अज्ञानरूपसे भीतर जानते हुए बाहर ज्ञानी होनेका दंभ करते हैं, वे भयंकर अपराधी हैं। और ऐसे साधकोंका रोग लगभग असाध्य बताकर सूत्रकार कहते है. कि ऐसे साधक मात्र चरित्रभ्रष्ट ही नहीं बल्कि ज्ञान और दर्शनसे भी भ्रष्ट होते हैं।

(७) आत्मार्थी जंबू ! कुछ निर्बल साधक परिषहों (साधनामार्गकी कठिनाइयों) से डरकर संयमादि साधनोंसे भ्रष्ट होतेहुए संयमके नामसे असंयमी जीवन बिताते हैं। ऐसे साधक यदि त्यागी हों, तो भी उनका "घर छोड़कर चल निकलना" अर्थात् घरका त्याग देना इनकेलिए अरुचिकर हो जाता है।

विशेष—जो संयम पालनेकी शक्तिसे विमुख हो गए हैं, उन्हें उसमें अरुचि होगई है, ऊपरके सूत्रसे ऐसे साधकोंका ही उल्लेख है। ऐसे साधक 'अपने शासनकी निन्दा होगी या स्वयं साधक दशा छोड़ देगा तो समाज उसकी निंदा करेगा' ऐसे भयसे ही जैसे धोरे धीरे चलने वाली गाड़ीको बैलकी पूंछ मरोडकर हाँकता है ऐसे ही साधकदशाको चलाये जाता है। उसका अंतर त्यागमें तन्मय नहीं होता, और इससे इनकेलिए त्यागीजीवन अरुचि तथा घृणाकी वस्तु बन जाता है। यद्यपि ऐसे साधक समाज या धर्मको लाँछन लगानेवाले काम नहीं करते, परंतु उनका जीवनरस चूसाजानेसे वे अपना व्यक्तिगत

या समाजगत हित नहीं साध सकते। इसलिए वे मात्र अपना शुष्क जीवन बिताये जा रहे हैं, परंतु ऐसे साधकोंमें भी जीवन-रस लानेकी आवश्यकता तो है ही। केवल समाजमें उदारता होनी चाहिए। ऐसे साधकवर्गकी स्थिति दूसरे सब साधकोंकी स्थितिकी अपेक्षा अधिक विचारणीय है।

(८) कई साधक "हम ही ज्ञानी हैं" ऐसा ढोंग बताकर औरोंको नीचा मानते हुए पतनके मार्गमें अतिवेगसे चले जा रहे हैं। इनके साथके जो साधक ऐसे दिखावेसे उदासीन रहते हैं उलटा वे उन्हें दुत्कारते हैं, पामर मानते हैं और दूसरोंकी दृष्टिमें नीच कोटि का मानते हैं। (इतना कहकर सूत्रकार कहते हैं कि) ऐसे बाल पंडित साधारण आदमियोंसे भी धिक्कार पाते हैं, और सचमुच अधिक लंबें काल तक इस संसारमें वे परिभ्रमण किया करते हैं। इसलिए बुद्धिमान साधकको सद्धर्मका रहस्य यथार्थ रीतिसे जानना या सीखना चाहिए।

विशेष—सूत्रकार ऐसी कोटिके साधकोंकी बात करते हैं, जो धर्मचुस्त कहलाते हैं, फिर भी सच्चे धर्मसे विमुख होते हैं। विमुख किसलिए ? इसका आकार भी ऊपरके सूत्रमें दिया है। इससे सापेक्षवादका रहस्य भी समझमें आजाता है। सूत्रकारके आशयको देखते हुए अलग अलग धर्म. मत. पंथ

या संप्रदाय अलग अलग भूमिका पर रहे हुए साधकोंके मंडलरूप निर्मित हैं, या बनाए हुए होने चाहिए, क्योंकि मंडलका हेतु भेद डालनेका न होकर वल्कि समतासे सहकार साधनेका होता है। एक स्थल या एक भूमिका सब पर लागू नहीं होती, इसलिए अलग अलग दृष्टिकोणोंसे भिन्न भिन्न देशकालकी अपेक्षा रखकर मंडलोंकी योजना की जाती है। और इससे जो साधक जहाँ यह बना है वहाँ वहाँ से वह चाहे तो अपने विकासकी साध पूरी कर सकता है। इसे ऐसा करना इसके लिए अधिक सरल और उचित होना चाहिए।

वाकी यह धर्म अच्छा है या बुरा है यह केवल एक दृष्टि-भेद है। अपेक्षावादकी दृष्टिसे सब धर्म, मत या संप्रदायोंको देखना सीखे तव ही सच्चे या ऊंचे धर्मका रहस्य मालूम होगा। परंतु इस हेतुको भूलकर 'मेरा धर्म ऊंचा है, अथवा मैं ही ऊंचा हूं, मैं ही ज्ञानी हूं, मैं ही चरित्रवान हूं, मेरी ही जाति या समाज ऊंची है', ऐसे ऐसे एक या दूसरे प्रकारके मिथ्या-भिमान साधकदशामें आनेके बाद भी यदि साधकोंमें रह जाता है, सूत्रकारने उनकी उपरोक्त सब अधमस्थिति वताई है। दूसरे पतनोंमें क्या कई जन्म तक संसार परिभ्रमण नहीं कहा है ? यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है। अनुभवसे भी इतना तो समझमें आता है, कि अपनी या दूसरेकी दृष्टिसे दूसरे पतन पतनरूपसे देखे जाते हैं। ये पतन अंत तक पतनरूपमें अपनेको या औरोंको दिखते नहीं, और इसीसे यह सब भयंकर है।

एक व्यक्तिको किसी धर्मसे खींचकर वलपूर्वक दूसरे

धर्ममें लाना, और वाणी या प्रलोभनसे यह श्रम शक्य न हो तो वलात्कारसे काम लेना, और फिर इसे पापक्रिया न कहकर धर्म कहना, धर्मके लिए हिंसा भी क्षम्य है—ऐसे ऐसे आवेश जनक उपदेश देकर प्रचार करना, धर्मके नाम पर खूनकी नदियां वहा देना, आदमी आदमीके वीचमें सहज प्रेमालुवृत्ति में विष उंडेलकर उनमें भेदकी दीवारें खडी करना, मानवता को भूल जाना, और मानवीय सभ्यताको विस्मृत कर डालना, इन सवका मूलकारण आवेशपूर्ण धर्मकी अपनी वृत्ति है इतना कहे विना कैसे चलेगा ? हिंस्रपशु भी अपनी अपनी जातिके प्रति दयालु होते हैं, तव क्या आदमी आदमीके वीचमें 'आदमखोरी, आदमगंध' जैसी वृत्ति हो, यह मानवसंस्कृतिके लिए घातक नहीं है ? अवश्य इस वृत्तिको पोषण करनेमें विश्वके अकल्याण की अनिष्टताका होना संभव है। इसी उद्देश्यको लेकर सूत्र-कार कहते हैं, कि ऐसी वृत्ति अतिहानिकारक है। इसमें धर्म नहीं है, वल्कि धर्मके नामपर आया हुआ धर्मका विकार है।

न साधकोंमें कोई ऊंच या नीच है, और न कोई धर्म ही ऊंच या नीच है। जिस प्रकार सिरसे पाँव तक सारे अंग उपयोगी हैं, इसी तरह सव साधक जगतकी दृष्टिसे उपयोगी हैं। धर्म, मत या संप्रदाय केवल साधन हैं। ऊपर चढ़नेकी सीढ़ियां मात्र हैं। जिसकी जितनी शक्ति हो वह उतना ही स्वीकार करे इसमें आग्रह किस वातका ?

मान्यता, मत या धर्मका आग्रह 'मैं ऊंच हूं और ये सव नीच हैं' यह विकार किसी मिथ्याभिमानसे जाग उठा है, और

इस मिथ्याभिमानको लेकर ही आत्मश्रद्धा मारी गई है। आवेशको बल मिलता है। एवं दूसरोंके प्रति घृणा और तिरस्कार भी जागता है। कई बार तो ऐसे धर्मजनूनी आदमियोंकी हिंसाभावना इतनी अधिक प्रबलतर बन जाती है कि यदि उनका वश चले तो जगतको मारकर भी अपना महत्व स्थापन कर डालें और उनके अपने वासनामय जगतमें तो वे जगतको मार ही रहे हैं। यहाँ जब मानवता ही नहीं है. तब फिर संयम या ज्ञान कब संभव है ? इसीसे ज्ञानी पुरुष ऐसे साधकोंको ठिकाने पर लानेके लिए जो प्रयत्न करते हैं, इसे आनेवाले सूत्रमें बताना चाहते हैं।

(६) भगवन् ! ऐसे साधकोंको सत्पुरुष किस प्रकारकी हितशिक्षा दे सकते हैं ?

गुरुदेव बोले:—मोक्षार्थी जंबू ! ऐसे साधकोंको सत्पुरुष इसरीतिसे सद्बोधामृत पिलाते हैं। हे पुरुष ! तू जगतको मूर्ख मान रहा है, परन्तु यह तेरी मान्यता ही मूर्खतापूर्ण है इसकी प्रतीति देती है। तू अधर्मको धर्म मान रहा है। हिंसावृत्तिसे छोटे बड़े जीव जंतुओंको तू स्वयं मार रहा है। 'अमुक को मारो' ऐसा हिंसा का उपदेश करता है। किं वा यह मारा जाय तो अच्छा हो यह मानता है। इससे लगता है, कि तू सच्चे धर्मसे बिल्कुल अनभिज्ञ है। तू अधर्मको विशेष चाहता है और हिंसामें ही माननेवाला

है। ओ साधक ! ज्ञानी पुरुषोंने ऐसा मार्ग कहा है, जिसका आराधन किया जा सके, परन्तु तू उन महापुरुषोंकी बातका रहस्य न जानकर उनकी आज्ञा का भंग करके आज इसी उत्तम कोटिके सद्धर्मकी उपेक्षा कर रहा है और इसके परिणाम में सचमुच तू मोहमें मूर्छित और हिंसा में तत्पर दिखता है। मैं ऐसा कहता हूं।

विशेष—सत्पुरुषोंकी कैसी अमृतमय दृष्टि होती है। इन के वचनमें कितनी अनुकम्पा और मिठास होती है। तथा सद्धर्म और अधर्मकी व्याख्या क्या होती है ? इसके यहाँ दर्शन होते हैं। संप्रदायमोह या प्रतिष्ठाके मोहसे उत्पन्न होनेवाली जो भयंकरता गतसूत्रके विशेषमें कह आए हैं, वही इससूत्रमें स्पष्टरूपसे कही गई है। अब आगे सूत्रकार पुनः अन्यकोटिके साधकोंके विषयमें कहना चाहते हैं।

(१०) फिर जंबू ! कई साधक त्यागमार्गकी दीक्षा अंगीकार करते समय पाए हुए भोग संबंधोंको 'इनसे क्या सुख होना है ?', यह मानकर तथा माता, पिता, स्त्री, पुत्र, जाति तथा धनमाल इत्यादि की आसक्तिवाले संबंधको छोड़कर पराक्रम से दीक्षा लेते हैं; अहिंसा, सत्य, इत्यादि व्रतोंका पालन करना चाहते हैं, और जितेंद्रिय भी बनते हैं, परन्तु

यह वैराग्य ज़रा नरम पड़ते ही फिर कायर होकर सयम धर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं।

विशेष—यहाँ सूत्रकार ऐसे साधकोंका वर्णन करते हैं जो पदार्थमें सुख न मानकर पदार्थके प्रति केवल तिरस्कार करके वैराग्यको धारण करते हैं! परन्तु ऐसा वैराग्य सर्वोच्च नहीं माना जाता, इसे ध्यानपूर्वक समझनेकी आवश्यकता है; क्योंकि संभव है, ऐसा वैराग्य किसी प्रसंगपर घट भी जाय। सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि सत्यासत्यकी परीक्षा बुद्धिके पश्चात् सहजभावसे जो वैराग्य पैदा होता है वही वैराग्य सच्चा वैराग्य है, और सदाके लिए टिक सके ऐसा स्थायी वैराग्य होते ही आसक्तिकी मंदताके कारण वृत्तिमें संयम आना अथवा पदार्थ त्यागकी भावनाकी स्फुरणा स्वाभाविक है। सारांश यह है कि अज्ञानतासे पदार्थोंका मात्र त्याग करनेसे वैराग्यकी स्फुरणा नहीं होती, और स्फुरित हो जाय तो वह चला जाता है, क्योंकि ऐसी वैराग्यदशामें वृत्तिका पलटा न होनेसे संकल्प विकल्प रहा करते हैं। प्रसंग मिलनेपर पतन भी हो जाता है, जिसे सूत्रकार अगले सूत्रमें कहना चाहते हैं।

(११) वीर जंबू! सुन! जो आदमी विषय और कषायके आधीन होकर दुष्ट संकल्प विकल्प किया करते हैं, और जिनमें पूर्वकथित दुष्टविचारोंको दबानेका पूर्ण बल भी नहीं है, यदि वे ऐसे समय साधनासे गिर जायं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

विशेष—यहां सूत्रकार दो बातें स्पष्ट करते हैं, एक तो किसीको यह शंका होती है, कि विषय और कषायोंका संबंध-वृत्तिके साथ है, और वृत्तिका सम्पूर्ण क्षय तो सम्पूर्ण वीत-रागता प्राप्त हो तब ही है। वहाँ तक क्या त्याग या संयम सम्भव नहीं है ? इसका समाधान इस सूत्रसे मिल जाता है। सूत्रकार कहते हैं, कि वृत्तिका सम्पूर्ण विजय भले हो न हो, तो भी वृत्तिपर आनेवाले दुष्टविकल्पोंको रोकनेका बल तो बढ़ाना ही चाहिए।

आने वाले दुष्टविकल्पोंकी ओर जो साधक लापर्वाह रहता है, उसके मानसपर वे विकल्प गहरे संस्कारके रूपमें अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं। और वे गहरे संस्कार निमित्त मिलते ही साधकको विषयोंकी ओर खींच लेते हैं। इसीसे सूत्रकार दूसरी बातमें यह कह डालते हैं, कि ऐसे साधकोंका इस प्रकार पतन होना कोई नई और आश्चर्यजनक बात नहीं है।

फलित यह होता है कि मन और वाणीसे अनेकवार पतन होनेके बाद ही कायासे पतन होता है। अर्थात् मनके विकल्पों पर सबसे पहले काबू रखना चाहिए, परंतु गंभीरतासे देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि आज काया पतनपर जितना लक्ष्य दिया जाता है उतना लक्ष्य मानसिक पतन पर नहीं दिया जाता। जगतकी आँखपर भी वही आ जाता है। यहां ऐसे साधकोंके संबंधमें ज्ञानीपुरुष यह कहते हैं, कि इनके प्रति

घृणा न करके दया लाकर उनके दृष्टिकोणोंको मूलसे बदल कर विकल्पोंका सर्वथा शमन करना चाहिए।

(१२) परन्तु प्रज्ञ जंबू ! ऐसा करनेके बदले, दुनिया संयमसे भ्रष्ट होनेवाले साधकोंकी अपकीर्ति फैलाती है। लोग उनके बारे में कहते हैं, "अरे यह देखो त्यागको अंगीकार करके-साधु होकर फिर भी संसारकी भूल भुलैयामें पड़ा है।

विशेष—यह कहकर सूत्रकार कहना चाहते हैं, कि इस कोटिके साधकोंका पतन दुष्टविकल्पोंके जोरके आधीन होकर निमित्तवशात् ऐसा हुआ है। ऐसे साधकोंकी अपकीर्ति करना ठीक नहीं है। पड़े हुएका तिरस्कार करनेसे उसमें विकृति बढ़ती है, घटती नहीं। किसीके मनमें यह कहनेकी इच्छा जागेगी कि तब क्या इसे निभाकर उसकी प्रशंसा की जाय ? इसका समाधान सूत्रकार महात्मा अगले सूत्रमें देते हैं।

(१३) साधको ! इधर देखो और विचारो; तुम बहुतसे ऐसे साधकोंको देख सकोगे जो उद्यमवान् (अप्रमत्त) मुनिसाधकके सत्संगमें रहते हुए भी आलस्य करते हैं, संयम तपश्चरणादि प्रशस्तक्रियाओं में विनय रखनेवाले साधकोंके साथ रहते हुए भी अविनीत रहते हैं, और पवित्र पुरुषोंके नित्यसमागम में रहने पर भी अपवित्र हैं।

विशेष—इसका भाव यह है, कि पतितको पतित कहनेसे या उसके प्रति घृणा करनेसे उसका सुधार नहीं हो सकता। संस्कारिताका आधार उपादान पर है। उपादानकी अशुद्धिका वेग इतना विचित्र होता है, कि वे सदा सत्पुरुषोंके निकट रहते हुए साधकोंको भी अपनी ओर खींच लेते हैं। तो दूसरों का तो कहना ही क्या है। इसका सारांश यह है, कि पतितके प्रति द्वेष या घृणा न होनी चाहिए, पतित होनेके मूलकारणों के प्रति भले ही हो! कोई भी अपनी ओरसे जगतकी दृष्टि में हलका होना या पतनको न्यौता देना नहीं चाहता। परंतु तो भी वृत्तिकी आधीनतासे यह सब होता है। इसलिए इस वृत्तिके प्रति क्रोध होना चाहिए, और व्यक्तिके प्रति यदि प्रेम को प्रवाहित किया जाय तो वह अवश्य सुधरेगा।

(१४) इसलिए आत्मार्थी जंबू! इस सारे रहस्यको विचारकर(मर्यादाशील)नियमित, पंडित, मोक्षार्थी और वीरसाधक अपना पराक्रम सदा ऐसे आगमके मार्गमें प्रवाहित करे अर्थात् अपनीशक्ति-का वेग इसमार्गमें लगादे।

उपसंहार—अनेक साधकोंके पाँव साधनाकी विकट पगडंडीसे फिसले हैं, किसीका कम और किसी का अधिक। कल्पना और अनुभवके बीचकी भेदकी अनभिज्ञता(बेसमझी)ही मुख्यतया पतनका मूलकारण है। जो साधक विचारोंको अपने जीवनमें ओतप्रोत

करके ही आगेकी कल्पना करते हैं, वे क्रमपूर्वक आगे बढ़ते हैं परन्तु जो कल्पनाके घोड़ोंको दौड़ाया करते हैं, और उस क्रियाको अपने जीवन पर अंकित और अनुभूत नहीं करते, वे साधक अधिकतर पीछे ही रह जाते हैं और इससे उनके सूक्ष्म जगतका और स्थूल-जगतका अंतर बढ़ जाता है। अर्थात् कल्पनामें तो यह ठेठ अंतिमभूमिकातक पहुंच जाता है ऐसा उसे कई बार लगता है। परन्तु स्थूल अर्थात् क्रियात्मक जगतमें बहुत ही पीछे रह जाता है। और इस तरह ज्यों ज्यों बाहर और भीतरका अंतर बढ़ता है, त्यों त्यों इसकी अपनी कठिनाइयां बढ़ती जाती हैं।

जब साधकोंमें विचारशक्ति तीव्र होते हुए क्रिया शक्तिमें मंदता, अनौचित्य या विरोध देखे जाते हैं, तब वहां ऐसा ही कुछ कारण होता है, इसे गहराईमें पहुंचकर पता लगाया जा सकता है।

सामान्य रीतिसे हम पतन शब्दका जहां का तहां उपयोग करते हैं, परन्तु पतनके भी अनेक भेद होते हैं। जगतकी दृष्टिसे चतुर समझे जानेवाले आदमि-योंकी दृष्टिसे जो महान पतन होते हैं, उसमेंसे बहुतसे तो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें सामान्य पतन होते हैं; और जो सामान्य पतन होते हैं वे ही कई बार महान

पतन होजाते हैं, क्योंकि जगतकी दृष्टि बाहरकी ओर होती है, पर ज्ञानियोंकीदृष्टि अंतःकारणकी ओर होती है। ज्ञानी तो पतनको भी विकासका रूप मानते हैं। वे यह भी कहते हैं, कि ऐसा भी हो जाता है। इसलिए ज्ञानीपुरुष बारबार पुकार कर कहते हैं, कि सत्यार्थी साधकका यही उत्तममार्ग है, कि वह प्रत्येक स्थलमें समभावी बनकर रहे। इससे पंडित और मोक्षार्थी साधक इतना अवश्य सोचे, कि समतायोगकी पराकाष्ठा पर पहुँचना ही सकल साधनाकी सम्पूर्ण सिद्धि है। समतामें व्यक्तिको दृष्टिसे कोई ऊंच नीच नहीं है।

इसप्रकार कहता हूं

धूताध्ययनका चौथा उद्देशक समाप्त।

पांचवां उद्देशक–

सदुपदेश और शांत साधना

इस धूत अध्ययनके चार उद्देशोंमें साधनासे मिलती जुलती क्रमिक बातें कही हैं। अब यहां सूत्रकार साधनामें परिपक्वता प्राप्त मुनिसाधकको दिनचर्याका वर्णन करनेका प्रयास करते हैं।

मुनिसाधकका जीवन बाह्यदृष्टिसे देखते हुए व्यक्तिगत विकासकी साधन पूर्ति करने जितना दीखेगा, तो भी यह व्यक्तिगत साधना लचर, बेमेल या स्वार्थी नहीं होती, परन्तु उदार विवेकी और परमार्थी होती है। इससे इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी का भी अहित नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि इस साधनामें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे सबके कल्याणका उच्चतम आदर्श होता है और होना भी चाहिए, क्योंकि व्यक्तिका और विश्वका गाढसंबंध है। व्यक्तिका प्रत्येक सूक्ष्म या

स्थूल आंदोलन जलाशयके गोलकुण्डलके समान ठेठ किनारे तक आकर मुडता है।

व्यक्तिके सुधारके विना विश्वका सुधार नहीं है, स्वदया विना परदया शक्य नहीं। संयमके विना विश्वबंधुत्व प्राप्य नहीं है। त्यागके सिवाय विश्वैक्य साध्य नहीं है। स्वार्पणके विना अनासक्तिकी प्राप्ति नहीं है। और अनासक्ति दशाकी प्राप्तिके विना सच्चा सुख या शांति कहां, ऐसा बोधपाठ भिक्षुसाधक की दिनचर्यासे सहज मिल सकता है।

गुरुदेव बोले:—

(१) मुनिसाधकको भिक्षाकेलिए जाते समय घरों और उनके आसपास, गाँव या गाँवके आसपास, नगरोंमें या नगरोंके आसपास (विहार करते समय), और दूसरे देशोंमें या देशोंके आसपासमें, कोई व्यक्ति उपसर्ग करे, (बुरी तरह कष्ट या अति-कष्ट दे अथवा दूसरे कुछ संकट या दुःख आपड़ें) तो ऐसे प्रसंगमें धैर्य धारण करके, अडिग रहकर सम्यक्दृष्टि (समदृष्टिवाले) मुनिको ये सब दुःख समभाव पूर्वक सहन करने चाहिएं।

विशेष—मुनिसाधककेलिए ही भिक्षा क्षम्य है, यहां यही फलित होता है, जिस मुनिसाधकने प्राप्त हुए या होनेवाले प्रत्येक पदार्थसे अपना स्वामित्व उतार दिया हो, इतना ही नहीं बल्कि अपने शरीर तकको विश्वके चरणोंपर अर्पण कर दिया हो, और जो संयमका साधनरूप देह तथा उससे संबंधित साधनोंका उपयोग करता हो उसे ही भिक्षाका अधिकार है। अर्थात् जिसने इस हद तक त्याग किया है, वही भिक्षा ले सकता है।

इतने त्यागके बाद भी भिक्षा या वस्त्रादिके साधन यदि न मिलें, कोई निन्दा या प्रशंसा करे; कोई पूजा करे या तिरस्कार, तो भी त्यागीकी दृष्टिमें न तो विषमता ही आती है न मन पर अच्छा या बुरा प्रभाव ही पड़ता है। उसीकी दृष्टि केवल दिव्य और सत्यमय होती है। वह सत्य और दिव्य अंश ही ग्रहण करता है, शेष सब छोड़ देता है। असत्य और अनिष्टका यह परिहारक है, क्योंकि ये महापुरुष यह समझते हैं, कि जगतके आदमी जो कुछ कर डालते हैं, वे वृत्ति की आधीनताको लेकर ही करते हैं, और यदि इन्हें कोई कष्ट दे, तो ये मानते हैं कि इसमें इनका नहीं बल्कि इनकी वृत्तिका दोष है, और इस वृत्तिको भी हमारा निमित्त मिलते ही वेग आया है, अर्थात् हमारी आन्तरिकवृत्ति भी इसमें कारणभूत होनी चाहिए, क्योंकि पूर्वकाल या वर्तमानकालमें जिन जिन जीवात्माओंके प्रसंगमें आकर जैसे जैसे संस्कारोंसे अच्छा

या बुरा कर्म किया है, वे कर्म ही ऐसे ऐसे निमित्त मिलाकर ऐसा परिणाम लाते हैं ।

इस प्रकार ज्ञानी और त्यागी पुरुष कर्मके अटल नियमको अन्तःकरणपूर्वक समझकर अपनी विवेकबुद्धिसे यह सब समभावपूर्वक सहनकर सकते हैं । इनकी मनोवृत्ति सहजरूपसे भी हर्ष शोकको नहीं छूती । इस तरह वृत्तिके निर्बल संस्कारोंको निर्मूल करते करते वे अधिकसे अधिक अपने सात्विक जीवन का निर्माण करते रहते हैं । इसीका नाम चरित्ररचना है ।

(२) आगमके ज्ञाता, ज्ञानी अनुभवी साधक पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तरदिशाके अलग अलग स्थलोंमें जो लोग रहते हैं, उन सबको अनुकंपाबुद्धिसे उनकी योग्यताके अनुसार धर्मके अलग अलग विभाग बतायें तथा धर्मकी वास्तविकताको समझायें ।

विशेष—पहले तो यहां साधकका विशेषण आगमका जाननेवाला ज्ञानी बताया है, वह इसलिए है, कि सब कोई उपदेशक बननेका साहस न कर बैठें ! उपदेशकको तो ज्ञानी, अनुभवी, मानसशास्त्रका अभ्यासी, स्व और पर एवं शास्त्र तथा देशकालका जानकार, विवेकी और विचारशील होना चाहिए । यह पहले भी स्पष्ट किया है । इतनी ऊंची योग्यतावाला व्यक्ति ही उपदेशकर सकता है । यहां कहनेका आशय यही है कि उपदेशके ऊपर ही शास्त्रका आधार होनेसे लोग उसके उपदेश से कहीं खोटे मार्गमें न चल पड़ें यह भय रहता है, इसलिए

उपदेशककी पूर्ण योग्यताके बाद ही यह काम इन्हें सोंपा जाना चाहिये। ऐसा भाव इस सूत्रमें प्रधानरूपसे स्पष्ट दिख रहा है।

यहाँ चारों दिशाओंका निर्देश करनेका कारण यह है, कि—धर्म तो सूर्यके प्रकाशके समान व्यापक है। अमुकके लिए हो और अमुकके लिए न हो, ऐसा धर्ममें पक्षपात न है न होना चाहिए, एवं मुनिसाधक भी अपना अनुभव बिना भेदभाव और निस्संकोच रीतिसे किसी भी जाति, देश या धर्मके माननेवाले को बताये। उसे पक्षपात न होना चाहिए। कोई प्रश्न करे, कि ऐसे मस्त और निष्पक्ष मुनिसाधकको उपदेश देनेकी क्या आवश्यकता है ? इसीसे सूत्रकार कहते हैं, कि—इन्हें जिसका मानस उपदेश ग्रहण करनेके योग्य लगे उन्हें ही ये उपदेश देते हैं। अथवा जो मांगता है उसे ही उपदेश देते हैं, परंतु किसी प्रकारकी इच्छा रखकर उपदेश देनेकी शीघ्रता नहीं करते।

यद्यपि बहुतसे साधकोंमें प्रत्येकको उपदेश देनेकी प्रथा पड़ गई है। उनके पास जो कुछ होता है उसे शीघ ही औरों को देने लग पड़ते हैं। परंतु यह वृत्ति उच्चकोटिके साधकके लिए ठीक नहीं है। इस वृत्तिके उत्पन्न होनेके कारणोंमें तोता-रंटत ज्ञान और मुख्यतया आत्मश्रद्धाकी कमी होती है। फिर भी जहाँ इसे उदारताके रूपमें दिया जाता है, वहीं भूल होती है। जलाशय उदार है, तो भी वह किसीके पास अपनी उदा-रताका परिचय देने नहीं जाता। किनारे पर आकर जो पात्र रक्खे वही उससे पानी ले सकता है। इसी तरह यह उपदेश

कुछ मुनिसाधकका संप्रदाय चलानेका साधन नहीं है, बल्कि जिज्ञासुकी जिज्ञासाके पानेका मात्र एक सहज निमित्त हैं।

तीसरी बात यहाँ सूत्रकार यह भी कहते हैं कि धर्मोपदेश सबके लिए एक ही प्रकारका न होना चाहिए, बल्कि भूमिका के भेदसे अलग अलग होना उचित है। आकार एक होते हुए भी प्रकार अनेक रहते हैं। जैसे वैद्यके यहाँ औषधियां अनेक होने पर भी वह सब औषधियोंको एकदम एकसमय किसी भी रोगी को नहीं देता। इसीप्रकार आध्यात्मिक वैद्य भी जिस आदमीका जिसप्रकारका रोग होता है, उसरोग का मूलकारण खोजकर उसकी योग्यताके अनुसार ही धर्मोपदेशरूपी औषध देता है। तब ही उसकेलिए पथ्यरूप सिद्ध होता है। धर्म इतना उदार और व्यापक तत्व है, कि सारे विश्वको दिया जा सकता है। साथ ही उसकी व्यापकता और मृदुता भी उतनी ही उदार होना स्वाभाविक है। कोई भी साधक अपनी योग्यताके अनुसार धर्मका लाभ ले सके इसरीतिसे ज्ञानीपुरुष उन्हें धर्मका मर्म समझाते हैं। उसके वर्तमान जीवन पर उसका तात्कालिक प्रभाव डालते हैं। कई वार कई साधक धर्मके नाम पर उधार खातेकी दुकान Firm भी चलाते हैं पर यह ठीक नहीं है। धर्मका फल जीवनपर तात्कालिक प्रभाव भी अवश्य डाल सकता है। अर्थात् धर्म नकद वस्तु है, उधार नहीं। परंतु ज्ञानीपुरुष ही सच्चा धर्म दिखा सकते हैं। और साधक जितना पचा सके उतना और वैसा ही दे सकते हैं, इसे सदा स्मृतिपथमें रखना चाहिए।

(३) प्रिय जंबू! ऐसे समर्थसाधक सदबोध श्रवणकरनेकी इच्छावाले सब आदमियोंको धर्मका रहस्य समझाते हैं। फिर चाहे वे मुनिसाधक हों या गृहस्थसाधक, सबको अहिंसा, त्याग, क्षमा, तथा धर्मका सुन्दरफल, सरलता, कोमलता, तथा निष्परिग्रहता इत्यादि सब विषयोंको यथार्थरूपमें (समझाकर ठीक) बोध देते हैं।

विशेष—शायद धर्मका अर्थ कोई साम्प्रदायिकताके घेरेमें न ले जाय, क्योंकि प्रायः प्रत्येक संप्रदायमें रूढि और उपरि कर्मकांडोंको धर्मके रूपमें माननेनेसे संकीर्णता घुस गई है, और ऐसी संकुचिततामें ही अपने संप्रदायोंका जो धर्म है, वही परिपूर्ण है, और हमारे सप्रदायमें आनेपर हो मोक्ष-मुक्ति-निर्वाण या स्वर्ग मिलता है। इस तरह माननेवाला वर्ग प्रत्येक संप्रदायमें अधिकांश होता है, पर यह ठीक नहीं है।

यद्यपि अपने संप्रदायमें प्रवर्तित धर्म उसके प्रवर्तकमहापुरुषने कैसे समय और किस स्थल पर प्रवर्तित किया था? उससमय उसदेशकी प्रजाका मानस कैसा था? वह प्रदेश कैसा था, तब प्रजामें सामुदायिकविकास कितना था, इन सब प्रश्नोंके साथ उस धर्म, मत या सप्रदायके इतिहासका गाढ-संबंध है। ऐसे सत्यका विचार करे तो धर्मके नामपर लेशमात्र भी सांप्रदायिकता या अधर्म नहीं निभ सकता, परंतु ऐसे सत्य-विचारके लिए जो बुद्धि जागृत होना चाहिए, उस बुद्धिकी

आडमें मनुष्यने मताग्रहकी जो दीवार बनाई है, वह आगे अडकर खड़ी हो जाती है और सत्यका स्पर्श करने जायँ तो रोक देती है।

मिथ्या आडंबर, अंधी भक्ति, अतिशयोक्ति, और परंपरागत कल्पनासे इसका मानस इतना रूढ हो गया है, और हृदय इतना अधिक आवेशमय हो गया है, कि नई विचारश्रेणी को पचासकनेकी विवेकबुद्धि उसमें पैदा नहीं हो सकती। वह तो मात्र ऊपरके कर्मकांडोंमें मग्न रहकर धर्मपालन की इति मान लेता है। यदि व्यवहार और धर्ममें बहुत बड़ा अन्तर डालनेका निमित्तरूप कोई है, तो इस प्रकारकी जड़ता ही है, और इस जड़ताने ही धर्मका उधारखाता निभा रक्खा है। इसीसे सूत्रकार इसस्थितिसे बचनेका संकेत करते हैं।

धर्म तो जीवनव्यापी वस्तु है, धर्मपरायण व्यक्तिमात्र मर्मस्थानमें ही नहीं बल्कि विश्वके जिन क्षेत्रोंमें या स्थानोंमें वह होता है वही पवित्र रह सकता है और पवित्रताका वातावरण फैला सकता है। वह ऐसी सच्ची धर्मभावनाको समझता है, और धर्मको नकद भावनाको चुकाकर जो जड़रूढ़िसे वहम, लालच और भयके भूतोंको सृष्टि पैदा की है वह धर्म ही नहीं है यह बात स्पष्ट करता है। ऐसा नकद धर्म व्यक्तिगतरूप पल जाय तो भी उसमें विश्वका कल्याण ही है।

अहिंसाके पालनसे अन्यजीवोंको निर्भयता और शांति मिलती है, और विश्वमें स्वार्थकेलिए होनेवाले युद्ध और वैर-वृत्तिका शमन होता है। जिसके पास पदार्थ न हो एक व्यक्ति

के त्यागसे उसे वे मिलते हैं, और एक आदर्श त्यागीके त्यागका औरों पर प्रभाव पड़नेसे प्रजामें सुखका प्रचार होता है। सहनशीलताका गुण खिल उठनेसे विश्वका क्षुब्ध वातावरण शांत होता है, पवित्रतासे वातावरण में शुद्धि फैलती है। और लूट-खसोट, दंभ, पाखंड, अत्याचार, अनाचार आदि दोषोंका नाश होता है। सरलता और कोमलता से विश्वको सच्चे बोधपाठ मिलते हैं। और पामरता, मिथ्याभिमान, कदाग्रह धुल जाते हैं। अर्थात् इसीरीतिसे ऊपरके गुणोंमें धर्म बताया है। और यह धर्म तत्काल फल देता है। इतना स्वरूप जाननेके बाद संस्कारिताका व्याख्या सहजमें समझी जा सकेगी। और ऐसे सद्गुण जहाँ (जिस)से प्राप्त होते हों वह धर्म ही क्रियारूपसे आदरका पात्र है और होगा ऐसा धर्म और धर्मक्रिया गृहस्थसे लगाकर त्यागी तक सब लोग अपने जीवनमें उतार सकते हैं। फिर चाहे संयोग या शक्तिकी अपेक्षासे इसका परिणाम थोड़ा रहे या अधिक, परंतु सबसे पहले तो इस ओर रुचि प्रगट होनी चाहिए। उपदेश भी इसप्रकारकी रुचि पैदा करनेमें उपयोगी साधन बन जाता है।

(४) मोक्षार्थी जंबू! प्रत्येक मुनिसाधक इसरीतिसे विचारे और विवेकपुरःसर सब छोटे बड़े जीवात्माओंको धर्मका स्वरूप बताना उचित है।

विशेष—उपरोक्त टिप्पणी (विशेष) में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गये हैं उन्हें इस सूत्रमें आनेवाला "विचार और विवेकपुरःसर सबको धर्म बताना चाहिए" यह वाक्य खूब पुष्टि करता है। इस सूत्रमें "मुनिसाधक उपदेश देते हैं" ऐसा

भी वाक्य है। इसके आधार पर इसके पीछे तथा मुनिशब्द कई सूत्रोंमें वार वार उपयुक्त किया है और इसके पीछे क्या अर्थ है इसे समझाया है। जो साधक पूर्ण विचारक और सदा जागरूक रहता है, वही मुनि है। मुनिपद यहाँ पूर्ण त्यागी-पुरुषकी योग्यता बताता है और ऐसे त्यागी पुरुष ही उपदेश देनेकेलिए अधिक योग्य हैं। यह स्पष्ट वात है, कि जिन्होंने धर्मका पाठ पढ़कर ही नहीं बल्कि उसको अनुभवसे प्राप्त किया है, वे ही सफल उपदेष्टा हो सकते हैं।

इससूत्रसे अब यह समझमें आ जायगा, कि इसरीतिसे ऐसे त्यागोपुरुष जगतकी अनुपम सेवा कर सकते हैं। अज्ञान ही सब दुःखों और अनर्थोंका मूल है। प्रत्येक प्रजाको जितना बाहर दमन, अत्याचार या सत्ता पीड़ित नहीं करती, उससे अधिक कष्ट अज्ञान द्वारा होता है, और वास्तवमें सब बाहरी पीड़ायें अंतरके अज्ञानसे ही उत्पन्न होती हैं। अनुभव इसका साक्षी है।

आँखें वन्दकरके चलनेवाला अपने पास भोजनके भंडार होनेपर भी न देख सकने या भान न होनेके कारण भूखा मरता है। जैसे वह बात स्पष्ट है, ऐसे ही अज्ञानीजन अपने पास विपुलसमृद्धि और शक्ति होनेपर भी आत्मविश्वासके अभावमें पीड़ा पाता है, यह भी सुस्पष्ट है। अर्थात् प्रजामेंसे अज्ञानका जितने अंशमें नाश होता है, उतने ही अंशमें शांतिका प्रचार स्वाभाविक होनेसे अनुभवी पुरुषने ज्ञानदानको सर्वश्रेष्ठ समझाकर बताया है। ऐसे ज्ञानके दाता ज्ञानी और त्यागी ही

हो सकते हैं, क्योंकि जो कुछ दूसरों की कल्पनामें होता है, उसका उन्हें अनुभव होता है।

(५) सत्यार्थी जंबू ! पूर्वापर सम्बन्धको विचारपूर्वक इसरीतिसे सद्धर्म कहते हुए मुनिसाधकोंको यह लक्ष्यमें रखना चाहिए, कि वे ऐसा करते हुए अपनी या औरोंकी आत्माका, दूसरों का या अन्य किसी भी प्राण, भूत, जीव या सत्वका अंतर न दूखे, उनको किसी प्रकारकी हानि न कर डाले।

विशेष—इस सूत्रको कहकर सूत्रकारने पाठककी सब शंकाओंका भलेप्रकार समाधान कर डाला है। "उपदेश देते हुए अपनी आत्माका अहित न हो" यह इस ओर संकेत करता है कि उपदेश देना कुछ मुनिसाधककी साधनाका प्रधान अंग नहीं है। यह विषय वक्ता तथा श्रोता दोनोंकेलिए चिंतनीय है। यदि श्रोता यह समझे कि मुनिसाधक समाजसे सबप्रकारकी साधन-सामग्री लेते हैं और उसके बदलेमें वे उपदेश सुनाते हैं, तो ये श्रोता कुछ नहीं पा सकते, और यदि उपदेशक भी इसी हेतु से प्रवचन दे, तो वह भी कुछ न दे सकेगा। उपदेश तो उपदेशकोंका सहज स्फुरण होता है, कर्तव्य नहीं। कर्तव्यके पीछे फलकी बहुत गहरी इच्छा है, और जहां फलकी इच्छा हो वहां श्रोताने क्या लिया ? क्या किया ? ऐसी ऐसी सात्विक-

चिन्ताके बहाने एक प्रकारकी आसक्तिका पोषण तथा राग-बधन भी होता है। सारांश यह है कि उपदेशमें ऐसी साहजिकता हो कि जिससे आत्माका पतन न हो।

उपदेश करते समय उपयोग रक्खे यानी त्यागी साधक तो पूर्णत्यागका ही उपदेश करे ऐसा एकांत अर्थ न करे! यद्यपि दूसरे सूत्रमें "विभागपूर्वक धर्मका रहस्य समझावे" यह कहकर इसका स्पष्टीकरण कर दिया है; तो भी यहाँ श्रोताकी या अन्य किसीकी हानि न कर डाले यह कहकर सूत्रकार इसे ही परिपक्वरूप देना चाहते हैं।

अधिकारके अनुसार ही धर्म पचता है। अर्थात् पूर्णत्याग जिसे न पच सकता हो उसे वह उच्च होते हुए भी अर्पण करनेसे उलटा उसके विकासमें बाधाएँ उत्पन्न करता है। यह बात इस अध्ययनके चौथे उद्देशकमें पतनके प्रकारोंमें सूत्रकार कह चुके हैं। अर्थात् पूर्णत्यागी किसीको अल्पत्याग बताये तो इसमें उसकी न्यूनता बताना ऐसा भ्रम या भय रखनेका कोई कारण नहीं है। एक गृहस्थ गहस्थजोवन बिताते हुए विकास को साध सकता है, और जहां तक पूर्णत्यागकी शक्ति न हो वहां तक यह क्रमिक विकास ही इसकेलिए योग्य उपकारी है, ऐसा जैनदर्शन मानता है। तो फिर त्यागी साधक एक गृहस्थ-साधकको इसकी योग्यताके अनुसार उपदेश देकर सद्गणोंको विकसानेकी प्रेरणा दे तो इसमें अप्रासंगिक या अयक्त कछ नहीं।

फिर इससूत्रसे दूसरा यह भाव भी निकलता है, कि जिस धर्मके पालन करनेसे दूसरे किसी धर्म या व्यक्तिका अहित न होता हो, हित न मारा जाता हो वही धर्म वास्तविक धर्म है। सच्चे धर्मकी परीक्षाका यह मापक यंत्र बड़ा ही मनन करने योग्य है। इसीरीतिको समझकर जो यथोचित बर्ताव कर सकता हो तो व्यक्तिधर्म सम्भालते हुए व्यक्ति कुटुम्बधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म या विश्वधर्मका पूर्ण वफादार (Loyal) रह सकता है, क्योंकि व्यक्तिके उत्तरदायित्वका इसे बराबर भान रहता है।

(६) आत्मार्थी जंबू ! इसप्रकार जागृत रहा हुआ महामुनिसाधक इससंसारमें अज्ञानसे टकराकर डूबते हुए अनेक निराधर जीवोंका आधारभूत द्वीप (टापू)के समान शरणभूत होकर रहता है।

विशेष—यहां टापूके साथ ज्ञानीकी तुलना करके सूत्रकारने ज्ञानीके जीवनका आदर्शचित्र दिया है। टापू जिसप्रकार समुद्रमें तैरती हुई नावमें चढ़े हुए व्यक्तिको सुख और आश्वासन देता है, इसी तरह ज्ञानी और अनुभवी महापुरुष साधनामार्गमें आए हुए या चूके हुए साधकोंको अपने अनुभवजन्य ज्ञानसे स्थिर करते हैं, और टापू जिस तरह डूबते हुए व्यक्तिको आश्रय देता है, इसी तरह ज्ञानीजन पतितको भी अपने अभंगद्वारमें आश्रय देकर पवित्र करते हैं। टापूको जिस तरह ऊंच या नीचका भेद नहीं होता, इसीतरह ज्ञानीकी दृष्टि

में जाति, पंथ या सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं होता। टापूके आसपास चारों ओर सागर होते हुए भी यह अपने स्वरूपमें और स्वभावमें लीन तथा मस्त खड़ा रहता है। इसीप्रकार ज्ञानीजन संसारमें अनेक प्रकारके प्रलोभन और संकटोंके बीच मस्त तथा आत्मभावमें मगन रहते हैं।

(७) प्रिय जंबू ! साधनामार्गमें उद्यमवान साधक क्रमपूर्वक इच्छाका निरोध करके स्थितप्रज्ञ तथा अचंचल चित्तवाला बने और सतत संयमाभिमुख होकर एक ही स्थलपर स्थिर न होकर गावँ गावँ विचरे।

विशेष—इस सूत्रमें यह बात बताई गई है कि साधनाके मार्गमें प्रविष्ट हुए साधकका किस तरहका और कितना विकास हुआ है या होना चाहिए। पहले ही यहाँ इच्छा यानी क्रियाके फलकी आतुरताका भी निरोध करना कहा है। किसी भी क्रियाको करनेके बाद उसके फलमात्रकी इच्छाको छोड़ देना या छूटजाना साधनाके मार्गमें अति आवश्यक है। सबकी वृत्तिमें कम या अधिक प्रमाणमें ऐहिकलालसा होती है। जिस साधनाके पीछे लालसाका तत्व जुड़ा हुआ है, वह साधना कभी सफल नहीं होती।

यद्यपि लालसाका निरोध जीवनमें उतारना कठिन है, तो भी वह साध्य अवश्य है। जिन्हें कर्मके नियमोंका भान हो गया है, वे क्रियाके परिणामसे निरपेक्ष रह सकते हैं। यहाँ मुनिसाधकको ऐसी दशामें रहनेकी प्रेरणा देते हैं।

क्रियाके परिणामकी अपेक्षा. छोड़नेवालेकी क्रियाका परिणाम शून्य नहीं आता, यदि आ भी जाय तो सहना नहीं पड़ता। अथवा वे ध्येयशून्य क्रिया करते हैं, ऐसा कुछ न माने ! "क्रियाका कर्ता ही क्रियाका भोक्ता है" यह विश्वका अटूट सिद्धांत है। इसमें किसीके लिए कोई अपवाद नहीं है। परंतु फलकी अपेक्षा छोड़नेवाला ही फलको पचा सकता है। अर्थात् क्रियाका फल चाहे शुभ मिले या अशुभ, यह दोनों स्थितिमें समभावसे रह सकता है—समान स्थिति रख सकता है। यहाँ कथिताशय भी इतना ही है। यह अनासक्तिका ही एक भेद है। ऐसी दशामें रहते हुए साधकको स्थितप्रज्ञमुनि या जैन-परिभाषामें **'ठियप्पा'** (स्थितात्मा)के रूपमें पहचाना गया है, परंतु स्थितिप्रज्ञको भी अचंचलचित्तसे प्रवृत्ति तो करनी ही पड़ती है, यों सूत्रकार कह रहे हैं। बल्कि इसकी प्रवृत्तिमें अंतर इतना ही है कि ऐसे योगीसाधककी प्रवृत्ति बंधनकारक नहीं होती, क्योंकि इसमें आसक्तिका तत्व नहीं होता, और इसीसे यह सत्प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति होते हुए इसकी गिनती निवृत्तिमें होती है। ऐसे साधकका लक्ष्य आत्माभिमुख ही रहता है। इसरीतिसे आत्माभिमुखवृत्तिवाले साधक की प्रवृत्ति में जगत्कल्याण और संयम ये दोनों सुरक्षित रहते है।

(८) मोक्षाभिलाषी जंबू ! जो साधक ऐसे पवित्र धर्मको जानकर सत्क्रियाका आचरण करते हैं वे साधक सचमुच मुक्ति ही पाते हैं।

विशेष—"मुक्ति तो निवृत्तिसे ही मिलती है" इससूत्रके आशयको न समभनेवाले जो साधक निवृत्ति यानी 'कुछ न करना' ऐसी एकांत और रूढ मान्यता पकड़ बैठे हैं एवं उन मान्यताओंकेलिए जो 'पाप, पाप,' शब्दसे डरकर, सत्प्रवृत्तिसे भय खाते हुए दूर दूर भागते हैं, उनकेलिए यहां मार्गदर्शन किया गया है। प्रवृत्ति या निवृत्तिका संबंध मुख्यतासे आंतरिक सामग्रीसे है। इसका जिन्हें भान नहीं होता ऐसे साधकोंके संबन्धमें ही प्रायः ऐसा होता है, क्योंकि चंचल मन अभ्यासके विना निवृत्तिभावमें रह ही नहीं सकता। देह निवृत्त हो उस समय इसका दुष्टवेग उलटा अधिक जोर पकड़ता है। इसलिए उपरोक्त मान्यताको अवास्तविक ठहराकर सूत्रकार स्पष्ट कहते हैं, कि सत्यप्रवृत्ति साधनामार्गमें जरा भी बाधक नहीं है, बल्कि वह उपकारी है। और जहाँ जीवन है, वहाँ प्रवृत्ति भी अनिवार्य है—मात्र इतना ही याद रखना चाहिए, कि प्रवृत्तिमें विवेकवुद्धि और निस्स्वार्थता एवं सत्यकी वृत्ति Inclination होनी चाहिए। तब ही यह प्रवृत्ति सात्विक सिद्ध होती है। अन्यथा वह पतनकारी हो जाती है।

(६) परन्तु साधक ! (सत्प्रवृत्तिके बहानेसे) तुम किसी बुरे प्रपंचमें न फँस जाना। इस विचित्र विश्वमें धनमालको पानेकेलिए तड़फनेवाले कुछ पामर जीव अनेक कामनाओंसे पीडित रहते हैं। इसलिए (ऐसोंके जालमें न फंसकर) तुम संयममार्गमें जरा भी विचलित न हो जाना।

विशेष—यहाँ सूत्रकार चौंक उठनेवाली बात कहते हैं। आत्मलक्ष्यीकी सहजरूपसे होनेवाली प्रवृत्तिमें उसका आत्महित या मुक्तिका मार्ग जरा भी नहीं रुकता, इतना ही ऊपरके सत्प्रवृत्तिके मार्गसे फलित होता है। शायद कोई इसका उलटा अर्थ न लगा वैठ! यही कहनेकेलिए सूत्रकारको यह सूत्र फिरसे कहना पड़ा है। क्योंकि समाजकी सेवाके बहाने बहुतसे साधक संयममार्गसे भी दूर चले जाते हैं, उन्हें यह उचित नहीं है। यद्यपि जहाँ आत्मलक्ष्य है, वहां जगतकीं सेवा निश्चितरूपसे है, परंतु यह बात बहुत गहरी एवं अनुभव गम्य है। यहाँ तो साधक अपने आत्मलक्ष्यको सुरक्षित. रखकर प्रवृत्ति करे, और अपने लक्ष्य से न चूके, उससे सतत इतना याद रखना चाहिए।

यों बार बार कहनेका कारण यह है कि इसविश्वके बहुत से आदमी ऐहिककामनाओंसे पीड़ित हो रहे हैं, परंतु आंतरिक शक्तिके अभावसे ऐहिककामना परिपूर्ण करनेमें वे समर्थ या सफल सिद्ध नहीं होते और इसीसे उनका मानस वहमी लालची और पामर हो गया है या पामर होता जा रहा है। ऐसी कोटिके जीव कुछ साधुसंत या योगीकी ओर अपनी ऐहिक कामनाकी पूर्तिकेलिए प्रेरित होते हैं। वे एक साधनाकेलिए आनेवाले जिज्ञासुसाधक जितनी ही भक्ति, प्रेम और जिज्ञासा बतानेका प्रयत्न करते हैं। पीछे से धीरे धीरे वे अपने मूढ स्वार्थके साधनेका प्रयत्न करते हैं और निस्पृहताका भाव बतते हैं, परंतु सूत्रकार महात्मा कहते हैं कि ऐसे प्रसङ्गमें ये साधक

इनके अपने रागबंधनमें इतने जकड़ गए हैं कि वे रागवशात् कई बार अयोग्य और संयमविरुद्धप्रवृत्ति परमार्थके बहानेके नीचे कर डालते हैं, और यदि तुरंत ठीकठिकाने न आजाय तो इसी तरह उन्मार्गमें आगे बढ़ चलता है त्यों त्यों इसका यह नाद आगे आगे बढ़ता जाता है; और ज्यों ज्यों यह नाद बढ़ता है त्यों त्यों यह फिर इसी व्यसनका व्यसनी हो जाता है। यह प्रवृत्ति साधनकेलिए इष्ट नहीं है। कई बार यह इसे साधनामार्गसे भुला देता है। इसीसे सङ्ग-सहवास से निर्लेप रहनेकेलिए साधकको बार बार कहा गया है।

(१०) प्यारे जंबू ! हिंसकवृत्तिवाले और अविवेकी आदमी पापीप्रवृत्तिएँ करते हुए नहीं डरते, इनसब पापवृत्तिओंको दुःखके हेतुरूप जानकर ज्ञानी-साधक इनसे सर्वथा दूर रहता है और इसमार्ग में क्रोध, मान, माया तथा लोभ इत्यादि (आत्माके आंतररिपुओं)को भी वम देता है। ऐसा साधक ही कर्मबंधनसे मुक्त होता है, ऐसा मैं कहता हूं।

विशेष—अविवेक और हिंसकप्रवृत्ति ही अज्ञान और दुःखका मूल है ऐसा इससूत्रमें बताकर सूत्रकार कहते हैं, कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय राग और द्वेषका विस्तृतरूप हैं। असलमें राग और द्वेप ये दोनों ही संसारके मूल हैं। वास्तविकरीतिसे तो द्वेष भी रागसे ही उत्पन्न होता है। इसीसे राग भी दुःखका मूल है, और रागसे मुक्त होना

सुखकी सिद्धि पाना है। इसलिये प्रत्येक जीवका साध्य एक मात्र वीतरागभावकी पराकाष्ठा ही होनी चाहिये, और साध्य का मार्ग कहो या बासनाके विजयका मार्ग कहो, चाहे जो कुछ कहो, यह है। और साधनाके क्रमिकविकाससे इसकी परमसिद्धि होती है।

इस धूत अध्ययनके पूर्वग्रहके परिहारसे लगाकर साधनकी सम्पूर्णसिद्धितकका क्रम बताया है। इसमार्गमें जानेवाला साधक बंधनसे सर्वथा मुक्त होता है। ऐसा इस सूत्रमें सूत्रकार द्वारा वर्णित है। अखिल विश्वका यह ध्येय है, और वह इसरीतिसे सहज प्राप्त होता है। यही धूत अध्ययनका सार है।

परन्तु यहां कोई यह प्रश्न करे कि मोक्षका मार्ग इतना सरल होतेहुए और सबकी उसे पानेकी इच्छा होनेपर भी उस का पार योगीजन भी नहीं पा सकते, क्योंकि वह वचन अगोचर है, यह प्रत्यक्ष है इसलिए क्या किया जाय ? इसका भी सूत्रकारने इसी अध्ययनके चौथे उद्देशकमें उत्तर दिया है। सूत्रकार कहते हैं कि साधनाकी सीढ़ी जितनी सरल है, उतनी उसमें कठिनता भी है मगर असम्भव नहीं। इसके आसपास एक ओर प्रलोभनकी खाई है और दूसरी ओर सकटोंका महासागर है, साथ ही गोता दिलानेवाली भूतावलियां भी अनेक हैं। इसलिए वहां जो सम्पूर्णरीतिसे चेतकर चलता है, और प्रतिज्ञाकी रक्षाकेलिए मस्तकदान करता है,वही मालामाल होता

है। इसबातको और भी स्पष्ट करनेकेलिए उपसंहारके रूपमें सूत्रकार अंतिमसूत्रमें कहते हैं कि:—

(११) मोक्षार्थी जंबू ! (देहभावसे पर होकर) देहनाशके भय पर विजय पाना ही संग्रामका शिखर है। (आत्मसंग्रामका अंतिम विजय है। जो साधक मृत्युसे बेचैन नहीं होता) वह साधक इससंसारका पार अवश्य पा सकता है। इसलिए मुनिसाधकको जीवनके अंततक साधनामार्गमें आनेवाले संकटोंसे न डरकर लकड़ीके तख्तेकी तरह अचल रहे, और मृत्युकाल आनेपर भी जहां तक यह शरीर जीवसे अलग न हो वहां तक मृत्युको वरनेकी बड़े हौंसले के साथ तैयारी रक्खे। (जो आदमी मृत्युसे नहीं डरता वही इस आंतरयुद्धका खेल खेलसकता है। जो प्रतिक्षण मृत्यु से डरता है वह पामर कुछ भी नहीं कर सकता।)

विशेष—सामान्यरीतिसे यहाँ वीरता प्राप्त होनी चाहिए सूत्रकारने भी यही भाव समझाया है। परन्तु यह वीरता कुछ लौकिक परिभाषाकी वीरतासे अलग ही है। बाहरके युद्ध पर चढे हुए वीरको हम वीर कहते हैं, परन्तु वहां सच्ची वीरता नहीं है। रणमें लड़नेवाला योद्धा 'मुझे या तो विजय प्राप्त होगा या परलोकमें स्वर्ग मिलेगा' वह ऐसे कुछ प्रलोभनोंमें बेचैन होकर, वासना और लालसाके वश होकर जीवनको

न्यौछावर कर देता है। बस इसमें देहदानकी अर्पणता तो है; परन्तु इसकी गहराई में पहुंचकर देखें तो मालूम देगा कि यह देहअर्पण मात्र एक प्रकारके पौद्गलिक आवेश से ही उत्पन्न हुआ है।

परन्तु सच्ची वीरतामें किसी भी प्रकारकी लालसा या आवेशको अवकाश नहीं है। इस वीरताका सम्बन्ध मुख्यतासे आन्तरिकबलके साथ है, और इससे इसका उपयोग केवल अन्तःकरणपर स्थान पाई हुई दुष्टवृत्तिओंके सामने लड़नेमें और उनके हटानेमें होता है। "ऐसे वीरको इस द्वंद्वमें लडते हुए शरीरका नाश हो जाय तो भी कुछ पर्वाह नहीं" इस वाक्य का अभिप्राय यह नहीं है कि अपना अपघात कर डाले ? इसके पीछे तो यह आशय है कि ऐसे वीरसाधकके शरीरका मूल्यमात्र साधनके रूपमें होता है। यदि साध्यमें साधन रुकावट पैदा करता हो तो चाहे वह जाय तो उसकी भी उसे पर्वाह नहीं होती। सारांश यह है कि साधक शरीरका नाश होने लगे तो उसे होने देता है, परन्तु वृत्ति-विभावके आधीन नहीं बनता। यह इतना स्वाभिमानी मस्त और स्वतन्त्र होता है।

"जो मृत्युसे व्याकुल न होता हो वही संसारके पारको पाता है" इस वाक्य में बड़ा गूढ रहस्य है। विश्वका प्रत्येक प्राणी मृत्युसे भयभीत है। यह चाहे जैसी दुःस्थितिमें क्यों न हो तो भी जीवित रहना पसन्द करता है, न कि मरना। ऐसा हम सब अनुभव करते हैं। इसके पीछे एक महान कारण है, और वह यह है कि यह जीवात्मा इच्छापूर्वक इसी ही जीवनमें जिस

वस्तुको खोज रहा ह जब तक वह न मिले तब तक उसे मृत्यु बुरी लगती है, इसमें तनिक भी आश्चर्य या अस्वाभाविकता नहीं। मृत्युके पीछे दूसरा जीवन भी तो है। और जहाँ तक सम्पूर्ण विकास न हो वहाँ तक वह मिलता ही रहता है। ऐसा इसे भान न होनेसे मृत्युसे इसका मन इतना डरता है मानो अब जीवनका अंतिम सिरा ही आगया है। दूसरी ओर यह जो कुछ चाहता है वह अबतक इसे मिली ही नहीं है। इसलिए सब भयोंकी अपेक्षा मृत्युका भय जीवमात्रको भयंकर लगता है। सैंकड़ों, लाखों, या करोड़ोंको मात्र अपनी दो भुजाओंसे सबको कम्पायमान करनेवाला वीरयोद्धा भी इस भयके आगे कांपने लगता है, और पामर बन जाता है। मृत्यु की अंतिम पलोंका जिसे अनुभव हुआ है या जो कुछ अनुभव देखा है उसे इसबातकी यथार्थता बड़ी सुगमतासे समझमें आ जायगी।

इसीसे सूत्रकारने साधकके लिए साधककी पराकाष्ठाकी कसोटीरूप यह बात कही है। जो साधक ध्येयको पा गया है या उसके मार्गपर झुक गया है वही मात्र मृत्युके भयको जीत सकता है क्योंकि वह मृत्यु मृत्यु नहीं है, बल्कि जीवनका पूर्वरंग है। जब शरीररूपी साधन जीवन लंबानेके योग्य न रहे; तब ही निसर्गशक्ति (जैनदर्शनमें जिसे कार्मणयोग कहते हैं वह) शरीर समेटकर उस जीवनको नई भेंट देता है, ऐसी उसे प्रतीति होती है।

परंतु जिसने शरीरको साध्य मान लिया है, ऐसे जीव शरीरमें मूर्छित रहनेके कारण इसे यह प्रसंग कठोर लगता है,

तो भी कर्मका नियम तो अनिवार्य रहा है, अर्थात् ऐसे जीव सहज रीतिसे शरीरमोहसे न छूटसकनेके कारण इनका शरीर छीननेकेलिए निसर्गको किसी महान रोग या ऐसे महान कारणोंकी योजना करनी पड़ती है, और फिर भी ऐसे जीव अतिकल्पांत करते करते आखिरी शरीरको छोड़ सकते हैं।

साधकका जितना शरीर मोह कम होगा उतना ही प्रकृति का कार्य थोड़े प्रयत्नसे होता है। परंतु शरीरमोह तब ही घट सकता है जबकि इसका सच्चा स्वरूप समझमें आजाय इस स्वरूपको समझनेवाले साधकको पुराना कपड़ा हो जानेके बाद नया मिलता ही है ऐसा विश्वास हो और इसीसे वह आनंदित रहता है।

यहां लकड़ीके तख्तेका दृष्टाँत देकर मृत्युके विजेताकी अडिगता कैसी है यह बताया है। जैसे लकड़ीके तख्तेको कोई छीलता है या उसी तरह रखता है तो भी उसे कुछ नहीं होता, बल्कि छीलनेसे उलटा दुःखका प्रभाव होनेके बदले उसकी चमक भीतर से बाहर आ जाती है। इसी प्रकार साधकको ज्यों ज्यों कष्ट आता है त्यों त्यों वह अधिक चमकता है, अर्थात् कर्मके नियमोंके प्रति वह सहज बन जाता है।

ऐसा वीर और निर्भय साधक ही मृत्यु आनेसे पहले इसका जो संदेश आता है उसे सुन या समझ सकता है, और मृत्युकी अंतिम महामूल्यवती पलोंको सफल कर सकता है। यद्यपि ऐसा संदेश तो मृत्युसे पहले प्रत्येक जीवको मिलता है, परंतु जो

मोहकी आंधीसे घिर कर बहरे हो गए हैं, वे इस गूढ संदेशको देख, सुन या पढ़ नहीं सकते।

उपसंहार—आत्मलक्ष्यी प्रवृत्ति ही निवृत्ति है, निवृत्ति साधक ज्यों ज्यों अनुभवमै स्थविर Adult होते जाते हैं। त्यों त्यों जिज्ञासुको अपने अनुभवका अमृत योग्यतानुसार औरोंको देते जाते हैं। शारांश यह है कि यह सदुपयोग ऐसे साधकका सहज धर्म हो जाता है। वे प्रत्येक क्रियामें इसरीतिसे सहज होते हैं तथा क्रियाके फलमें भी समभावी और समाधिवंत होते हैं। ऐसे अडिग साधकोंको कोई भी निमित्त हिला नहीं सकता। या कोई भो कर्म इनकी सागरके समान गंभीरताको क्षुब्ध नहीं कर सकता। ऐसा साधक चाहे जैसे संयोगोंमें केवल साधनाको लहरको झीलता रहता है।

इस प्रकार कहता हूं

धूत नामक छठवाँ अध्ययन समाप्त।

महा परिज्ञा

७

+सात उद्देशकोंसे अलंकृत यह सातवां महा-परिज्ञा नामक अमूल्य अध्ययन विच्छेद हो गया है, उपलब्ध नहीं होता ।

इसविषयमें यह भी कहा जाता है कि जब भगवान-वीरसवत् ९८० में श्रीमान देवर्द्धिक्षमाश्रमण-गणिवरने यह सूत्र पुस्तकारूढ़ किया तब सातवें अध्ययनमें बहुतसी चमत्कारिणी विद्याओंका उल्लेख होनेसे वह किसी ऐरे गैरे नत्थू खैरे(अनधिकारी) के हाथ में जानेसे उसके दुरुपयोगका अधिक संभव प्रतोत होने लगा, और इसीकारण वह अध्ययन न लिखा जा सका ।

चाहे कुछ भो हो, परन्तु ऐसा उत्तम अध्ययन आज हमारी दृष्टिसे एक दम अदृष्ट हो गया है इसके बदलेमें समवेदना प्रगट करनेके अतिरिक्त हम और क्या कर सकते हैं ?

+कोई इस अध्ययनके १९ उद्देशक मानते हैं ।

विमोक्ष

८

विमोक्षका अर्थ त्याग है, वृत्तिकारको भी यही अर्थ सम्मत है, परन्तु वह यहां पदार्थत्यागकी अपेक्षा करते हुए विशेषतया अन्यान्य तत्व या जिनका जीवनके साथ सम्बन्ध है उनके त्यागके साथ सम्बन्ध रखता है, यह सदैव स्मरण रहे।

किसीके मनमें यह प्रश्न उठ सकता है कि बाह्य पदार्थके त्यागके बाद क्या कुछ और त्यागना बाकी रहगया है? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं, कि—मुनिसाधकको त्यागी होनेपर तृष्णादि वृत्तियों पर विजय पानेकेलिए दूसरे भी अनेक त्याग करने हो हैं, क्योंकि बाह्यपदार्थोंका त्याग तो साधनाको शालामें योजनापूर्तिकेलिए उपयोगी है साधनामें जुड़नेके बाद त्याग करना है, वह मुख्यतया उपादानकी शुद्धिके लिए है। उपादानकी शुद्धिका अर्थ है वृत्तिपर लगे हुए कुसंस्कारोंकी शुद्धि। यह शुद्धि होनेके पश्चात् ही जीवनमें उच्चगुण विकसित होते हैं। यह बात लोकसार और धूत नामक अध्यायमें अधिक विस्तारके साथ बताई गई है। अब सूत्रकार आठवें अध्ययनमें अवशेष दूसरे त्याग करनेकी सुन्दर सूचना करते हैं।

पहला उद्देशक

कुसंग परित्याग

पहले उद्देशकमें संगदोषके त्यागकी विचारणा की गई है। संगतिका प्रभाव जोवनपर बड़े महत्वका (भाग) आकर्षण है। उसमें भी बालकमानस पर तो उसका अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसा विज्ञानवेत्ता कहते हैं। साधक भी जब साधनामार्गकी ओर झुकता है तब पहले तो वह द्विज अर्थात् फिरसे पैदा हुआ और साधनाके क्षेत्रका विल्कुल अनुभवशून्य होनेसे बाल गिना जाता है। अर्थात् इसे यहां जिस अवलंबनकी आवश्यकता है उसे पूरा करता है।

जिसके संगसे सत्यकी ओर रुचि बढे वही सत्संग है। यह लोहचुंबकके समान है। जिज्ञासुवृत्ति लोहेका टुकड़ा है। प्रत्येक साधकमें जिज्ञासुवृत्ति मुख्यतया होनेसे सत्संगकी ओर वह सदैव खींच करता रहता

है। सत्संग उस साधनामार्गका नंदन वन है। इसके शरणमें जाकर यह संशय, ग्लान और थकान उतार डालना चाहता है। ऐसे प्रसंगमें उसका हृदय प्रेम और श्रद्धासे इतना मराबोर हो जाता है, कि वह सत्संगका कल्पवृक्ष है या ऊपरसे दीखनेवाले दंभी सत्संगीरूप कुसंगका किंपाक(विष)वृक्ष है। इसे देखनेकी या पता लगानेकी उसे अन्वेषकबुद्धि होते हुए वह उसका उपयोग करनेमें रोकता नहीं। ऐसे प्रसंगमें दूसरे दंभीसंगके जालमें न फँस जाय और साधनामें दत्तचित्त (लीन) रहकर परिपक्व बनता जाय, इसकेलिए यहाँ संगदोषसे बचनेकेलिए बहुतसे नियम बताए हैं,। जो विशालदृष्टिसे देखने योग्य और विवेकबुद्धिसे आचरणीय हैं।

गुरुदेव बोलेः—

(१) मोक्षार्थी जंबू ! मैं प्रत्येक सदाचारी साधकको लक्ष्यमें रखकर कहता हूँ कि देखनेमें सुन्दर(जैन-धर्मका श्रमण)होते हुए चरित्रपालन करनेमें शिथिल भिक्षुको या दूसरे पंथके चरित्रहीन साधकोंको अतिशय आदर पूर्वक अशन(खाना)पान(पेय) खाद्य (मेवा आदि) स्वाद्य (मुखवास आदि) वस्त्र,

पात्र, कंबल या पैरपूंछना या रजोहरण आदि न दे, देनेकेलिए निमंत्रण न दे या उसकी सेवा भी न करे।

विशेष—पहली बार तो पाठकको इस सूत्रमें संकुचितता का दर्शन होगा। जो जैनदर्शन विश्वदर्शन की योग्यता रखता है तब क्या इस दर्शनके लिए इतनी संकुचितता अक्षम्य गिनी जाय। परंतु इससूत्रके सम्बन्धमें इतना स्मरण रहे कि (१) ऊपरका कारण मुनि साधकको उद्देश्यकर कहा गया है। गृहस्थ साधक और मुनिसाधकमें जितना अंतर है, उतना ही नियमोंमें भी अंतर होना चाहिए।

गृहस्थ साधक अल्पसंयमी अथवा अल्पत्यागी माना जाता है, क्योंकि मुनिसाधकने सब पदार्थोंपर अपना स्वामित्व (अधिकार) उठाकर भिक्षुजीवन स्वीकार किया हैं। इसीलिए मुनिसाधक भिक्षा माँगकर साधनाकी दृष्टिसे आवश्यकताके अनुसार ले सकता है। (२) जहाँ अपने लिए आवश्यकताके अनुसार ही लिया जा सकता है वहाँ दूसरेको देनेका विधान न हो सकना स्वाभाविक है। मुनिसाधक भिक्षु ही होता है। एक भिक्षु किसीके पाससे लेकर किसी दूसरेको देनेके लिए दातार बनने जाय तो उसमें दातापन या उदारता नहीं है, बल्कि वृत्तिकी शिथिलता है। दानीसे संयमीकी और संयमीसे

त्यागकी इसतरह उत्तरोत्तर उच्चभूमिकाएँ हैं। एक त्यागी आदर्शत्यागका पालन करता हो, आत्मभानमें मस्त हो, तो वह जगत्पर महान ही उपकार करता है। यह बात दीपकके समान स्पष्ट और समझने योग्य है।

पहले तो इसी दृष्टिसे यह वृत्ति छोड़ने योग्य है। तो भी एक भिक्षुसाधक दूसरे भिक्षुसाधकको अन्न, पानी या वस्त्रादि उपकरणकी अतिआवश्यकता हो और फिर भी उसे न दे। सारी भिक्षु संस्था व्यवस्थित और प्रेममय जीवन न बिता सके इस हेतुसे सूत्रकार स्पष्ट करते हैं कि भिक्षु कारणवश दूसरे भिक्षुको अन्नवस्त्रादि दे सकता है, और शारीरिक रोगादि या किसी कारणविशेषसे सेवा भी कर सकता है। परन्तु 'आदरपूर्वक नहीं' यह पद देकर यह कहा है कि यह सब उपयोगिताकी पूर्ति जितना ही हो, बिना कारण नहीं। कईबार बहुतसे मुनि साधकोंको ऐसी आदत होती है कि वे दूसरे मुनिसाधकके पास अन्नवस्त्रादि सामग्री हो तो भी बलपूर्वक देने लगते हैं। इसमें उनके आदरभावको पानेकी या स्वयं उदार और सेवाभावी है दूसरोंको यह दिखानेके लिए वृत्ति प्रतीत होती है। सूत्रकार यह कहते हैं कि वह वृत्ति मुनिसाधकके लिए जरा भी इष्ट नहीं है, क्योंकि इसकी गहराईमें दोष है।

+सामान्यरीतिसे 'समनोज्ञ' शब्दमेंसे सदाचारी और 'असमनोज्ञ' शब्दमेंसे असदाचारीका अर्थ निकल सकता है। वृत्तिकार संभोगी और असंभोगी अर्थको भी मानता है। परंतु समनोज्ञ शब्द यहां भिक्षुश्रमणके आशयसे उपयुक्त नहीं हुआ है। यह तो वेषश्रमणके आशयसे उपयुक्त है। सारांश यह है कि संयम या त्यागमें पूरा लक्ष्य न हो ऐसे किसी मुनिको भी किसी प्रकार की सामग्री न दे। क्योंकि—

(१) इसे सामग्री देनेसे दिए हुए पदार्थ इसके पास अधिक होनेके कारण उनका दुरुपयोग होना पूर्णरूपसे सम्भव है।

(२) पदार्थोंके लेनदेनसे परिचय बढ़नेका साधन भी है। इसका परिचय सम्पर्क बढ़ाना हानिकारक है। उसके साथ

+नियुक्तिकारो यदाह तत्तु यथा पुनश्चारित्रतपोविनयेष्वसमनोज्ञाः यथाच्छंदास्तु ज्ञानाचारादिष्वमनोज्ञाः।

वृत्तिकारस्तु समनोज्ञो दृष्टिता लिंगतो न तु भोजनादिभिस्तद्विपरीतस्त्वमनोज्ञः।

भावार्थ—

नियुक्तिकार स्वच्छंदी या चरित्र, तप तथा विनयमें समानवृत्तिवाला न हो उसे असमनोज्ञ और लिंगसमान होते हुए आचार समान न हो उसे समनोज्ञ कहते हैं। वृत्तिकार संभोगी और असंभोगी अर्थ ग्रहण करता है। परंतु असंभोगी का अर्थ मात्र स्वधर्म और स्वलिंगी ही लिया गया है। आंतरादि व्यवहारसे वह संभोगी न होकर असंभोगी का अर्थ तो स्पष्ट ही है।

परिचय न रखनेकी सूचना इसलिए भी की है कि संगदोषका प्रभाव अपने जीवन पर भी पड़ता है। मानलो कि कभी प्रभाव न भी हो तो भी दूसरे कई अनिष्ट कुछ कम नहीं हैं। जैसे:—

(१) पोछे या पतित मानसवालेके साथ परिचय या व्यवहार रखनेसे समाजके मानसपर अपने लिए बुरी छाप पड़ती है।

(२) अपना अनुकरण करनेवाला वर्ग उसे भी सदाचारी समझकर अनुसरण करने लगते हैं और परिणाममें ठगे जाते हैं।

यह अनिष्ट समाजमें आदर्श समझी जानेवाली व्यक्तिके लिए कुछ कम भयंकर नहीं है। इसलिए इस अपेक्षासे जान-बूझकर भी गृहस्थ या भिक्षुको अपने वस्त्र, पात्र, या ऐसी सामग्री न दे। प्रसंग आ पड़े तो मात्र भिक्षू को दे सकता है, और वह भी मात्र इसकी आवश्यकताकी दृष्टिसे दे, परिचय बढ़ानेके विचारसे नहीं! कुसंगका परिचय सर्वथा त्याज्य है। इस सम्पूर्ण सूत्रका यह आशय है।

(२) अथवा(कभी)ऐसे असंयमी साधु(स्वयं उनसे कुछ न मांगकर उलटा उन्हें देनेका प्रयत्न करते हुए)यह कहे कि मुनिओ! तुम इसबातको निश्चयपूर्वक याद रक्खो कि 'हमारे यहां से खानेपीनेकी सब वस्तुएँ तुम्हें सदैव मिल सकेंगी, इसलिए किसी

दूसरी जगह मिले न मिले, तुमने भोजन किया या नहीं, तो भी हमारे स्थानपर अवश्य पधारें। हमारा स्थान आपके आने जानेके मार्गपर ही है। और न हो तो भी क्या? जरा चक्कर खाकर आ जाइएगा। इसप्रकार ललचाकर ये चरित्रहीन साधु रास्तेसे आते जाते समय कुछ देने लगें, या देनेकेलिए निमंत्रण करें अथवा कुछ सेवा चाकरी करनेलगें तो भी इसे न स्वीकारकर इनके संसर्गसे सदाचारी भिक्षु सदा अलग रहे।

विशेष—असंयमी होनेपर भिक्षुसंस्थामें मिले हुए साधकों को मुनिसाधक वस्त्रादि सामग्री बलात्कारसे न दे। इतना कहनेसे सूत्रकारका पूर्णआशय स्पष्ट न होनेसे सूत्रकार दूसरा सूत्र कहकर यहाँ अपना सम्पूर्ण आशय प्रगट कर देते हैं। वे यह कहना चाहते हैं, कि विभिन्नधर्मवाले "वैष्णव, बौद्ध या ऐसे ही अन्य सम्प्रदाय धर्मवाले या दूसरे गच्छवाले" ऐसा अर्थ करके इनसे अलग रहे इसका कोई यह अर्थ न लगा ले! यहाँ विभिन्न धर्मवाले कहनेका सूत्रकारका आशय विभिन्नवृत्तिवाले अर्थमें है। एक त्यागके ऊपर झुकनेवाला हो, तब दूसरा त्यागीका वेश होते हुए भी भोगपर मरनेवाला हो, तो वह भिन्न धर्मवाला समझा जाता है। ऐसेका संसर्ग भयंकर सिद्ध होता है। इसलिए ऐसे साधकोंके परिचयमें न आये। यही कहकर वस्त्र, पात्र या सेवा ये सब अंग परिचय बढ़ानेके

निमित्तरूप होनेसे वस्त्र, पात्र देना या सेवा आदि न करे। इतना ही नहीं वल्कि उनके पाससे कुछ ले भी नहीं। ऐसा यहां समझाया गया है। तो भी कोई इसवातको एकांतरूपसे पकड़कर उनके साथ अविवेकपूर्ण व्यवहार न कर डाले। इसलिए तीसरे सूत्रमें इसवातका रहस्य स्पष्ट किया गया है। सारांश यह है कि सूत्रकारका आशय किसी भी (फिर चाहे वह अन्यमंडलका हो या अपने मंडलका) पतितके साथ द्वेषवृत्ति बढ़ाना या उसकी निन्दा करना नहीं कहा है। मात्र ऐसे संगदोषसे वचनेका कथन किया है क्योंकि जहाँ तक साधक सत्यमें सम्पूर्ण स्थिरता न पा सका हो वहाँ तक संगदोष तथा संयोगोंके प्रभावसे इसके पूर्वअध्यास जोर करके इसे सन्मार्गभ्रष्ट न करदें ऐसा भयका होना सम्भव है। इसभयसे बचनेकेलिए यह बात कही गई है। वाकी तो अपनी दृष्टिसे पतित दिखनेवाली व्यक्ति भी कई बार पवित्रताकी मूर्ति वन जाता है। इसलिए ऐसी उधेड़बुनमें पड़कर कोई भी साधक अपने आत्माको निन्द्यप्रवृत्तिमें धकेलनेकी प्रवृत्ति ही न करे। और प्रत्येक क्रियामें विवेक बुद्धि रक्खे।

(३) जंबू ! कई साधक बेचारे ऐसी भूमिकापर होते हैं कि जिन्हें क्या ग्राह्य है ? क्या आचरणीय है ? इसका भी स्पष्टज्ञान अभी नहीं हुआ है। ऐसे साधकोंको अधर्मिओं (विभिन्नवृत्तिवालों) के अंधअनुकरणमें मिलते देर नहीं लगतो। वे अमुकको मारो

यह कहकर दूसरोंके द्वारा जोवोंको मरवा डालते हैं। अथवा प्राणिहिंसा करनेवालेको (गुप्त या प्रकट रीतिसे) अनुमोदन देते हैं। दाता द्वारा न दी हुई वस्तु ले डालते हैं। और इसप्रकारकी अज्ञान तथा भ्रमजनक युक्तियां दिया करते हैं।

उनमेंसे बहुतसे कहते हैं कि "लोक है" कुछ कहते हैं कि "लोक नहीं है," कुछ कहते हैं कि "लोक स्थिर है" कुछ कहते हैं कि "नहीं, अखिल संसार अनादि है"। कोई कहते हैं "इस लोकका अंत है," तब कोई कहते हैं कि "इस संसारका अन्त नहीं (अर्थात् अनन्त) है"। कोई कहते हैं कि "(पापकर्मकी अपेक्षा) यह ठीक किया," दूसरा कहता है कि "यह बुरा किया"। कोई कहता है "यह कल्याण है" दूसरा उसी कार्यकेलिए कहता है कि "अकल्याण है" एक कहता है कि "यह साधु है" कोई उसीको कहता है कि "यह असाधु है"। बहुतसे कहते हैं कि "सिद्ध है" बहुतसे कहते हैं कि "सिद्ध ही नहीं है"। कई कहते हैं कि "नरकगति है" कई कहते हैं कि "नरकगति है हो नहीं"।

विशेष—इससूत्रमें सूत्रकार अपने आशयको अतिस्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि संगदोष कमजोर विचार वाले साधक पर अपना बुराप्रभाव डाल सकता है। इसलिए उन्हें यह त्याज्य हैं। इसबातमें शंकाके लिए कोई स्थान नहीं हैं। और इसका परिणाम क्या होता हैं यह भी इसमें बताया हैं। साथ ही यह विषय मानसशास्त्रसे भी अधिक सुसंगत बैठता हैं। जोकि सहज प्रतीत हो रहा है।

साधनामार्गमें हिंसा, परिग्रह और कुतर्क ये तीन महान दूषण हैं। ये दूषण ऐसे संगसे कच्चे साधकमें घुस जाते हैं। इसलिए वह संग क्षम्य नहीं है। इससूत्रके उत्तरार्धमें ये तीनों दूषण एकदम पैदा होते हैं, उसकी सूची बताई हैं।

इसक्रमसे चार्वाकमतसे लगाकर ठेठ अन्यदर्शन, मत और पंथोंकी मान्यता तक का समावेश हैं।

(१) यह जगत स्थावर और जंगम-चर और अचर इन दोनों पदार्थमय हैं, इसपृथ्वीमें नौखंड और सातसमुद्र हैं। परलोक हैं, पापपुण्य है, पाँच महाभूत हैं और बंधमोक्ष है। इस प्रकारकी मान्यता वेदांतके एक द्वैतमतपक्षकी है।

(२) लोक है ही नहीं, जो कुछ दिखता हैं वह मायाजाल है। परलोक ही नहीं हैं तो पापपुण्य कैसे हों? यह शरीर भौतिक ही है। यह मान्यता चार्वाकमतकी हैं।

(३) यह सारा विश्व सदा नित्य ही है। मात्र इसका आविर्भाव और तिरोभाव हो होता रहता है। इसका कभी नाश होता ही नहीं, यह मान्यता सांख्यमतकी है। कारण वे

यह मानते है, कि "असतोऽनुत्पादात्सतश्चानाशात्" जो असत् है वह पैदा नहीं होता और सत्का नाश नहीं होता।

(४) लोक चलायमान ही है,ऐसी मान्यता बौद्धमतकी है।

(५) यह सारा जगत आदि है और ब्रह्माकृत है, यह मान्यता वेदांतमतकी है।

(६) तब जगतके लिए ईश्वर स्वयं कर्तारूप नहीं है, मात्र प्रेरकरूपसे रहता है। यह मान्यता नैयायिक वैशेषिक मत की है। इस सूत्रके उत्तरार्धमें सूत्रकारकी कही हुई सब युक्तियों का और ऊपरकी मान्यताओंका सांख्य, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा इन छहों दर्शनोंका भी इस सूक्ष्मनिर्देशमें समावेश हो जाता है।*

इस प्रकार इन सब मत, पंथ या दर्शनोंने अमुक अपेक्षासे ही अपनी मान्यता जगत्के सामने रक्खी हैं। ये सब सत्यके

---

*इसरीतिसे उपरोक्त दर्शाए हूए अलग अलग मान्यताओं को टीकाकारने सुप्रसिद्ध दर्शनोंमें घटानेका प्रयत्न किया है। मेरी मान्यताके अनुसार सूत्रकारके समयमें इन दर्शनोंके दूसरे रूप होंगे। तो भी इनका दर्शनके रूपमें नहीं बल्कि मतोंकेरूपमें उल्लेख है। और इनके अभिधान इससे अलग रूपमें हैं। इनको क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादीके रूपमें बताया है। इस संबंधका विवेचन षड्दर्शन विषयका संक्षिप्त परिचय जो कि उपसंहारमें दिया गया है वहाँ (परिशिष्ट में) देखें।

ही अंश हैं। परंतु जब साधकदृष्टिके अपेक्षित सत्यपर वे वे मत, पंथ या दर्शनके अनुयायी पूर्णताका आरोप करते हैं, तब उसमें रहा हुआ सत्य भी दूषित हो जाता हैं। इतना ही नहीं बल्कि यही सत्य हैं, दूसरा नहीं, ऐसा एकांत आग्रह पकड़ बैठता है।

सत्यको कभी बुद्धि या हृदयसे नहीं समझाया जा सकता, एवं बाहरसे कहींसे लाया भी नहीं जा सकता। असलमें सत्यका आधार तो व्यक्तिके विकास पर है। जिसका जितना विकास होगा उतना ही वह चाहे जहाँसे और चाहे जब ले सकता है। इतना जिसे विश्वास हो, वही सत्यार्थी और सत्य-प्रेमी समझा जाता है। ऐसा साधक अपनी मान्यताको वितंडावाद या आग्रहसे किसी पर लादनेका प्रयत्न कभी नहीं करता। वह समझता है, कि मैं जिस दर्शनको मानता हूं उस दर्शनके स्थापक सर्वज्ञ पुरुष हों, अथवा मैं मानता हूं वह मत पूर्ण सत्य पर स्थापित हुआ हो, तब ही मैं तो इस महासागर में से मेरी योग्यता घड़े जितनी है तो उतना ही ले सकता हूं। और घड़े जितना पात्र सारे महासागरका वर्णन करने बैठे या सारे जगत्को उसमेंसे पानी देने बैठे, तो यह धृष्टता ही समझी जाती है। यह तो मात्र इतना ही कह सकता है कि "मैं प्यासा था, तब अमुक दर्शन या मत में से तृषापूर्तिके लिए तो यह एक महासागर है मुझे ऐसा लगता है, और उसके ये कारण हैं।" इतना भी निराग्रह; निस्स्वार्थ और सरलबुद्धिसे कहे। इसीमें स्व और पर या उभयका श्रेय और

शासन या दर्शनकी प्रभावना है। इससे अधिक कहना या वितंडावादमें खिंचजानेमें स्व और पर किसीका भी हित नहीं।

जैनदर्शनका स्याद्वाद विश्वके सब मत, पंथ, सम्प्रदाय या धर्मोंका इसतरह समन्वय कर देता है। वह यह सिखाता है, कि जगतके सब दर्शन अमुक अपेक्षासे सत्यके ही अंश हैं— कोई विकसित और कोई अविकसित। परंतु अमुक अंश जब दूसरे अंशोंमें न मिलता हो, एक दूसरेका तिरस्कार करता हो तब वह विकृत हो जाता है, और सत्यसे मिटकर सत्याभास बन जाता है। जब यह स्थिति होती है तब मत और उसके अनुयायियोंके लिए वह नावसे मिटकर पत्थररूप हो जाता है। इस संसाररूपी महासागरमें स्वयं डूब जाता है और उसके पकड़ने वालोंको भी ले डूबता है। परंतु जो मत, पंथ या दर्शन दूसरोंके सत्योंको पचानेकी शक्ति रखता है, वह उदार और संगठित बनकर पूर्णसत्यके मार्गमें गति करता है, और अपने अनुगामियोंको भी विकासका मार्ग ढूंढकर बता देता है।

जब मनुष्यको अपनी मान्यताका भ्रम होता है, तब वह ऊपरके लक्ष्यको भूल न जाय तो क्या करे? सूत्रकार नीचेके सूत्रमें उसका रेखाचित्र दिखलाते हैं:—यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना चाहिए कि अपनी मान्यतासे चिमटा न रहनेका मोह जागे तो उसे अकस्मात् नहीं बल्कि उसकी भूमिका जानना चाहिए। सामान्यरीतिसे जगत् मानवसृष्टिकी ओर देखतेहुए

एक मानवप्रकृतिका मानों लक्षण हो ऐसा भी दिखाई देता है और ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। अपनी मान्यता अपनेको चाहे जब पचा सके, यह एक सार्वत्रिक नियम है।

परन्तु आदमी अपनी मान्यताको अपनी रुचिके अनुसार मानकर ही नहीं बैठा रहता, उसे एक नईकिरण ही नहीं मान सकता, वल्कि वही अपनी मान्यताको पूर्णमानकर स्वयं उसीमें बेचैन रहता है। और इसरीतिसे सारे जगत्को ही असमंजसमें डाल देता है। भूलका मूल यहां ही है। प्रज्ञ और बुद्धिमान समझे जानेवाले साधकोंकी बुद्धिके द्वारोंके बंद होने का मूल कारण भी यही है।

ऐसा साधक विश्वके विशाल विद्यालयमें रचनात्मक शिक्षण देनेवाली विविधवस्तुओंमेंसे कुछ भी नवीनता नहीं पा सकता। उसके मनको कुछ नया लगे तो भी वह मात्र पुराने को सिद्ध करनेके प्रमाणरूपसे उसका संग्रह करता है। और इससे तो वह उलटा अधिकाधिक विकृत और भ्रममय होता है।

सारांश यह है, कि किसी भी मत, पंथ, सम्प्रदाय या धर्म की मान्यता जितने अंशमें उन उन मत, पंथ, सम्प्रदाय या धर्म के साधकको चाहे जितने अंशमें उन उनका सत्य पकड़े। और उस एक ही किरणमें संतोष न मानकर सत्यके सागर समान अन्तःकरणको अनन्तस्वरोंमेंसे उसे अनुकूल मिलनेवाले दूसरे जो जो आँदोलन मिलें उन्हें अवकाश देकर अपने सा० रे० ग०

म० द्वारा सुन्दर संवादकी साधनाको पूरा करे। क्योंकि आत्मा के इस दिव्य संगीतमें मग्न हो जानेमें ही इसका हित है।

(४) परन्तु प्रिय जंबू! वे तो मात्र कुयुक्तिसे धर्मको सिद्ध करना चाहते हैं, इतना ही नहीं बल्कि एक ओर कदाग्रह पूर्वक अपना माना हुआ धर्म ही सच्चा और मुक्तिदाता कहकर दूसरोंको उसमें ठसानेका प्रयत्न करते हैं। और दूसरी ओर दूसरे धर्मकी निंदा करते फिरते हैं। (वे स्वयं डूबते हैं और दूसरोंको डबोते हैं) ऐसे एकाँतवादी और कदाग्रहियोंका प्रसग आ पड़े तो तटस्थ साधकको उन्हें यही उत्तर देना चाहिए, कि तुम्हारा कहना अकस्मात् (हेतु और विवेक से रहित) है, क्योंकि सर्वज्ञ सर्वदर्शी और जगतकल्याणके इच्छुक भगवानने कहा है, कि:—जो अपनेको ही सत्य मानते हैं या कहते हैं वे एकाँतवादी हैं और सत्यसे स्वयं ही दूर रहते हैं। (इसरीतिसे कहकर समर्थ और बुद्धिमान साधकोंको ऐसे कदाग्रही साधकोंके पल्ले पड़नेपर उन्हें समझानेका प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु यदि उनसे कोई भी हेतु पार न पड़ता हो तो) उन्हें ऐसे प्रसंगमें मौन रहना चाहिए।

विशेष—इससूत्रमें अनेकांतवादकी किरणें अधिक प्रकाशित रूपसे दृष्टिगत होती हैं। यहाँ यह स्पष्ट किया और

समझाया गया है कि जैनदर्शन क्या है। सूत्रकार कहते हैं, कि मान्यताके भ्रममें आग्रहबुद्धिको अधिक अवकाश प्राप्त है, और कालांतरमें आग्रह कदाग्रहका रूप धारण कर लेता है। कदाग्रह अर्थात् अपने मतको पकड़कर रखनेकी जटिल और जडवृत्ति है। इस वृत्तिको महापुरुषोंने जलौकका स्वरूप दिया है। यह वृत्ति अनिष्टकाम करवाती है, कोई इसे जानता नहीं। धर्मकी ओटमें होनेवाले अनर्थोंको तथा भ्रष्ट होनेकी वृत्तिके लिए होनेवाली हिंसाका इतिहास इसबातकेलिए पुष्टप्रमाणरूप है।

यदि दुनियामें प्रवर्तमान मत, पंथ, सम्प्रदाय या धर्मों का प्रारंभ खोजें, तो वे किसी काल और संयोगोंसे पैदा हुए हैं। उससमयका इतिहास देखते हुए ऐसा होना वास्तविक होता है, ऐसा विदित हुए बिना नहीं रहता। परंतु इसी मान्यताको जब त्रिकालाबाधित और पूर्णसत्यरूप मानकर उसके पीछे चलनेवालोंको अन्यकाल और अन्यान्य संयोगोंमें भी उसी रूपमें उसे रख छोडनेका आग्रह करे, और इस आग्रहसे चिमटकर रहनेके लिए दूसरी बाड़ रचे। ऊपरके सूत्रमें तो सूत्रकार कहते हैं कि उन वाडोंको दूसरोंपर बलात् लादनेका प्रयत्न हो, तब वह मान्यता एकांत और अनर्थकारी बने तो इसमें क्या आश्चर्य है? परंतु सत्यार्थी साधक इसप्रवाहमें खिचकर अपने पतनको न्यौता न दे बैठे, इसीकेलिए सूत्रकार यहाँ स्पष्ट कहते हैं, कि ऐसी उधेडवुनमें सत्यार्थी साधक न पड़े। या दूसरेको उसमें गिरानेकेलिए साथ न दे। और हो

सके तो ऐसे मार्गमें जानेवाले साधकोंको वह प्रेमपूर्वक अपना अनुभव कहकर सन्मार्गमें मोड़नेका प्रयत्न करे।

सत्य केवल बुद्धिकी युक्तियाँ या हृदयके आवेशसे सिद्ध नहीं हो सकता, वह तो बुद्धि और हृदय दोनोंकी शुद्धि और समन्वय द्वारा पाया जा सकता है। सत्यार्थीको आग्रह किसका ? और हो तो भी अपने जितना ही हो; इस सत्यको जीवनमें उतारनेके प्रयोगके लिए हो, मान्यताकी अपेक्षासे नहीं; कदाग्रहीको तो मान्यताका ही आग्रह होता है, सत्यका नहीं होता, क्योंकि सत्यकी किरणें वहाँ नहीं पहुंच सकतीं। सत्याग्रही और कदाग्रहीका यह तारतम्य विचारने योग्य है।

इससूत्रमें दूसरी बात यह भी कही गई है कि अपनी मानी हुई मान्यता या आचरणमें लाया हुआ धर्म चाहे जितना उन्नत क्यों न हो तो भी उसका कदाग्रह या गर्व न होना चाहिए। और अन्यका आचरित धर्म अपने धर्मकी अपेक्षासे चाहे उतरता हो तो भी उसकी निंदा न होनी चाहिए। ऐसा करनेमें एकांत अनिष्ट है। फिर भी यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता हो तो भी सत्यार्थी उसके ऊपर क्रोध या रोष न करे, उसे प्रेमपूर्वक समझानेका प्रयत्न करे। यदि ऐसा होना अशक्य हो तो मौन रक्खे। इतना ही नहीं बल्कि सत्यार्थीके लिए यह हितावह है।

(५) यदि कोई विशेष प्रसंग आ पड़े तो मताग्रही साधक मुनिसाधकको संक्षेपमें इसप्रकार समझा दे कि "जो जो धर्मके बहाने पापकर्म हो रहे हैं (इन्हें

मैं नहीं मानता) उनसबको मैं छोड़ देना चाहता हूं" मेरी और आपकी मान्यतामें यही भिन्नता है।

विशेष—कदाग्रहीके साथ युक्ति प्रयुक्तिमें उतरने पर कई वार दूसरेको भी कदाग्रहका चेप लगजानेका भय है। इस से प्राय: मौन रक्खे, और विशेप प्रसंग आ पड़े तो धर्मकी वास्तविकता स्वयं जिस रीतिसे समझ पाया है उसी प्रकार शांतभाव और अनुभवपूर्ण रीतिसे समझानेकेलिए सूत्रकार महात्माने आगेके सूत्रमें वताया है।

इससूत्रमें यह स्पष्ट सिद्ध कर दिखाया है कि सत्यको भी किस प्रकार और किस आकारमें रक्खे। इसमेंसे सत्यप्रिय साधकोंको वहुत कुछ बातें जाननेको मिल जायँगी। एवं किसी भी मत, पंथ, सम्प्रदाय या धर्मसे घृणा भी न होगी, ऐसा फलित होता है।

जिस धर्ममें कदाग्रह या धार्मिक आवेश नहीं होता, जिस धर्मके संस्थापक नि:स्वार्थी तथा निर्दोष जीवन बिताते हों और जो धर्म केवल आवेश या मनोवृत्ति उछलनेपर या कोरी युक्तियों पर नहीं वल्कि सत्यके सुदृढ़ पाये पर प्रतिष्ठित हो, उसी धर्मको धर्म माना जाय, और उपरोक्त गुणोंसे विरुद्ध अर्थात् दोषोंसे दूषित हो उसे अधर्म समझा जाय, धर्म और अधर्मके पहचाननेका सत्यार्थीके लिए यही मापक यन्त्र है।

धर्मकी ओटमें जहां जहाँ अधर्मको देखे वहां उसे दूर करनेमें अपना बल लगाये, और जहां जहाँ सत्यको देखे वहांसे उसे स्वयं निस्संकोच और उदारभावसे खोजकर अपनाये।

सत्यार्थीके ये दो मूललक्षण हैं। इसकी क्रियासे यह स्पष्ट परख लिया जाता है, परन्तु इस अधर्मको दूर करनेका प्रयत्न करते करते भी इसका ध्येय तो केवल सत्यशोधनका और उसे स्वीकार करना ही है। सत्यकी खोज करने जाते हुए बीचके बाधक अनिष्टोंको दूर करनेकी क्रिया हो तो यह स्वाभाविक है। परंतु वह उसका ध्येय नहीं होता। इस आशयको कहकर अब नीचे के सूत्रमें सूत्रकार विवेकको मुख्य स्थान देते हैं।

(६) सत्यार्थी जंबू! जो साधक इतना विवेक समझे उसे गाँव में भी सत्यको आराधना करना सुलभ है और जंगलमें भी सुलभ है और जिसमें इतना विवेक नहीं है वह(यदि)गाँवमें रहे तो भी धर्मकी आराधना नहीं कर सकता और जंगलमें चला जाय तो भा धर्मकी आराधना नहीं कर सकता। इसप्रकार जगतके सब जीवोंके प्रति पूर्ण समभावसे जीवित रहनेवाले श्रीसर्वज्ञभगवानने अनुभवके पश्चात् ऐसा कहा है।

विशेष—धर्म विवेकमय दृष्टिमें है ऐसा ऊपरवाले सूत्र में स्पष्ट कथन किया गया है। जिस मान्यता, विचारणा या क्रियामें विवेकबुद्धिको स्थान न हो, उसमें अनेक दोषोंका होना सम्भव है। यह कहकर सूत्रकार बताते हैं, कि विवेकबुद्धिपर धर्मका बड़ा आधार हैं। दूसरी बात यह है कि स्थानकी कुछ भी महत्ता नहीं है। चाहे तो बस्तीमें रहे चाहे जंगलमें।

अनुभव भी यही कहता है, कि जिसमें विवेकबुद्धि जागृत नहीं हुई है वस्ती और जंगल दोनों उसपर समान प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जंगलमें जाकर भी अविवेकी अपने संसारको कल्पना द्वारा खड़ा कर सकता है; तब विवेकी साधक बस्तीमें रहते हुए संसारसे निर्लेप रह सकता है। संसार यह है कि पतन और विकासका सम्वन्ध स्थान, क्षेत्र या ऐसे किसी वाह्यनिमित्तके साथ नहीं है, वह तो उपादानके साथ है। इससे इतना फलित होता है, कि जो भी बाह्यनिमित्त, संयोग या क्रिया जितने अंशमें उपादानकी शुद्धिमें सहायता करे उतना ही उसका महत्व और उसकी उपयोगिता है।

(७) प्रिय जंबू ! इसीसे श्रीभगवान्‌ने उपादानकी शुद्धिको विशेष महत्व दिया है, और उस शुद्धिकेलिए मुख्यतासे साधकके तीन साथी तीन यम (व्रत) बताये हैं। आर्यपुरुष इनतत्वोंके रहस्यको पाकर सदा सावधान रहे।

विशेष—पहले सूत्रमें त्यागीके धर्मका और संगतिदोषसे वचते रहनेका मार्गदर्शन कराया है। परन्तु उसमें भी विवेक-बुद्धि तो होनी ही चाहिए। यह समझाकर इस सूत्रमें सूत्रकार ने उपादानकी शुद्धिके मुख्यसाधनोंका वर्णन किया है।

तीन याम तीनव्रतोंके अर्थमें हैं। वृत्तिकारने तो वय और व्रत दोनों अर्थ लिए हैं। टीकाकारका भी लगभग यही अभिमत है। फिर भी इसे यहाँ व्रतोंका अर्थ अधिक प्रस्तुत लगा है।

यद्यपि इस शंकाका होना शक्य है कि व्रत तो पांच ही होते हैं, क्योंकि भगवान् महावीरके समयकी यह बात है। इनकी तीर्थ-स्थापनामें पाँच व्रतोंको स्थान मिला है। परन्तु इस शंकाका समाधान ठीक तरह मिलता है। यहाँ बताए हुए तीन व्रतोंमें अहिंसा, सत्य और निर्ममत्वका समावेश है।

परमसत्य ध्येयरूप है, और अहिंसा तथा निर्ममत्व ये दो इसके साधन हैं। निर्ममत्वका सम्बन्ध प्रायः वृत्तिके साथ है। जितने अंशमें वृत्तिमें निर्ममत्वकी भावना दृढ़ होती है उतने अंश में क्रियामें अहिंसा उतरेगी और सत्यके अंश विकसित होंगे !

जो साधक वृत्तिमें निर्ममत्वभाव लानेका प्रयत्न करता हो, वह जननेंद्रिय और दूसरी इंद्रियोंका भी संयमी होता ही है। सबसे पहले स्त्रीमोहका त्याग और बादमें पदार्थोकी संग्रहबुद्धिका त्याग, ये दोनों निर्ममत्वमें प्रवेश करनेकेलिए पहली भूमिकाएँ हैं। इसलिए इसरीतिसे इन तीनव्रतोंमें पांचों व्रतोंका एक या दूसरी रीतिसे समावेश हो जाता है।

जितने अंशमें ये व्रत क्रियामें उतरते हैं उतने अंशमें वे आर्य गिने जाते हैं। यह कहकर(आर्यपद रखकर) सूत्रकारने आर्य गिने जानेवाले या आर्य होनेकेलिए चेष्टा करनेवाले मानवमात्रका यह सनातन धर्म है, ऐसी सूचना की हैं। आर्य शब्द किसी एक क्षेत्रका या किसी मत, पंथ या धर्मका शब्द नहीं है। 'आर्य अर्थात् सभ्य आदमी।' जगतके सब आदमी अपनेको सभ्य कहलाना पसंद करते हैं। इसलिए यह धर्म अखिल विश्व का है। विश्वकी शांतिका मूल भी धर्मके पालन करनेमें है, और इसमें यही सिद्ध है।

(८) मोक्षाभिमुख जंबू ! इसरीतिसे साथियोंकी आराधना करके जो क्रोधादि दोषोंके सामने लड़कर उनके बलको शाँत करता है, वही पापकर्मसे और पापोवृत्तिसे अलग रह सकता है। और यही अनिदान अर्थात् अपने आत्माको न बेचनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध हुआ है ।

विशेष—वीतरागभावकी पराकाष्ठा तक न पहुंचपाए तब तक क्रोधादि शत्रुओंके साथ द्वंद्व तो चलता ही रहता है। परंतु साधकमें और सामान्यजीवमें इतना ही अंतर है, कि एक इसके सामने लड़नेकेलिए खड़ा रहता है और दूसरा इसके वश में है। जो भीतरके शत्रुओंसे लड़नेको तैयार हुआ है वह कभी पहले पराजित हो तो भी उसमें जीतनेकी अभिलाषा तो है, अर्थात् दुगुना बल लगाकर सामग्री जुटानेकेलिए पुरुषार्थकी लागलगन है। और दूसरेमें यह बात नहीं है। जहां तक इतनी तैयारी न हो वहां तक पदार्थोंसे दूर रहना चाहे शक्य हो, परंतु पापकर्मसे छूटना शक्य नहीं है। और जो पापकर्मसे छूटनेकेलिए शक्तिमान नहीं है यदि वह अपनी आत्माका प्रतिक्षण दिवाला निकाल डालता हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जगतमें जो जो जीव परभावमें व्याकुल होकर स्वभावकी नीलामी करते देखे जाते हैं, उन उन जीवोंको यह एक भूमिका होनेसे वे ऐसा करते हैं। जहाँ बाहर ही खोजनेकी दृष्टि है वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक है। यदि यह स्थिति टालनी हो

और सच्चा विजेता बनना हो तो इन साथी सुभटोंको सबसे पहले अपना बना लेना चाहिए। इतना इससूत्रसे सुगमतापूर्वक समझा जा सकेगा।

(९-१०) हे साधको ! देखो:—ऊंची, नीची, तिर्छी और समस्तदिशाओं या विदिशाओंमें जितने जीव रहते हैं,उन प्रत्येक छोटे बड़े जीवजन्तुओंको कर्मसमारंभ लगा हुआ है। इसलिए विवेकपूर्वक समझकर मर्यादाको सुरक्षित रखकर प्रज्ञसाधक अपनेसे छोटे बड़े किसी भी जीवको स्वयं दंड न दे, दूसरेके द्वारा दंड न दिलावे और यदि कोई ऐसा करता हो तो उसका अनुमोदन भी न करे।

विशेष—जो अहिंसा, सत्य और निर्ममत्वको अपना साथी बनानेकेलिए कहा है वह जीवन व्यवहारमें कैसे उतरे ? इसका मार्ग बताते हैं। और इन दो सूत्रोंमें तो सूत्रकार महात्माने अधर्म और पापकी सारी उलझनें निकालकर उत्तम सुझाव दिया है। यह प्रत्येक साधककेलिए विशेष मननीय है। वे पहले सूत्रमें यह कहते हैं, कि इस जगत्में कोई भी देहधारी ऐसा जीवात्मा नहीं है, जो कर्मसमारंभसे-क्रियाओं से मुक्त हो, साधक फिर चाहे वे निवृत्तिक्षेत्र या प्रवृत्तिक्षेत्र, ज्ञानयोग या कर्मयोग या ऐसे ही किसी दूसरे क्षेत्रमें लगे हों उनसबको कुछ न कुछ क्रिया करनी पड़े यह स्वाभाविक है। किसी किसी प्रसंगमें शारीरिक और मानसिक इन दोनों

क्रियाओंमेंसे कोई एक मुख्य और दूसरी गौण होती है। परंतु 'क्रियाएँ नहीं हैं' यह तो नहीं कहा जा सकता। इसलिए दूसरे सूत्रमें कहा है, कि 'क्रियाएँ हैं इसलिये पापकर्म है' यह एकाँत नहीं है। जो मेधावी साधक उन क्रियाओंमें विवेक रखता है वह पापकर्मसे बच सकता है। और वह किस प्रकार बच सकता है इसका भी स्पष्टीकरण सूत्रकार महात्मा नीचेके सूत्रमें करते हैं।

अधर्ममें आत्माका पतन ही है। पापमें आत्माका पतन होता है और नहीं भी। अधर्म और पापकी यह तरतमता विचारने योग्य है।

दंडका आरंभ करना मानो हिंसक वृत्तिको स्थांन देना है। जितने अंशमें वृत्तिमें हिंसा या अहिंसा हो, उतने अंशमें क्रियाओंमें अधर्म या धर्म, पुण्य या पाप हो सकता है, यह इसका सार है।

(११) जो जीवात्मा (मूढता, स्वार्थ तथा अज्ञानके वश होकर)पापकर्म करता हो उसकी वह क्रिया 'हमसे किसप्रकार देखी जा सकती है' ऐसी भावना उत्तरकथित धर्ममय जीवनवाले साधकमें सहज होती है।

विशेष--परन्तु ऊपरके सूत्रोंमेंसे क्रियामें चाहे जैसा बर्ताव किया जा सके, ऐसा कोई उलटा अर्थ लेने लगे उससे पहले सूत्रकार इस सूत्रमेंसे ऐसे साधककी मनोदशाको स्पष्ट कर देते

हैं। जिसकी वृत्तिमें सच्ची अहिंसा स्थापित हो चुकी है, वह स्वयं कभी उपयोग शून्य क्रिया नहीं करेगा। इतना ही नहीं बल्कि जो विवेकशून्य क्रियायें करता हो उससे भी दूर रहेगा। यह कहकर वह एक व्यवहारिक दृष्टि खड़ी करता है। वह यह है कि अहिंसक हिंसा नहीं करता, इतना ही नहीं बल्कि हिंसा को देख भी नहीं सकता, अर्थात् हिंसाका विरोध भी करता है। इससे इतना स्पष्ट हुआ कि जैनदर्शनकी अहिंसा केवल निषेधात्मक ही नहीं है बल्कि विधेयात्मक भी है, अर्थात् अहिंसाका माप प्रेमपर निर्भर होना उचित है। साधक जितना विश्वप्रेमी है उतना ही अहिंसक गिना जाता है।

(१२) प्यारे मोक्षार्थी जंबू! इसप्रकार पाप-कर्मका रहस्य समझकर बुद्धिमान, संयमी और पाप-भीरू साधक इससे और ऐसे दूसरे दंडोंसे विरमता है।

विशेष—विवेकबुद्धि, सयम और पापभीरुता आदि सफल तब ही गिने जायँ जब हिंसाके संस्कार निर्मूल होकर वृत्तिमें अहिंसाका संचार हो।

उपसंहार—मनुष्यकी मतिभिन्नताके अनुसार भिन्न भिन्न विचार होना कुछ अस्वाभाविक या हानिकारक नहीं है, परन्तु अपने विचारोंको परमसत्य मानकर कदाग्रहमें पड़जाना, नये वाद या मतकी रचना करना, यही अस्वाभाविक और हानिकारक है! इसीसे जैनदर्शन एकांतवादमें न पड़कर अनेकांतवाद स्वीकार

करता है। कोई भी साधक एकांतवादमें न पकड़ा जाय इसलिए संक्षेपमें मुख्य मुख्य मतोंकी मान्यताका ऊपर दिग्दर्शन कराकर, कोई वाद या मत अपनी अपनी दृष्टिसे झूंठा नहीं है परन्तु उनको किसी एक को ही पूर्णसत्यकेरूपमें मानलेना ही ख़राब वस्तु है। यह समझाकर ऐसे मतमतान्तरके झगड़ोंमें न पड़कर साधकको उसमें जो कुछ सत्य हो उसको खोज करे और अन्य कदाग्रही साधकोंको भी उसका भान करावें।

जहां पाप नही, पापकी वृत्ति नहीं, स्वार्थ नहीं, वासना नहीं, झगड़ा बखेड़ा या कलह नहीं और 'सच्चा ही मेरा है' ऐसी भावना प्रबलरूपसे हो, वहाँ ही सद्धर्म टिक सकता है। ऐसा सद्धर्मी साधक चाहे जहां रहकर सत्यकी साधना स्वयं करे और अन्य साधकोंको मतिसे नहीं, मात्र वाणीसे नहीं, बल्कि बर्तावसे प्रेरक बने। सत्यकी साधना उपादान शुद्धिकी भावनाके अनन्तर आरंभ होती है। उपादानकी शुद्धि सत्यका एकलक्ष्यीपन, वीरतासे भरपूर अहिंसा, और अहंता तथा ममताका त्याग इन तीनसाधन द्वारा क्रमशः प्राप्त होती है।

एकके पाससे लेकर उसमेंसे किसी दूसरेको देना यह कुछ आदर्श दान नहीं है। अपनी आवश्यकताओं

को घटाकर उसमेंसे औरोंको देना आदर्शदान है। संयोगदोषका प्रभाव जीवनपर भयानकरीतिसे परिणमता है। जो अपने ही सत्यको पूर्णसत्य मानते हैं या कहते हैं या बोलकर बताते हैं, वे एकान्तवादी हैं। कदाग्रहका कुल्हाडा विकासवृक्षके मूलको ही काट डालता है। विवेकके बिना धर्म नहीं टिक सकता। क्रियाएँ तो सर्वत्र हैं, परंतु धर्म और अधर्मके भेदको समझो, पाप और अधर्म दोनो अलग वस्तु हैं। अधर्म का संबंध वृत्ति और क्रिया दोनोंके साथ है। पापका संबन्ध क्रियाके साथ है, परंतु वृत्ति साथमें हो और न भी हो। अधर्ममें आत्माका निश्चय पतन है, पापमें होता भी है और नहीं।।

इसप्रकार कहता हूं

त्रिमोक्ष अध्ययनका पहला उद्देशक समाप्त।

दूसरा उद्देशक

प्रलोभ जय

—०—

पहले उद्देशकमें कुसंग त्यागकी वास्तविकता बताई। इस उद्देशकमें साधनामार्गमें बारंबार उपस्थित होते हुए सामान्यतया दिखनेवाले प्रलोभन जो कि वसतोसंगसे दूर रहनेवाले साधकको भी पकड़कर अपने जालमें फँसा लेते हैं, यहां उन्हींका उल्लेख है।

प्रलोभन सोनेकी जंजीरके समान है, इसमें एक ऐसा आकर्षण है कि यदि कोई इसके बंधनमें न डालें तो भी आदमी उमंगमें आकर अपनी इच्छासे स्वयं वंध जाता है, और बंधजानेके बाद अपनेको भाग्यशाली या पुण्यशाली भी मानता है। लोकमें यह एक आश्चर्यजनक वस्तु है।

संयमके कठोर नियमोंसे व्याकुलित मुमुक्षु साधक

भी कई बार इस बेड़ीमें बंध जाते हैं, । और उनकी उससमयकी मानसिक दुर्बलता लाभ लेकर प्रलोभन अपना प्रभाव इनके मन पर दृढरूपसे स्थापित करते हैं। और अतिप्रयत्नोंसे प्राप्त होनेवाले संस्कारोंकी स्मृतिको भी ये नष्ट कर डालते हैं । इससे साधकका जीवन सांसारिक विषयोंके प्रति प्रेरित होता है, । ऐसे प्रसंगमें उसवृत्तिके पोषणकेलिए या क्षुद्राभिमानको पुष्टकरनेकेलिए ऐसे साधक किसी एक मान्यता या सिद्धान्तका बहाना लेकर अपना भक्तमंडल जमाकर वाडा-पक्ष बांधनेका मनोभाव सेवन करते हैं। जब ऐसे साधकोंकी परिस्थितिमें अतिवेग से और बिल्कुल ही परिवर्तन होते देखा जाता है, तब यह एकाएक होनेवाले पलट को देखकर इनके हितैषी या पूर्वपरिचितोंको दुःख, खेद या आश्चर्यकी मनोवृत्ति प्रगट हुए विना नहीं रहती ।

ऐसे साधकोंका पूर्वजीवन वैराग्यपूर्वक व्यतीत होनेसे जनताके मानसपर इसका पूज्यस्थान अंकित हो जाता है । इससे ये स्वयं ही नहीं बल्कि इनकी अनुरागरक्त जनता भी इनके इसमार्गका अनुमोदन करती है और दिलकी सच्चाई से अनुकूल होती है । इसीभांति

भक्ति, प्रेम और सत्संगके बहानेके नीचे इससाधककी भौतिकलिप्सा या मिथ्याडंबरका विस्तार होने लगता है।

यदि कभी वह साधक प्रलोभनमें बिल्कुल ही फँसकर अंतिम कोटिपर जा पहुँचे और त्यागके ध्येयसे ही पर हो जाय तो कईबार जनताकी ऊंघ उड़ जाती है, और फिर वे उसे छोड़ देते हैं। परन्तु यदि यह साधक स्वयं अर्धदग्धस्थितिमें ही पड़ा रहे तो इसकी गाड़ी आगे ही बढ़ती जाती है। परन्तु यह मार्ग अंतमें अपनेको और औरोंको दोनोंको हानिकारक ही सिद्ध होता है। इसीसे जिनभगवानोंने साधकोंके वर्ग बनाकर उन्हें उचित नियमोंका कठोर पालन करनेकी पूर्ण आज्ञा दी है। इसका अक्षरशः पालन करनेमें साधकको साधनाकी ठीक सिद्धि होती है।

आसपासके गंभीर प्रवाहसे बचनेकेलिए रचे हुए श्रमणसाधकके नियमरूपी किलेमें एक छिद्र भी हानिकारक सिद्ध होता है। इससे खाना, पीना या दूसरी सामान्यक्रियाओंमें उपस्थित होकर प्रलोभनपर विजय पानेकी ओर सावधानता रखनेकी सूचना करते हुए

गुरुदेव बोले:—

(१) भिक्षुसाधक श्मशानमें अथवा सूने घरमें,

पर्वतकी गुफामें, किसीवृक्षके नीचे, कुम्हारकी खाली जगह्में या दूसरे किसी एकांतस्थानमें फिरता हो, खड़ा हो, बैठा हो, सोया पड़ा हो और ऐसे प्रसंगमें इसे देखकर कोई पूर्वपरिचित अथवा कोई अन्यगृहस्थ उसके पास आकर भक्तिपूर्वक आमंत्रण करे कि आयुष्मन् ! तपस्विन् ! मैं आपकेलिए खान, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपूंछन आदि सुन्दर पदार्थ आपके उद्देश्यसे,नाना जीवोंके आरंभसे बनाकर, बिकती वस्तु लेकर, उधार लेकर, अमुकके पाससे छीनकर या कोई पदार्थ किसी दूसरेके पास होनेपर उसकी आज्ञा लिए बिना लाकर, और या मैं अपन घरसे लाकर देता हूं। अथवा अपने लिए यह मकान बनवाताहूं, या जीर्णोद्धार करवाता हूं, इसलिए आप(कृपाकरके)यहां रहकर और खाएँ पिएँ(रंग रली करें)।

विशेष—प्रतिमाधारी भिक्षुको ऐसा नियम होता है कि वह स्वयं किसी एक स्थानमें गया हो और वहां सन्ध्या होगई हो तब फिर वह स्थान चाहे जैसा हो उसी स्थानमें उसे रहना चाहिए। इस अपेक्षासे श्मशानके स्थानकी कल्पना भी की जा सकती है। ऐसा वृत्तिकार और टीकाकारका मत है। यद्यपि श्मशान और शुन्यागार(सूने मकान)का स्थान तो स्थविरकल्पी

और जिनकल्पी दोनोंकेलिए विधेय है ऐसा कईस्थलोंपर स्पष्ट उल्लेख हैं। जैसे उत्तराध्ययनसूत्रके दूसरे अध्ययनमें भी इसपदको स्थान प्राप्त है। वैसे तो कई स्थलोंपर ऐसा ही प्रमाण मिलता है तथापि वृत्तिकार और टीकाकार दोनों इस विषयमें असंमत होते हैं। क्योंकि वे इसे कहना चाहते हैं कि श्मशानके आसपासके अशुद्ध वातावरणका प्रभाव मनपर भी पूर्णरीतिसे पड़ना संभव होनेसे विधिनिषेधको माननेवाला, नियमबद्ध स्थविरकल्पी भिक्षुकेलिए कल्पनीय नहीं हैं। परंतु इस प्रकार कहनेका इन दोनों महात्माओंका मूल आशय श्मशानमें रात्रिवासकी अनौचित्यके बारेमें चाहे जितना हो ऊपरकी घटनासे यह मालूम होता हैं। परंतु वास्तविकरीतिसे तो इस रात्रिकी बात ही नहीं है। यद्यपि "यह पद रात्रिसूचक मानने के लिए ठीक कारण है" परंतु भिक्षुके पास भिक्षाके आमंत्रण केलिए संगत नहीं हैं। इसलिए इस दिन जितनी वात हो ऐसा मानना मुझे संगत नहीं लगता।

सूत्रकार महात्मा पुरुषने यहां निर्जरा सूचक स्थान निर्दिष्ट किये हैं। उसके पीछे यह आशय है कि जिस स्थल पर कोई भी न हो, भिक्षु को भोजन की आवश्यकता हो और ऐसे समय कोई आदर्श भक्त होकर भक्तिपूर्वक भोजन ले आवे या सुन्दर स्थानमें रहनेकेलिए न्यौता दे तो वह भी एक बलवान प्रलोभन समझा जाता हैं। फिर भी भिक्षु अपनी प्रतिज्ञाका, त्याग और नियमका यथार्थ पालन करे और वहां ही इस त्यागीके दृढ़ संकल्पकी कसोटी होती हैं।

त्यागीसाधक जीवन किसीकेलिए भी पीडाकारक नहीं होता और न होना ही चाहिए। इसका व्यवहार्यरूप सूत्रकार महात्माने इससूत्रमें व्यक्त किया हैं। आवश्यक या महत्वका साधन भी दूषित हो तो भी भिक्षु उसका उपयोग न करे। "दूसरा आदमी चाहे जहां से और चाहे जैसी रीतिसे कोई भी आदमी ले आवे तो इसमें मुझे क्या ?" ऐसे उत्तरदायित्वसे अलग और मूर्खतापूर्ण कथन त्यागीको शोभा नहीं देता। त्यागी तो जगतके लिए आदर्श पुरुष होता हैं। इसकी एक भी क्रिया विश्वके संबंधसे भिन्न नहीं होती। इसलिए यह सब तरहसे जागृत रहे और इसको प्रत्येक क्रिया तथा प्रत्येक श्वासोच्छ्वाससे जगतको आदर्श मिले ऐसे स्वाभाविक जीवनसे जीवित रहे!

यद्यपि यहां तो आहार आदि सामग्रीके आमंत्रण की ही बात है, इससे चाहे कुछ प्रत्यक्ष हानि न दीख पड़ती हो तो भी इतनी छूटसे प्रलोभनकी वृत्तिको वेग मिलता है उस वेगका परिणाम अवश्य भयंकर सिद्ध होता है। इसलिए ऐसे भविष्यसे बचनेकेलिए हो इससूत्रमें इस विषयपर बड़ा महत्व दिया गया है। क्योंकि यदि अनासक्तिकी पूर्णसाधना होनेसे पहले साधकमें प्रलोभनकी वृत्तिका अंश रह गया हो तो यह एक या दूसरी तरह उससाधकको प्रसंग पड़नेपर पकड़े जानेका प्रयत्न किए विना नहीं रहता और कई बार उसे अनुकूल आ जाता है, इसलिए वहां तक त्यागके ऊपर पूर्ण-लक्ष्य रखनेका आदेश दिया हैं।

(२) आयुष्मान् साधको ! (कभी ऐसे प्रसंग तुम्हें भी मिलजायँ तो) अपने उन जाने पहचाने मित्र अथवा अन्य मनस्वी गृहस्थोंको इसप्रकार कहो कि हे आयुष्मन् ! महोदय ! मैं आपके इस वचनको स्वीकार नहीं करसकता और उसका पालन भी नहीं करसकता। इसलिए तुम क्यों मेरेलिए उपरोक्त ऐसी आरंभादि क्रियाएँ करके खान, पान, वस्त्रादिकी खटपट करते हो और किसलिए मकान बनवाते हो ? हे आयुष्मान् ! गृहस्थ ! मैं ऐसे कार्यों से दूर रहनेके-लिए ही तो त्यागी हुआ हूं !

विशेष—त्यागीकी वाणीमें कितनी मृदुता होनी चाहिए, इसका ऊपरके सूत्रमें कितना अच्छा प्रत्यक्ष वर्णन किया गया है। सहज त्यागके विना ऐसे समय ऐसे वचन नहीं हो सकते। या तो यह साधक प्रलोभनमें आ जायगा यह किसी व्यक्तिपर कुपित हो जायगा। इसप्रसंगमें इन दोनोंमेंसे एक स्थिति हो जाती है। प्रलोभनका कारण तो स्पष्ट है। इसलिए ऐसे समयमें प्रलोभनमें आकर पकड़ा जाना आदमीकी वृत्तिकेलिए शक्य है। और इनमें कइयोंको प्रलोभन नहीं होता तो भी दूसरा और दर्द होता हैं। उनको अपने त्यागकी खुमारी चढ़ी होती है। 'मुझे ऐसे क्षुद्र आमन्त्रण करता है ?' अभी तक इन्होंने मेरे त्यागको नहीं पहचाना। इस ढंगका अभिमान इनमें कोप और घृणाकी वृत्ति उत्पन्न कर डालता है। यहाँ

ये दोनों ही भाव न आने पावें ऐसा विचार सूत्रकारने दर्शाया है ।

जितना रागमयपदार्थ त्याज्य है उतना ही द्वेषमयपदार्थ भी त्याज्य है । सच्चा त्यागी तो दोनों अवस्थाओंमें समभावसे रहता है । समता तो इसके जीवनका होका यंत्र Mariner's compass है यह न तो रागकी ओर ढुलकता है, न द्वेषकी ओर ।

(३) मुनिसाधक श्मशानादिमें फिरता हो या किसी दूसरे बाहरके स्थानमें विचरता हो उसे देखकर उस मुनिको जिमानेकी अपनी हृदयेच्छासे कोई गृहस्थ उस मुनिसाधकके निमित्त आरंभ द्वारा आहारादि देने लगे, अथवा रहनेकेलिए मकान बनवादे इसबातको वह साधक अपने बुद्धिबलसे किसी दूसरेके कहने या सुननेसे विचार आवे कि "यह गृहस्थ मेरेलिए आहारादि बनवाकर मुझे देना चाहता है, अथवा बनाया हुआ मकान देना चाहता है" तो ऐसे प्रसंगोंमें मुनिसाधक को पूरी शोध खोज करके इस घटनाको यथार्थरीतिसे अथसे अन्त तक जान लेना चाहिए, और परिचित होनेके बाद उस गृहस्थको स्पष्ट कह दे कि "मैं मुनिसाधक हूं, इसलिए मेरेलिए बनाए गए मकान या आहारका मैं उपयोग नहीं कर सकता ।'

विशेष—पहले और दूसरे सूत्रमें घरसे तैयार करके या लेकर मुनिके स्थानमें भिक्षादि देनेकी वात थी और ऐसा करनेसे आचार विचारमें शिथिलता आनेका दोष वताया गया था। इससूत्रमें मुनिसाधक स्वयं मांगने जाय उस समय भी वह कितना सावधान रहे, इसे समझाया है। इससे मुनिका बाह्यजीवन भी दूसरोंको वोझरूप न हो ऐसी पूर्णव्यवस्थाकी आवश्यकता सिद्ध होती है। और चौथे सूत्रमें तो इसवात पर सूत्रकार इससे भी अधिक भार रखते हैं। गृहस्थ साधकको भी इससे वहुत कुछ जानने सीखनेको मिलता है।

(४) कोई गृहस्थ मुनिसाधकको पूछकर (मुनिके इंकार करनेपर भी) छलप्रपंच करके अथवा विना पूछे व्यर्थका व्ययकरके तथा बड़ा कष्ट उठाकर, आहारादि बनाकर मुनिके पास लाकर रख दे तो उस आहारको मुनिसाधक नहीं ले सकता। और तब उसको अपनी भावना पूर्ण न होते देख वह गृहस्थ क्रोध करे, मारे या यों कहने लगपड़े, कि "इसे मारो, इसकी कुटाई करो, कत्ल करदो, जलादो, पकाडालो, लूटलो, इसका सब छीनलो, इसकी जीवनलीला समाप्त कर डालो, और सबप्रकारसे इसे खूब सताओ।" अचानक ऐसे संकटमें आपडने पर भी उससमय धैर्य और समता रखकर मुनिसाधक यह सब प्रसन्नतापूर्वक सहन करे। यदि

वह व्यक्ति सुयोग्य हो तो उसे ऐसे प्रसंगमें विवेक पूर्वक श्रमणवरोंके आचार(नियमों)से परिचित करनेका प्रयत्न करे, और यदि उससमय उपदेशका प्रभाव उलटा पड़नेकी संभावना हो तो मौन होकर उच्चभावनाके सन्मुख रहे। परन्तु ऐसे भयसे डरकर दूषित आहार न ले। मुनिसाधक प्रत्येक क्रियामें पूर्ण सावधान रहे, ज्ञानी पुरुषोंने यह बार बार कहा है।

विशेष—इससूत्रमें मूलनियमोंपर प्राणोंके अंत तक डटकर रहनेकी अडिगता और किसीकेलिए लेशमात्र भी भारभूत न हो, इसमें ऐसी साधुता स्पष्ट दिखलाई है। किसी भक्तका मन रखनेकेलिए नियमोंमें ढीला होना इसमें वृत्तिको दूषणता होती हैं, और दाता अप्रसन्न हो गया है या हो जायगा ऐसे भयसे उसका कोप घटानेकेलिए नियमोंको शिथिल करना वृत्तिकी निर्बलता है। ये दोनों दशा पवित्र और पूरे निडर त्यागी जीवन बितानेवालेकेलिए संगत नहीं हैं।

इससूत्रसे दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि जो अन्न पवित्र और संयमजन्य हो उस अन्नका प्रभाव संयमी जीवनके लिए अधिक सुन्दर एवं सहायक हो सकता है। इसलिए ऐसी भिक्षा प्राप्त करनेकेलिए प्रयास करना उचित है। उसके अपनेलिए बनाया हुआ अन्न भोजन अनेक दृष्टिसे त्यागीके लिए ग्रहण करना दूषित होनेसे त्याज्य है। इसलिए त्याज्य

है कि वह अन्न संयमजन्य नहीं समझा जाता। और जो अन्न संयमजन्य न हो उसका बदला देना ही रहा। तब ही वह ग्रहण हो सकता है। जगतकी किसी भी वस्तु पर जिसका स्वामित्व. अधिकार नहीं है ऐसा त्यागी क्या बदला दे सकता है? जिसका किसी क्रिया पर ममत्वभाव नहीं वहाँ मैं इतना करता हूं ऐसी भावना भी कहाँ से हो? त्यागी जगतका पर-मोपकारी और आदर्श होते हुए मैं जगतको देता हूं ऐसा उसके मनमें भी नहीं आ पाता। यह तो इसकी सहज क्रिया है। इसीसे जिसपर अपनापन स्थापित हुआ हो ऐसे किसी भी साधन से अन्न लेना त्यागीके लिए योग्य नहीं है। परतु जो गृहस्थ स्वयं अपनी आवश्यकतामें संयम करके मुनिको देता है उसी साधनाको ग्रहण करना त्यागोकेलिए उचित है। क्योंकि उस अन्नपर साधुके व्यक्तित्वका आरोपण नहीं है। और उसमें संयमके आन्दोलन ही बसे हुए हैं। यह विषय खूब गहराईसे मनन करने योग्य है। यह सूत्र त्यागीकी स्वाभाविकताका आदर्श स्पष्ट करता है। इतना ही नहीं बल्कि भक्त कैसी भक्ति करे और भक्तिका उपयोग मुनि भी किसप्रमाण में करे, इसीको यहां प्रत्यक्ष चित्रित किया है।

(५) समनोज्ञ साधु आदरपूर्वक असमनोज्ञ साधु-को आहार वस्त्रादि न दे, तथा निमंत्रण भी न दे, या सेवा भी न करे, इस प्रकार कहता हूं।

विशेष—विभिन्नवृत्तिवाले मुनिसाधकके साथ परिचय न रखनेकी बात पहले उद्देशकमें चर्चित की गई है। तब फिर

यहाँ इसका उल्लेख किसलिए ? यह संशय पहलेपहल होना संभव है, परंतु "प्रलोभन जय" में इस वस्तुको प्रविष्ट करने के दो प्रयोजन हैं; एक तो यह भी कि एक प्रलोभन है उसके बतानेका प्रयोजन है, और दूसरा पहले उद्देशकमें तो समनोज्ञके लिए इन्कार किया गया था और यहां समनोज्ञकेलिए सामग्री अर्पण करना ऐसा कहना एक विभिन्नता है।

समनोज्ञसाधक असमनोज्ञसाधकको आदर्शपूर्वक दे; वह प्रलोभन इसलिए कि ऐसा करनेसे असमनोज्ञसाधक उसकी प्रतिष्ठाका प्रचार करे। समनोज्ञ साधक आत्माभिमुखवृत्ति वाला होता है। तब असमनोज्ञसाधक प्रायः विश्वाभिमुख-प्रवृत्तिवाला होता है। लोकैषणाकी प्राप्तिमें वह स्वयं सदैव लीन रहता है। और जो लोकैषणामें मस्त होता है उसे तो अंधे जगतसे सब सामग्री पूरी पूरी मिली ही रहती है इसलिए इसे देनेमें आवश्यकताकी पूर्ति होती है, इसे माननेका कोई कारण नहीं दीखता। फिर भी उसे देनेकेलिए आदर और बलपूर्वक समनोज्ञसाधक तव ही प्रेर्य है जब उसके साथ संबंध बांधनेकी इच्छा हो, और इससंबंधके पीछे लोकैषणाकी भावना ही मुख्यतासे हो यह बिल्कुल संभावित है। इसलिए यहाँ यह प्रलोभन उच्चकोटिके साधककेलिए भी क्षम्य नहीं है। ऐसी सूत्रकारकी गहन सूचना है।

(६) परन्तु अहो साधक ! ज्ञानी भगवान महावीर प्रभुने ऐसा धर्म किसलिए और किसकेलिए बताया है ? उसका रहस्य समझें। (वरन् औंधा

पड़ना न पड़े) श्रमण भगवान महावीर देव यह वस्तु बार बार समझाते हैं कि सदाचारी मुनि सदाचारी साधुको आहार, वस्त्रादि इसकी आवश्यकताकी दृष्टिसे और आदरपूर्वक अर्पण करे, उसे देनेकेलिए निमंत्रित करे और उसको प्रसंगोपात्त सेवा शुश्रूषा भी अवश्य करे' इस प्रकार कहता हूं।

विशेष—इससूत्रमें सूत्रकार यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस सारे उद्देशकमें और जहाँ जहाँ जो जो बातें कही जायं वे सब किसकेलिए, और किसलिए कही जाती हैं, इसका सबसे पहले तो विवेक समझलिया जाय; फिर आगे ही इसका उपयोग करे।

"स्वधर्मः श्रेयान्" और "परधर्मो भयावहः" इसलिए कि अपना धर्म सामान्य हो तो भी अच्छा, परंतु परधर्म उच्च-कोटिका हो तो भी भयंकर! इसके पीछे ऐसा ही आशय है। सारांश यह है कि जिस भूमिका पर जो साधक होता है उसे स्वयं ही यह बात विचारकर क्रमपूर्वक आगे बढ़ना उचित है। उच्चभूमिकाके योगीकी क्रिया एक सामान्य कोटिका साधन करने जाय या उसकी परीक्षा करने बैठे तो यह स्व और पर दोनोंकेलिए भयावह है। इसे तो स्वयं जिसभूमिकाका मानस तृप्त करना है उसीके अनुसार विचारकर तथा उसमें से अपने लिए जो ग्राह्य हो उतना स्वीकार करके आत्माभिमुख दृष्टि रखतेहुए विकासमार्गमें प्रेरित होनेमें ही इसकी मर्यादा है।

उपसंहार—यदि सांकल सोनेकी हो तो भी वह सांकल ही है। विकासके मार्गका यह गतिरोधक बाधक कारण है। निर्भयता और आत्मस्वातन्त्र्य ये दो साधुताके मुद्रालेख हैं। साधक अपने मार्गमें एक ओर संकटके कांटे और दूसरी ओर प्रलोभनके फूल होते हुए व्याकुल न हो जाय। वह उसमें मुग्ध न बने, स्थिर और समभावभाविक हो कर रहे। पवित्र और निर्दोष रीतिसे साधना करता रहे, और अपने (आत्मा) में ही सदा मस्त रहे, सचमुच उसे यही अभीष्ट है।

इस प्रकार कहता हूँ

विमोक्ष अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त

———

दिव्य दृष्टि

अलग अलग मान्यता, वाद, दर्शन और धर्मों की इस विश्वपर असंख्यश्रेणीकी भूलभुलैया छाई हुई है। इनमें कौनसा मार्ग सच्चा है? इसको शोधकरना प्रज्ञसाधकोंको भी अतिकठिन कार्य प्रतीत होता है। ऐसे समय भगवान महावीर साधकजीवनको एक महत्ता और गंभीरतापूर्ण तत्वको अतिसंक्षेपशब्दोंमें समझाते हैं और दिव्यदृष्टि समर्पणकरके इसकी भावनामें अमीरस परोसकर किसरीतिसे जिज्ञासु साधकोंका समाधान करदेते हैं, उसे स्पष्ट करनेकेलिए मोक्षार्थी जंबूका लक्ष्यमें रखकर

गुरुदेव बोले:—

(१) ओ जंबू! बहुतसे साधक मध्यवयमें जागृत हो कर पुरुषार्थी हो गए हैं और उन्होंने त्यागमार्गको पचा लिया है।

विशेष—मध्यमवय युवावस्थाको कहते हैं। सूत्रकार महात्माने यहां यौवन अवस्थाका निर्देश किया है। इसके पीछे बहुतसे हेतु हैं।

यौवनवय अर्थात् जीवनका दुपहर, जीवन नौकाका होका-यंत्र, और उन्नत या अवनतजीवनके घड़नेकी मूल कुञ्जी है। बालवयमें देह और इन्द्रियोंकी स्पष्टता होना शक्य नहीं है और वृद्धावस्थामें भी देह और इन्द्रियां जीर्ण हो जाने से प्रगति को साधने की सम्पूर्ण अनुकूलता अशक्य है। परन्तु एक जवानी ही ऐसी अवस्था है कि उस समय बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त या बाह्य तथा आन्तरिक मन, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियाँ और देह आदि जो जो जीवनविकासकेलिए उपयोगी साधनसम्पत्ति प्राप्त होनी चाहिए वे वे सब सामग्रियाँ योग्यतानुसार प्रत्येक को प्राप्त हैं। जवानीमें देह और मुँहपर जो सौन्दर्य, उत्साह, ओजस और प्रतिबिम्ब दिखता है, वह सब इसका प्रतीति-रूप है।

सूत्रकार कहते हैं कि:—इस उमरमें जैसे एक ओर साधन और शक्ति प्राप्त होते हैं ऐसे ही दूसरी ओर इन साधनोंको बुरे मार्गकी ओर खींचनेवाले निमित्त भी उतने ही आमिलते हैं। जिनके पूर्वजंन्मोंके पाशव संस्कारोंका जोर नर्म पड़कर नवीन संस्कारसामग्री अभी विकसित नहीं होती, या जिन्हें विवेकबुद्धि प्राप्त नहीं होती ऐसे-अथवा ठीक कहा जाय तो जिनके ये साधनसम्पत्ति किसलिए हैं। तत्सम्बन्धी अपनी बुद्धि से जिन्होंने विचार न किया हो ऐसे आदमी सौन्दर्य, उत्साह,

ओजस्, और आकर्पणका दुरुपयोग करने लग पड़ते हैं। जितना शक्तिका पूर्णसंग्रह जवानीमें प्राप्त होता है, उतना शक्तिका अधिकसे अधिक दुरुपयोग या ह्रास भी इसीवयमें होता है।

ऐसे समय जागृतीका आना या जागृती लानेके निमित्तों- के मिलनेका आधार पूर्वपुरुषार्थके ऊपर निर्भर है जिसे हम पूर्वसंस्कार, उच्च प्रारव्धयोग या महापुरुपोंकी कृपाके नामसे पहचानते हैं।

जागृती आना अर्थात् विवेकवुद्धिको पाना है। वुद्धि तो मनुष्यमात्रमें होती ही है, परन्तु जहाँतक वुद्धिका अन्तःकरण के साथ सम्वन्ध नहीं होता वहाँ तक केवल वह विकल्पात्मक हो होती है, निर्णयात्मक नहीं। और जहाँ तक वुद्धि निर्णया- त्मक न हो वहाँ तक प्रगतिकी दशाका स्पष्ट न होना स्वाभा- विक है। सत्यासत्यका निर्णय तो हृदयका विकास होनेपर ही होता है, और उसकी उस निर्णयात्मक वुद्धिको ही विवेक- वुद्धिके रूपमें अवगत किया जाता है।

विवेकवुद्धिके जगनेपर ही ध्येयकी स्पष्टता होती है, और साथ हो सच्चे पुरुपार्थकी साध भी पूरी की जा सकती है। परतु सूत्रकार कहते हैं कि:—यौवनवयमें इस दशाका प्राप्त होना भाग्यसे हो शक्य है। इसलिए 'साधकोंने' ऐसा निर्देश किया है। फिर यहां 'कई' पदके निर्देशका दूसरा आशय यह है, कि त्याग सवके लिए सुलभ नहीं है, और सुलभ न होनेके कारण विकास नहीं है यह वात भी नहीं है। इससूत्रका सार इतना ही

है कि त्यागकी ओर का झुकाव ही पुरुषार्थका प्रधान हेतु होना चाहिए। बाह्यदृष्टिसे त्याग न दीख पड़े तो भी पुरुषार्थी तो आदर्शका गम्भीर और बहुत ऊंचा होता है। यह पदार्थ या साधनोंका उपयोग भोगवृद्धिको आवेश देनेमें सहायक निमटे ऐसा और इस रीतिसे नहीं कर सकता। बल्कि उल्टा भोग-वृत्तिको शमानेका ही प्रयत्न कर सकता है। ऐसा साधक आवेश से उत्पन्न रसानुभवको आत्माका सहज रसानुभव नहीं मानता, बल्कि वृत्तिके शमनसे होनेवाले अन्तःकरणके आल्हादको सहज रसानुभव मानता है। और इसीका अर्थी बनकर उसमें ही रचा पचा रहता है। दिव्यदृष्टिका मूल पाया यौवनके सुसंस्कारोंपर निर्भर है।

(२) बुद्धिमान साधक ज्ञानीजनोंके वचन सुनकर उनका अवधारण करता है।

विशेष—इससूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि यहां जो कुछ कहा जा रहा है वह केवल सुननेकेलिए ही नहीं है बल्कि आचरणमें लानेके लिए है। परन्तु इससे सबको ही आचरण में लाना चाहिए ऐसी बात नहीं है। और सब आचरण करने लग पड़ें तो सबको पचे भी कैसे ? इसीसे अवधारणपद रखकर स्वयं किस भूमिका में है ? और उसकी अपनी शक्ति कितनी है ? इसे विचारकर उसके अनुसार आचरणमें लानेकी सूचना की है।

ज्ञानीजन कहते हैं इसलिए ऐसा करता हूं इस अंधअनु-करणसे भी न करे। क्योंकि ज्ञानीजन तो प्रत्येकको संबोधन करके कहते हैं। इनका कहना तो अखिल जगतमहासागर जितना होता है। एक व्यक्ति सारे समुद्रको नहीं पी सकता, इसलिए स्वयं अपना भाजन निश्चित करके उतना ही और उसीरीतिसे उस दृष्टिकोणको ध्यानमें रखकर ले।

कहा भी है कि शास्त्रदृष्टि, महापुरुषोंका कथन और अपनी विवेकबुद्धिका उपयोग इस प्रकार इन तीन कसोटिपर चढ़ा हुआ आचरण विकासका साधक सिद्ध होता है। इससे निश्चय होता है कि आचरणमें लाना श्रवण या ज्ञानका ठीक फल है; पर आचरण वह करना चाहिए कि जो अपनी भूमिका से विकासके लिए साधक और सुयोग्य हो।

(३) आर्यपुरुषोंने "समतामें ही धर्म" का अनुभव किया है और दर्शाया है।

विशेष—यहाँ तो सूत्रकार गृहस्थसाधक और त्यागी साधक दोनोंके विकासमार्गकी पहेली अतिसुन्दर रीतिसे सुलझा देते हैं। इतना ही नहीं बल्कि संपूर्ण आर्यसंस्कृतिका मूल किसमें है उसे भी बता देते हैं। और यह आर्यसंस्कृति भ किसी अमुक देशकी ही है; ऐसा नहीं बल्कि अखिल जगत इस का अधिकारी भाजन है। इतना विशालभाव कह देते हैं। वे कहते हैं कि जगतमें जो जो आर्यपुरुष हो गए हैं, या होंगे उन सब पुरुषोंको 'समाजमें हीं धर्म हैं' ऐसा अनुभव हुआ है और होगा।

समतामें ही शाँतिका अनुभव मिलनेसे जगतकी सारी प्रजा समभावमें रमण करे और जो शान्तिकी मांग है उसे प्राप्त करे। इसकेलिए इन्होंने सबने एक या दूसरे ढंगसे यही मार्ग बताया है। अखिलविश्वमें साम्यवाद की सहज व्यापकता हो ऐसे अतिउदार और उच्च आशयसे अलग अलग क्षेत्र और अलग अलग लोकमानसका अनुलक्ष्य रखकर वहां वहांके आर्य-पुरुषोंने इस प्रकार धर्मतत्वका निरूपण किया है, इससूत्रका सारांश भी यही है।

(४) (भगवन् ! समता योगकी साधना कैसे हो ? उसके उत्तरमें गुरुदेव बोलेः—प्रिय जंबू ! भगवान् महावीरने जो कुछ कहा है, वह सब तुझे समझाता हूं। समता योगकी साधनामें (१) कामभोग की आकांक्षाका त्याग, (२) हिंसकवृत्तिका परिहार, और (३) परिग्रहवृत्तिका त्याग, ये तीनवस्तुएँ मुख्यसाधनरूप होनी चाहिए।) इसीसे आदर्शत्यागके पथमें चढेहुए मुमुक्षुसाधक भोगोंकी तीव्र आसक्तिको मनपर स्थान नहीं देते, किसी भी जीवका दिल दुखाना नहीं चाहते, और किसी भी पदार्थके ऊपर ममत्व न जगनेका खयाल रखते हैं। निग्रंथ जंबू ! और इसरीतिसे वृत्तिमें निष्परिग्रहता आनेसे सारे लोकके प्रति वे निष्परिग्रही रह सकते हैं। उनके निष्परिग्रही होनेका

प्रमाण यह है कि फिर वे प्राणीसमूहके साथ व्यवहार रखतेहुए भी पापकर्म नहीं करते। अथवा किसी दूसरेको दंडित करनेकी वृत्तिका त्याग करनेसे उनके द्वारा कोई भी पापकर्म नहीं होता। जिससाधककी ऐसो सहजदशा देखनेमें आती है, उससाधकको ज्ञानीजन महानिग्र'थ कहते हैं।

ऐसा साधक जन्म और मृत्युका रहस्य जानता है। ज्योतिमार्गका निष्णात समझा जाता है। और ओजस्वो होकर जगतकी दृष्टिसे अद्वितीय लगता है (अद्वितीय इसलिए कि जगत्की प्रवृत्ति निराली होती है, जगत् राग और द्वेषको बढ़ानेवाले, साधनों द्वारा साध्यको पाना चाहता है, यह साधक इस उल्टी रीतिका त्याग कर देता है, और साध्यको बाधक होते हुए सब कारणोंको दूर करके सच्चे साधनों द्वारा साध्यको पानेके पथमें पलता है।)

विशेष—परंतु अखिलविश्वके साथ उदारसमता "मेत्ती मे सव्वभूएसु" या "आत्मवत्सर्वं जगत्" ऐसे ऐसे सूत्रमात्र मुंहसे बोले जानेसे नहीं साधे जा सकते; इसलिए उनमहापुरुषोंने इसका व्यवहार्य मार्ग भी बताया है, इसप्रकार इस सूत्र द्वारा सूत्रकार यही कह देना चाहते हैं।

जैनदर्शनकारोंने साम्यवादकी व्यापकताकेलिए संयम, अहिंसा और तप ये तीन साधन दिखलाए, और इनसे उन्होंने धर्मके वे ही लक्षण बताए। त्यागका आदर्श भी इसी दृष्टि-कोणसे जैनधर्मको अभिमत है, यह भी इसी सूत्रमें है।

संयमके विना जगतमैत्रीकी साध पूरी नहीं की जा सकती यह बात अधिक समझनेकी नहीं है। और मित्रभाव आए विना समभावमें नहीं वर्ता जा सकता यह भी उतना ही स्पष्ट है। आत्मविरोध,मोह,जड़ता,स्वार्थांधता और निर्दयता आदि दोष असंयमके चिन्हरूप हैं।

संयम अर्थात् परिग्रह त्याग, इतना ही नहीं बल्कि यहाँ परिग्रहवृत्तिका त्याग करना बताया है जो कि अत्यंत मननीय है। जो परिग्रह वृत्तिके त्यागके ध्येयसे परिग्रहका त्याग करता है, वही आदर्श आत्मा अपनेको निष्परिग्रही बनाकर रख सकता है। वरन्(नहीं तो)यह एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जानेपर वहाँ भी एक को छोड़कर दूसरा परिग्रह बढ़ायगा ही। यह विषय अनुभवगम्य भी है। परंतु जिसने वृत्तिमें निष्परिग्रही रहना सीखा होगा, वह जगतके किसीभी क्षेत्रमें जा लगे तब भी वहाँ वह निष्परिग्रही ही रह सकेगा। जैनदर्शनमें जो "क्रिया लगनेकी" परिपाटी है वह इस अपेक्षासे है। उपयोगिताकी दृष्टिसे पदार्थोंकी मर्यादा करके परिग्रहवृत्तिका प्रयोग करने का नाम संयम है, और आत्मरक्षाका ध्येय रखकर संयमी भावनासे जो क्रिया होती है उसे अहिंसा कहते हैं।

जिस अहिंसामें संयम नहीं होता वह अहिंसा वास्तविक

अहिंसा नहीं होती, और वास्तविक अहिंसाकी कोई भी क्रिया दूसरेको दंड नहीं देती, यह स्पष्ट विचारने योग्य है। इसी प्रकार कदाचित वृत्तिके विपयमें दूसरेकेलिए दंडरूप बनने जा रही हो उसक्रियाको रोकनेकेलिए तपश्चर्या प्रवल निमित्त होता है। इस तरह अहिंसा संयम और तपकी त्रिवेणीसे युक्त धर्मके द्वारा कोई भी अधर्म नहीं होता।

इस सूत्रमें सूत्रकार एक दूसरी वात कहते हैं वह यह है कि ऐसे साधक जन्म और मृत्युका वास्तविक रहस्य सुलझाकर रख देते हैं। कथिताशय यह है कि "मृत्यु कुछ मृत्यु नहीं है बल्कि नए देहकी प्राप्तिका पूर्वरूप है या नए जन्मका शुभ-कारण है" इसप्रकार ऐसे भाव ज्ञानी साधकके समझे जाते हैं। अर्थात् इसकी प्रत्येक क्रिया निर्भय और प्रकाशमय होती है। फिर ऐसा साधक बाहरके निमित्तोंके साथ कभी नहीं लड़ता। बल्कि उल्टा उनके प्रति अधिक उदार और दयालु बनता है। यह मात्र आत्माका आवरण है, जो भीतर है, वही वृत्तिके साथ लड़ता है। जगतकी और उसकी समझके वीचमें यह एक महान् अंतर है। और इसीसे जगतकी दृष्टिसे वह अद्वितीय और तेजस्वी लगता है।

जो वस्तु अद्वितीय और तेजस्वी होती है उसकी क्रिया या ध्येयको जगत् नहीं पहुंच सकता या परख नहीं सकता। ऐसा कई बार होता है। तो भी उस ओर जगतके अधिक वर्गका पूज्यभाव और अनुकरणशीलबुद्धि तो अवश्य प्रगट होती है।

(५) प्रिय मोक्षेप्सु जंबू ! ऐसे साधकको "देह जैसे संकट या श्रमसे ग्लान होती है, वैसे ही आहारसे पुष्ट हो सकती है" ऐसा लगनेसे देहका मूल्य वह ऐसी और इतनी मर्यादा तक आंकता है, एवं यही समझकर उसका उपयोग भी उसी प्रकारसे करता है। इसलिए देह ग्लान हो तो भी उसे खेद नहीं होता। और प्रेरणापूर्वक देह पुष्ट होनेके उपाय करनेकेलिए भी उसको वृत्ति नहीं चाहती। अब ज़रा जगतके सामने देखो; जगतके बहुतसे जोव बेचारे देह ग्लान होता है कि सर्व इंद्रियां एक साथ ग्लान दीख पड़ने लगतीं है।

विशेष—इस पाँचवें सूत्रमें सूत्रकारज गत और ऐसे साधकके बीचका अंतर किस प्रकारका है, उसे भलेप्रकार स्पष्ट करते हैं। उन दोनोंके बीचका अंतर, अर्थात् दोनों प्रकार निराले हैं। यह जानकर जगतसे वह उल्टा चल पड़े या अलग रहे, कोई इसभांति न मान वैठे ! शायद यह कोई ऐसा असहज आचरण करने न लग पड़े ! उसीके विषयमें यहाँ चेतावनी की है, कि जगतमें जो जीव हैं, वे जगतके संबंधी तो रहेंगे ही, मात्र फेर है तो भावनाका है, और वही तारतम्यरूपसे यहाँ बताया गया है। इतर जगत देहकी रक्षाको अपने जीवन का ध्येय मानते हैं। तब साधक जगत देहको जीवनविकासका साधन मानते हैं। भावनाके भेदसे ही एक श्रम या संयमसे डरते हैं। तप या त्याग से आनंद और रस लुटता मानते हैं।

दूसरा इसमें जीवनका आनंद मानता है। इससे इन दोनोंकी क्रिया चाहे एक है, तो भी वह क्रियाजन्य फलमें असंतोष और संतोष जैसा महान भेदका अनुभव करते हैं। दिव्यदृष्टिसाधक और सामान्यदृष्टिवाले आदमीके बीचके अंतरके रहस्य का यहाँ स्फुटीकरण किया हैं।

अपनेको असंतोष हो ऐसी क्रिया कोई जानबूझकर नहीं करता, संकटको न चाहनेपर भी पूर्वकर्मके उदयके कारणसे कहो या निसर्गका मन उसका विकास करना चाहता है इस-लिए कहो, परन्तु प्रत्येक प्राणीके जीवनमें धूप और छाया तो आती ही रहती है। देहकी अवस्थाका पलट, रोग, प्रतिकूल-ताएँ और ऐसे ऐसे बहुतसे परिवर्तन संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण यों कर्मकी तीन अपेक्षाओं द्वारा जीवनमें उतरते ही हैं। साधक उसे स्वाभाविक मानकर, समभाव रखते हुए, उसमेंसे भी उलटा कुछ न कुछ नवीनताका पाठ सीखता है। तब जगतका दूसरा प्रवाह उसमेंसे ग्लानिका अनुभव करता हुआ अपनेमें पूर्वकालसे स्थापित किया हुआ भय और क्रोधादि कषायोंके संस्कारोंमें उलटी वृद्धि करता है।

(६) ऐसे प्रसंगमें भी पूर्वोक्त ओजस्वी साधक दयाका रक्षण करता है, दयाको आंतरसे छोड़ नहीं देता है।

विशष—जगतकी सरासर ऐसी उलटी प्रवृत्ति आँखोंसे देखी जाती है फिर भी वह ओजस्वीसाधक जगतके प्रति अपनी दयाको नहीं छोड़ता। इससूत्रमें यही कथन है। और वह दो

बातें स्पष्ट करता है। एक तो यह कि दया करना प्राणीमात्र का जन्मजात स्वभाव है। विकासका भी वही एक अनुत्तर साधन है। अर्थात् "दया नहीं तो धर्म कैसा ?" यह एक बात है। और दूसरी बात यह है कि दूसरे इसका चाहे जो उपाय करें तो भी साधकको अपना कर्तव्य पालन करते जाना चाहिए। क्योंकि दूसरा अपने स्वभावको पकड़ता है या नहीं इसे देखते जाना साधकका कर्तव्य नहीं है। साधकका कर्तव्य तो अपने स्वभावके अभिमुख है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जहां मनोवृत्तिका तत्व है, वहाँ दया तो होती है। और मनोवृत्ति तो प्रत्येक जीवमें है ही। अर्थात् दया तो प्रत्येक जीवके साथ संकलित वस्तु है। साधक इस स्वभावकी ओर अधिक ढल जाय और प्रत्येक क्रियामें विवेकबुद्धिपूर्वक उसका उपयोग करे। यही इसकी विशेषताहै। यद्यपि ज्यों ज्यों साधक अपनी साधनामें विकसित होता है त्यों त्यों उसकी दयाके स्वरूपमें और क्रियामें भी उलट पलट होता है और उचित भी है। तथा इस बातको "दान, गति, रक्षण, हिंसा, दानेषु" इसप्रकार दया धातुके विविध-अर्थ विश्वास दिलाते हैं। इसी भाँति स्वदया, और परदया और दयाके इन भेदोंका रहस्य भी यही है।

दयाकी प्राथमिक भूमिका अर्पणभाव उत्पन्न करती है। साधकके पास जो साधना होती है उसके द्वारा वह औरोंके प्रति अनुकम्पाभावसे प्रेरित होता है, और कुछ भी दे छोडूं ऐसी भावना उससे ऐसी क्रिया करा डालती है। या जिस क्रिया

को हम दयाके रूपमें देखते हैं। जिसने मानवताको पा लिया है वह इस भांति किए विना रह ही नहीं सकता।

फिर वह ज्यों ज्यों आग वढ़ता है त्यों त्यों 'मैं दूसरेके लिए किसी औरकी दया करता हूं' ऐसा भाव न रहकर 'मैं जो कुछ दया दिखाता हूं वह मेरा अपना ही स्वभाव है' यह जान कर दयामें अपना विकास मानते हुए दयाको क्रिया होती है। ऐसे समय संयम सहज रीतिसे आ ही जाता है। फिर इससे वह आगे वढ़कर त्यागकी भूमिका पर आता है। अर्थात् इस की सम्यक् दयामयी(सकल चैतन्योंकी)क्रिया आत्मरक्षाके लिए होती है। ऐसा साधक अज्ञानको ही जगतके दुःखका मूल जानकर ज्ञानकी प्रभावना करने लग पड़ता है। फिर इसकी भूमिका इससे भी आगे वढ़ जाती है, तव उसकी दयामयी क्रिया अपने रागद्वेपादि रिपुओंका हनन करनेके लिए होती है। इसे लोकभाषामें तपकी भूमिका कहा जाता है। इसके परिणामस्वरूप अंतमें आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होती है। यह मानकर दयामयी क्रिया इसरूपमें पलटा खा जाती है। इसीभावको सूत्रकार महात्मा स्पष्ट करके वतातेहुए कहते हैं।

(७) परन्तु प्रिय जंबू! यह वात भूलनी न चाहिए कि जो साधक संयमके यथार्थस्वरूपका कुशल जानकार है,। वही अवसर,अपनीशक्ति,विभाग, अभ्यास,समय,विनय तथा शास्त्रदृष्टिसे सवका समन्वय साधकर विवेकवुद्धिपूर्वक लोकप्रपंचसे अपने

स्वभावका मार्ग खोज लेते हैं। एवं ऐसे साधक ही परिग्रह से ममता उतारकर सर्वथा नियमित होते हुए, किसी भी प्रकारका आग्रह न रखकर निरपेक्ष होते हुए साहजिक जीवनसे जीवित रहते हैं, और राग तथा द्वेष इन दोनोंको अथवा आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकारके बंधनको काटकर विकासकी पराकाष्ठा तक पहुँचनेका पुरुषार्थ करते हैं।

विशेष—इससूत्रके द्वारा दयाका या स्वभावकी ओर मुड़ने का कौनसा मार्ग है? यह बड़ी सुन्दररीतिसे स्पष्ट किया है। यह बात समझ में आ सके तो धर्मके नामपर किसी भी प्रकार की विकृति न हो पावे। निरपेक्ष भावना, पक्षपात रहितवृत्ति, प्रतिपल विवेकबुद्धिकी जागृती और अनासक्तिसे भरा पूरा स्वाभाविक जीवन साधकमात्रके जीवनसाधनाका आदर्श और जीवनमें क्रियात्मक व्यवहार होना चाहिए।

(८-९) प्रिय जंबू! जो ऐसे ध्ययसे जीवित रहनेवाला और उच्चकोटिका साधक है, उसकी भी कसोटि होती ही है। साधनामार्गमें होनेवाली अनुकूल या प्रतिकूल संयोगोंकी कसोटि ही साधकके हृदय-सुवर्णको अधिक शुद्ध और मूल्यवान बननेका अवसर देती है ऐसे साधककी सहज समता किसप्रकारकी

होती है, इससंबंधमें यहां एक प्रसंग देनेसे स्पष्ट हो जायगा।

मानलो कि ऐसे साधकका शरीर(शीतज्वर या अतिशीतके प्रभावसे)कदाचित्त काँपता हो इतनेमें कोई गृहस्थ (उपहास करने या साधुताकी कसोटि करनेकेलिए)जानबूझकर अथवा अनजानपनसे यह कहे कि "आयुष्मान् श्रमण ! आपको यह कँपन कामपीड़ासे तो नहीं हो रहा है ? क्या आप जैसे त्यागीको भी विषयविकार पीडित करता है ? पूर्ण-ब्रह्मचारी और प्रचंड साधकके कानपर एसे क़ातिल-बोभत्स वचन पड़नेपर ऐसे प्रसंगमें(ज़रा भी न चिढ़कर केवल)शाँतचित्तपूर्वक वह मुनिसाधक उससमय मात्र इतना ही कहे: "प्रिय आयुष्मान् गृहस्थ ! मुझे काम पीडित नहीं कर रहा है बल्कि सर्दी और हवाका त्रास हो रहाहै, और शरीर उसे सहन नहीं करसकनेके कारण काँप रहा है।

मुनिके इस कथनका उत्तर देते हुए यदि गृहस्थ यह कहे कि"यदि यह बात सत्य ही है तो फिर किसलिए आप अपने देहको ठंडसे बचानेकेलिए आगसे क्यों नहीं ताप लेते ?" तब वह मुनिसाधक यह कहे कि "ग्रहपति ! जैन श्रमणको आग सलगाना या जलाना

कल्प्य (उचित) नहीं है (क्योंकि इसमें जीवजंतुकी हिंसाका भय है)। इतना ही नहीं बल्कि आगके पास जाकर तापना या ऐसा करने के लिए किसी दूसरेको कहना भी वर्जित है।"

मानलो किः—मुनिसाधककी इसबातको सुनकर फिर ऐसे उच्चत्यागको देख, भक्तिसे रंजित गृहस्थ कदाचित स्वयं मुनिके पास आग सुलगाकर मुनिका शरीर तपाना चाहे तो भी वह मुनिसाधक इसप्रकार उसके मनका हार्द (भाव) जानकर उसे ऐसा करनेसे प्रेमपूर्वक पहले ही रोक दे, और समझा दे कि मेरे लिए ऐसा करना भी ठीक नहीं है (तुम्हें तुम्हारी भक्तिका फल तो भावनासे ही मिल चुका है। इसलिए अब ऐसी क्रिया करना योग्य नहीं है) क्योंकि जैन भिक्षु जिसप्रकार किसीका दिल भी नहीं दुखाते इसीप्रकार अपनेलिए किसीको जरा भी कष्टमें डालना नहीं चाहते।

विशेष—इन दोनों सूत्रोंमें साधकने अपने जीवनमें कितना समभाव उतारा है यह उसकी कसोटीका वर्णन है। ब्रह्मचारी, संयमी, त्यागी, तपस्वी या कोई भी साधक उच्च है, इसे स्वीकारकरना जरा भी असत्य नहीं है, परन्तु ऐसे साधक कई बार प्रसंग आनेपर अपनी आत्मसमताको गवां बैठते हैं। यह

कुछ साधारण त्रुटि नहीं है। विकासमें यदि कोई विशेष बाधक आवरण हो तो भी वह एक कमी है। उस आवरणका नाम अभिमान है। कई बार चरित्रवान गिने जानेवाले साधकोंके जीवनमें भी गहरा अवलोकन करनेसे प्रतीत होगा कि वे अपनी क्रियाके पीछे अभिमानका काँटा लिए फिरते हैं। और इसीसे यदि कोई उनके इस दुर्व्यवहारके विरुद्ध कहे तो वे बात बातमें खिज उठते हैं। यह कांटा समभावके मूलमें ही प्रहार करता है।

समभावी साधकको अपने ऊपर पूरा भरोसा होता है। वह जानता है कि "यदि मैं अपने लिए कुछ क्रिया करता हूं तो उसका फल मेरे विकासके लिए ही हो सकता है। जगत उसे उल्टा रूप दे या उलटी तरह देखे तो भी मुझे क्या?" ऐसे आत्मविश्वासीको बाहरके वचन लेशमात्र भी क्रोध उत्पन्न नहीं करा सकते, और समभावसे भी चलायमान नहीं करा सकते।

परन्तु अभी जिससाधककी दृष्टि बाहर होती है, उसकी चित्तशांतिके जलाशयको ये बाहरके वचनरूपी कंकर प्रतिक्षण पड़कर क्षुब्ध करते हैं। जिसकी अंतर दृष्टि होती है उसे ऊपर का खलभलाट जरा भी क्षुब्ध नहीं कर सकता; और ये पुरुष जो कुछ बोलते हैं वह अपने ऊपरके प्रतीकारकेलिए नहीं, बल्कि सामने वालेके समाधानकेलिए बोलते हैं—अथवा मौनसेवन करते हैं, ऐसा इस सूत्रका रहस्यस्फोट है।

और ऐसा साधक किसीके मनको भी क्षोभ नहीं पहुंचाता,

या फिर स्वयं किसीसे पीड़ित भी नहीं होता, एवं किसी प्रलोभन के फंदेमें पड़कर अपनी निजकी क्रियाको भी नहीं छोड़ देता। क्योंकि इसकी सामान्य आँखोंदेखी क्रियाएँ भी सहज होती हैं। जहां साहजिकता है वहां अच्छे, बुरे या अनुकूल प्रतिकूल निमित्त मिलें तो भी इनमें निमित्तके वश होकर संयोगाधीन परिवर्तन नहीं हो सकता, और उपादानकी ज्यों ज्यों शुद्धि होती जाती है, त्यों त्यों बाह्यक्रियाकेरूप पलट जाते हैं। इस परिवर्तनमें तो स्वरूपस्थिरता होकर इस उलटफेरमें भी सहजता है, अर्थात् उसीविषयमें कुछ कहनेका नहीं रहता। इन सब बातोंसे यह फलित हुआ किः—

उपसंहार—समभाव आत्मस्वभावकी प्राप्ति या आनंदके साक्षात्कारकी प्राप्तिके मार्गमें प्रवेश करनेका मुख्यद्वार है। समभाव ही असल धर्म है, ऐसी धर्मकी उदार व्याख्या मिलती है। समभावमें आर्यसंस्कृतिका मूल है। दयाका पालन भी समभावसे ही हो सकता है। समभावके तीन पाए हैं। निःस्वार्थता, अर्पणता और प्रेम। इन तीन पायोंके ऊपर जिस क्रियासे जीवनको चिनाई हुई है या होती है उस क्रियाका नाम धर्मक्रिया है।

यौवनमें धर्म सहज है। जीवनका सौंदर्य, उत्साह ओजस् और आकर्षण यौवनशक्तिके प्रतीक हैं।

यह यौवन जीवनका होका Mariner' Seompass यंत्र है। यह जिस जिसमार्गकी ओर मुड़े उसी पर विकाश या पतनका मुख्य आधार है।

दिव्यदृष्टि स्फुरण यौवनगत सुसंस्कारोंसे उत्पन्न होता है।

वृत्तिके संयम विना दिव्यदृष्टि और विश्वबंधुत्व-का संभव नहीं है।

इसप्रकार कहता हूं

विमोक्ष अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।

संकल्पबलकी सिद्धि

तीसरे उद्देशकमें दिव्यदृष्टिकेलिए वृत्तिसंयमके विविध और सरलमार्ग दर्शाए हैं। इस उद्देशकमें ये मार्ग जीवनमें रचनात्मक बनानेकेलिए जिस प्राथमिक बलकी अपेक्षा है उस संकल्पबलकी समीक्षा करते हुए—

गुरुदेव बोलेः—

(१) जो अभिग्रहधारी (वस्त्रपात्रकी अमुकमर्यादा रखनेवाला) भिक्षु साधकने साधनाकेलिए साधनारूपमें एक पात्र और तीनवस्त्रोंकी छूट रक्खी हैं, उसे ऐसा विचार ही न आ पाए कि मुझे चौथा वस्त्र चाहिए। कदाचित उसके अपने पास मर्यादित किए

तीन वस्त्र भी पूरे न हों तो उसे सूझते(साधुधर्मके अनुयोग्य)वस्त्रकी याचना करना कल्प्य(उचित)है । किंतु वह जैसा मिले वैसा पहरे, कपड़ोंको सुगंध धूप न दे या कपड़ोंको विविध रंगोंमे न रंगे । धुले हुए वस्त्र या धो कर रंगे हुए मिलें तो न ले, एवं दूसरे गाँवमें वस्त्र छुपाकर(Hide)न रक्खे, अर्थात् साफ सादे(जिनसे चोरका भय न लगे ऐसे)वस्त्र धारण करे । यह वस्त्रधारी मुनिका सदाचार है ।

विशेष—यद्यपि वस्त्र, पात्र, थोड़े या बहुत काममें लेने की बात सूत्रकारके मन गौण है । तो भी जो साधक साधनामार्ग को भले प्रकार समझ गया है वह शरीरशृङ्गारकेलिए तो कुछ भी उपयोग न करे, और जिसे उपयोगमय दृष्टि और विवेक-बुद्धि है वह आवश्यकतासे अधिक पदार्थ न ले । क्योंकि ऐसा करके उपाधिमें पड़ना उसे पसन्द नहीं यह स्वाभाविक है । तो भी साधककेलिए वस्त्र, पात्रादि संयमके उपयोगी साधनोंकी यहां मर्यादा बताई है । यह मर्यादा अभिग्रहधारी भिक्षुकी अपेक्षासे ही है, ऐसा वृत्तिकार महात्मा कहते हैं । चाहे कुछ भी हो ! परन्तु सूत्रकार यह सूत्र प्रस्तुत करते हुए यह समझाते हैं कि जब पदार्थोंमें आवश्यकता पूर्ति जितनी मर्यादा बाँधी जाती है, तब मर्यादासे बाहरके पदार्थोंका ममत्व सहजमें छूट जाता है । दूसरी चिन्ता स्वयं क्षीण हो जाती है, और संकल्प

शक्ति दृढ़ हो जाती है। इस दृष्टिसे मर्यादाकी प्रतिज्ञा आवश्यक है।

दूसरी बात मर्यादित रक्खे हुए साधनोंपर भी ममत्व न हो इसलिए है। इसके अतिरिक्त कपड़े न धोना या धोकर रंगे हुए पहरना उपलक यह अर्थ मानकर उसका कोई दुरुपयोग न कर बैठे ? यह कहनेके पीछे सूत्रकारका आशय शरीर-विलासकी दृष्टिसे है। स्वच्छताकी दृष्टिसे नहीं। क्योंकि साधक मर्यादित वस्तुओंका उपयोग करे तो भी ज्यों ज्यों वह टीपटापमें पड़ता है, त्यों त्यों उसका उसपर ममत्व बंधता है।

आत्मासे पर रहे हुए सब पदार्थोंसे ममत्वबुद्धि उठालेना ही साधकका कर्तव्य हो, क्योंकि उसे उतना ममत्व भी बन्धन-कारक है। वस्त्र या दूसरे साधन केवल शरीरकी आवश्यकता की दृष्टिसे उपयोगी हैं। और शरीर स्वयं भी एक साधनरूप एवं आवश्यक है, जो इतना ही जानता है वह साधक कपड़ोंको रंगने या ऐसी टीपटाप में न पड़े यह स्वाभाविक है। बल्कि साथ साथ दूसरे अनर्थ हो जायँ इतना मेल भी वस्त्रोंमें न घुसना चाहिए। यह विवेक भी ऐसे साधकमें सहजरीतिसे होना उचित है, जिसे सदा स्मृतिपथमें रक्खे। शास्त्रकार दूसरे सूत्रमें इस भेदका भरमभीं इस प्रकार खोल डालते हैं।

(२) जब मुनि यह जान ले कि हेमंत (ठंडी) ऋतु गई और ग्रीष्म (गर्म) ऋतु आगई तब जो कपड़े हेमंत ऋतुके अनुलक्षसे लिये हों उनका वह त्याग करे और

यदि उपयोगी हों तो सबका त्याग न करें बल्कि कम रक्खे; अर्थात् तीनमेंसे एक छोड़कर दो पहरे, अथवा दो त्यागकर एक पहरे, या ठंड दूर हो जाने पर आवश्यकता न हो तो सब कपड़े त्याग दे, यह इसके मन स्वाभाविक होना चाहिए। कपड़ोंका त्याग करना इसलिए कहा गया है कि इसप्रकार करनेसे निर्ममत्व गुणकी प्राप्ति और साधनोंमें लाघवता यों दोनों गुण प्राप्त होते हैं।

प्रिय जंबू ! इसे भी भगवान्ने तप कहा है। इस कथनका इसप्रकार रहस्य समझकर साधु वस्त्र रहित या वस्त्रसहित भावमें जैसे बने वैसे समतायोगी-समभावी होकर रहे।

विशेष—शीतकालमें ठंडलगनेके कारण वस्त्रोंका होना आवश्यक है, इसलिए उनका पहनना उससमय धर्म हैं, गर्मी की मौसिममें आवश्यक न होनेसे उनका त्याग करना धर्म है। यह कहकर कोई उपरोक्त सूत्रका उलटा अर्थ न कर डाले, वैसे इसका स्पष्टीकरण कर दिया है। यदि वस्त्रोंका धारण करना या त्याग करना शरीरके स्वास्थ्यकेलिए ही हो तो वस्त्र का धोना भी शरीरकी तन्दुरुस्तीकेलिए हो सकता है। यह बात विवेकबुद्धिसे सहज समझमें आ जाती है। परन्तु यदि यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि सूत्रकारने ऐसा विधान क्यों नहीं किया ?

इसका उत्तर तो स्पष्ट ही है कि जो सूत्रकार समस्त पदार्थों का त्याग करना कहते हैं, वे ही फिर वस्त्र पहननेका विधान करना कहते हैं इसके पीछे जो विवेक है उस विवेकको जिसने अच्छे प्रकार समझा है, उसे यह विवेक भी सहजसे समझमें आजायगा। जैनत्व विवेकीकेलिए ही पथ्य है। जो दर्शन नैसर्गिक है वह नैसर्गिकताके आकांक्षुको ही पचता है।

इससूत्रमें यह समझाया है कि वस्तुत्यागसे वृत्तिमें अपरिग्रहपन आता है इसलिए वस्तुका त्याग करना इष्ट है। वस्त्रधारण करना या वस्त्रपरिहारकी क्रियाका महत्व उसके पीछे रहनेवाली वृत्तिपर है। मात्र क्रियापर नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। साधक इस दृष्टिसे देखना सीखे तब ही समभाव आता है।

कई बार ऐसा बनता है कि उत्कृष्ट क्रियाका पालन करता हुआ एक साधक अपने मनमें दूसरे साधकको अपनेसे जरा हलका मानता है, तो भी प्रेम, सन्मान इत्यादिका व्यवहार कर सकता है, परन्तु सूत्रकार कहते हैं कि इसमें भी सच्चा समभाव नहीं है। समभावसे साधक सबके चैतन्यकी ओर देखता है, क्योंकि चैतन्य तो सबका समान है। किसी पर आवरण अल्प है तो उसका विकास अधिक दिखता है, किसीका आवरण अधिक है तो उसका विकास कम दिखता है, अर्थात् बहिर्दृष्टिका त्याग करके केवल गुणग्राही और आत्माभिमुखदृष्टिसे देखते हुए सबके साथ समत्वका वर्ताव करना चाहिए।

(३) यदि मुनिसाधकको कठिन पथमें चलते हुए कभी प्रकृतिके प्रभावसे ऐसा विचार आ जाय कि "मैं परिषह या उपसर्गोंके कुचक्रमें फँस गया हूं, और उसे सहन करनेकेलिए अब किसी भी तरह शक्तिमान् नहीं रहा" तब ऐसे प्रसंगमें विचार, चिंतन, सत्संग और ऐसे अनेक प्रकारके साधनोंसे जहां तक बने वहां तक उनसे बच निकले, परन्तु प्रतिज्ञाभंगका अकार्य-(मैथुनादि)प्रवृत्तिका सेवन न करे। यदि किसी तरह प्रतिज्ञामें दृढ़तासे न रहा जाय तो वेहानसादि(अकाल-अपघात)मरणसे जीवनलीला समाप्त करना पसंद करे। (परन्तु अकार्य आचरण न करे)क्योंकि ऐसे प्रसंगका आकस्मिक मरण भी अनशन और मृत्युकालसे मरणके समान निर्दोष और हितकर्ता गिना गया है। इसप्रकार मरणके शरण होनेवाले भी मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं। बहुतसे निर्मोही पुरुषोंने ऐसे प्रसंगमें ऐसे मरणका शरण लिया है। इसलिए वह हितकारी, सुखकारी, सुयोग्य कर्मक्षयका हेतुभूत और दूसरे जन्ममें भी पुण्यप्रद होता है।

विशेष—इससूत्रके मूलपाठमें शीतस्पर्शका परिषह लिखा है। परन्तु वृत्तिकार और टीकाकारका मत यह है कि यहाँ सूत्रकारके कहनेका आशय केवल शीतस्पर्श पदसे आदि

लेकर मूलव्रतकी बात कहनेका है। और यह युक्तियुक्त भी है। क्योंकि शीतस्पर्श सहन न होता हो तो उसकेलिए पहले सूत्रमें सूत्रकार महात्माने सारे वस्त्र रखनेकी छूट दी है इसलिए यहां तो मूलव्रतसे लगती बात ही सुघटित है, और वह भी जिस व्रतमें अपवादको लेशमात्र भी स्थान नहीं है ऐसे चौथे व्रतसे सम्बन्धित बात अधिक प्रासाँगिक है। क्योंकि अपघात करके मरनेसे जैनदर्शनमें अनेक जन्ममरण और अधमगति प्राप्त होने का स्पष्ट कथन है। और भगवती आदि सूत्र इसकी साक्षी देते हैं। फिर भी अपघात करनेतकके लिए कहा गया है। इस के पीछे इतना ही महान् आशय होना चाहिए। गहराईमें उतरनेपर यह बात सहज समझमें आ जायगी।

ब्रह्मचर्य खंडनसे संयममय जीवनका हनन होता है। आत्मा मारा जाता है। यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है ही। परंतु यहां तो साधकने जिस वस्तुके त्यागकी प्रतिज्ञा की है फिर चाहे वह प्रतिज्ञा सामान्य ही क्यों न हो, तो भी उस प्रतिज्ञामें प्राणोंके अंत तक टिका रहे, परन्तु प्रतिज्ञाभंग न करे, मुख्यतया यही फलित होता है। देहके भंग होनेसे नया देह मिल सकता है, परन्तु प्रतिज्ञाके भंग होनेसे प्रतिज्ञा नहीं मिलती, और इसीसे यहाँ एक नई और खास बात याद रखनेके लिए मिलती है, कि प्रतिज्ञाभंग महापतन है। परन्तु यह पतन केवल प्रतिज्ञाभंगसे होनेवाली क्रियामात्रसे ही नहीं होता, क्रिया तो चाहे कैसी भी अध:पतनकर्ता हो, तो भी वृत्तिके संस्कार सुन्दर हों तो पतनका निवारण सहज शक्य है; परन्तु प्रतिज्ञाभंगसे वृत्तिपर

संकल्पबलकी क्षतिके जो संस्कार स्थापित होते हैं, उनका निवारण सहज शक्य नहीं है, और इसी दृष्टिसे प्रतिज्ञाभंग होनेकी भयंकरता है ।

उपसंहार—वस्त्रपात्रादि साधनोंका त्याग या स्वीकारके पीछे देहके ममत्वको हटाकर देहको मर्यादा और स्वास्थ्यको सुरक्षित रखनेका हेतु है । वृत्तिके पूर्वअध्यासोंको लेकर भूल न जाय इस सावधानीकेलिए दृढ़प्रतिज्ञाकी पूर्ण आवश्यकता है ऐसे साधकोंकेलिए प्रतिज्ञा माताकी आवश्यकता पूर्ण करती है, और यह माता दृढ़संकल्पसे टिक सकती है । चाहे जैसी कसौटी के समयमें भी उस प्रतिज्ञाको टिकाकर रखनेकेलिए वीर और धीर होकर इस प्रकार तत्पर रहना चाहिए ।

इस प्रकार कहता हूं

विमोक्ष अध्ययनका चौथा उद्देशक समाप्त ।

———

पांचवां उद्देशक

प्रतिज्ञामें प्राणोंका अर्पण

—०—

वस्त्रपात्रका सहरक्षण और भोजनादिका सेवन केवल देहका सँयम पालनेयोग्य सुघड और सुदृढ बनाकर रखनेकेलिए है। इससे श्रमण साधक जैसे बने तैसे बहुत ही थोड़े और वह भी शुद्ध साधनों से काम चलाना सीखे। बाह्यसाधन घटजानेसे अन्तरकी उपाधि भी हलकी हो जाती है। उपाधियाँ हलको होनेसे अशांत्तिमें बहुत बड़ी कमी हो जाती है, और साधनाका मार्ग सतत सरल बनजाता है।

गुरुदेव बोलेः—

(१) जिस मुनिसाधकके पास एक पात्र और मात्र दो ही कपड़े हों उसे कभी ऐसी इच्छा ही न हो कि मैं तीसरा वस्त्र किसीसे मांग लूं। परन्तु यदि उसके

पास दो वस्त्र भी पूरे न हों तो उसे यथायोग्य दो सादे कपड़ोंको याचना करना उचित है। परन्तु उसे (आसक्ति रहित) जैसे मिलें वैसे ही पहन ले। इस प्रकार करना साधुका आचार है।

विशेष—जिनकल्पी, परिहार विशुद्धचरित्रवाला (उच्च भूमिकामें पहुंचा हुआ) साधक यथालंदिक और+पडिमाधारी

+पडिमाधारी अर्थात् अमुक प्रकारका नियम धारण करने वाला भिक्षु। ये बारह प्रकारके नियम होते हैं:—पहली प्रतिमामें पहले महीनेमें नित्यप्रति एक समय एक ही घर आहारकी एक दात अर्थात् एक धार तथा एक धार पानीकी लेकर उसीसे निर्वाह करना। दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें और सातवें महीनेमें नित्य दो, तीन, चार, पाँच, छ और सात दात उपरांत कुछ न लेनेका नियम रखना। इस तरह सात प्रतिमाएँ पूर्ण होती हैं। आठवीं प्रतिमामें सात दिन तक एकांतर उपवास करके उत्कट (उत्कृष्ट) आसन या कठिन आसनसे बैठे। नवीं प्रतिमामें सात दिन एकांतर उपवास करके केवल दंडासनसे बैठे। दसवीं प्रतिमा नवींके समान ही है। परंतु गो-दौहिक आसन-जैसे गौको दुहने बैठते हैं इसी तरह बैठा रहे। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रिकी है। प्रतिमाके पहलेसे ही दो उपवास करके उसी दिन आधीरात ग्रामके बाहर जाकर कायोत्सर्ग करे। बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रिकी ही है। उसी रातमें पहले तीन उपवास करके तीसरे दिन रातके समय वनमें रहे और एक चित्त होकर आए हुए उपसर्गोंको सहन करे। इस प्रकार बारह प्रतिमाओंका क्रम पूरा होता है।

साधु ही मात्र दो वस्त्र धारण करते हैं। तीन वस्त्रवाला तो जिनकल्पी भी होता है और स्थविरकल्पो भी, ऐसा मत श्री शीलांकसूरिका है। इस सूत्रमें गत उद्देशकके पहले सूत्र जैसा ही सार है। भिक्षु शरीरकी मर्यादा और आवश्यकताका अनुलक्ष्य रखकर वस्त्र, पात्र या दूसरे उपकरण रक्खे इससे इतना ही फलित होता है।

(२) जब मुनि यह जानले कि हेमंत(ठण्डी) ऋतु चलो गई और उष्ण ऋतु आ गई है, तब जो कपड़े हेमंत ऋतुके आनेपर अधिक स्वीकार किए हों उन्हें छोड़ दे, अथवा(अब भी शीतका संभव है तो)पहरे रहे, या कम कर दे। अर्थात् एक वस्त्र रक्खे और अन्तमें यदि उसकी भी आवश्यकता न पड़ती हो तो वस्त्ररहित होकर अनासक्तिका आनन्द ले। इसप्रकार करनेसे तपश्चर्या होती है। श्रीभगवान् ने ऐसा कहा है। परन्तु इस कथनका रहस्य समझकर मुनिसाधक वस्त्रसहित और वस्त्ररहित इन दोनों दशाओंमें समता योगकी साधनामें जरा भी न चूककर अडिग रहे।

विशेष—त्याग भी समझपूर्वक और क्रमपूर्वक होना चाहिए। यदि पदार्थोंके त्यागसे निर्ममत्व भावमें रमण न होता हो तो वह आदर्शत्याग नहीं गिना जाता। और आदर्श त्यागके विना कुछ आदर्श तपश्चर्या नहीं गिनी जाती। इससूत्र का आशय यही है।

(३) प्रसंगवश कभी किसी भिक्षुसाधकको ऐसा लगे कि रोगादिक संकटमें आ पड़नेसे अशक्त हो गया हूं, इससे घर घर जाकर भिक्षा ले आनेमें मैं समर्थ नहीं (यह परिस्थिति किसीको स्वाभाविक रीति से कहने जाय तो) वह सुनकर या देखकर कोई गृहस्थ उसके लिए आहारादि पदार्थ उसके पास (जहाँ उसका उपाश्रय स्थान है) वहीं लाकर देने लगे तो वह मुनिसाधक उसे लेने से पहले ही विवेकपूर्वक कहे कि आयुष्मन् ! गृहस्थ ! मेरे निमित्त आए हुए ये सब पदार्थ या ऐसा ही दूसरा खाना पीना यों लेना मुझे नहीं कल्पता (जैन श्रमण होने से उस संघकी नियम-व्यवस्थाके अनुसार मैं नहीं ले सकता)

विशेष—इस स्थल पर जैनसंघकी नियम व्यवस्थाकी दृढ़स्थितिका मात्र दिग्दर्शन है। शेष मौलिक सिद्धाँतके नियमों को छोड़कर अपवाद प्रत्येक स्थलपर हो सकता है। परंतु अपवाद मार्गका उपयोग पक्के साधक द्वारा ही समझकर विवेकपूर्वक होना चाहिए, अन्यथा अर्थके बदले अनर्थ हो जायगा। ऐसे स्थलपर गृहस्थोंके बदले श्रमण साधक लाकर दें तो उसे लिया जा सके ऐसा विधान याद रखने योग्य है। क्योंकि भिक्षु किसी को तकलीफ दिए विना अलग अलग स्थानसे भिक्षादि सामग्री लाकर वह बीमार भिक्षुको दे सकता है। फिर गृहस्थोंका इसरीतिसे अतिपरिचय हो जाय और

रागबंध पड़ जाय तो भविष्यमें कदाचित त्यागमार्गमें कुछ शिथिलता आनेका भय रहता है, यह दृष्टिकोण इस कथन के पीछे मुख्य है, जिसे न भूलना चाहिए। और इसे सूत्रकार महात्मा स्वयं भी स्पष्ट कर देते हैं। इसलिए इस सूत्रसे इतना फलित हुआ कि मुनिसाधककी रोगावस्थामें मुनिसाधकोंकी सेवा उपयुक्त है। क्योंकि मुनिका जीवन किसीकेलिए भी दुःख रूप या भाररूप न हो यह उसका मुख्य हेतु है। दूसरी बात यह है कि किसी एक प्रसंगमें भी गृहस्थ उपाश्रयमें भोजन लाकर दे तो वह अपवाद दूसरोंकेलिए अनुकरणरूप हो जाना तथा विवेकचक्षुसे न देखकर जनतामें धीरे धीरे ऐसी रूढिका प्रचलित हो जाना संभव रहता है। एवं ऐसी रूढिमें गृहस्थोंका गाढ व्यासंग होने का और साधुजीवन शिथिल, परावलंबी एवं आश्रमजीवी बनजानेका भी भय रहता है। अर्थात् उपाश्रयमें भोजन लाकर देना यह गृहस्थका नहीं बल्कि मुनिसाधकोंका कर्तव्य है।

(४) किसी मुनिसाधकको ऐसी प्रतिज्ञा हो, जैसे कि "मैं बीमार पड़ जाऊं तो भी किसी दूसरे को अपनी सेवा करनेको न कहूं, परन्तु ऐसी स्थितिमें दूसरे समान धर्म पालनेवाले (अर्थात् श्रमण साधक) स्वस्थसाधक कर्मनिर्जराके हेतुपूर्वक (निस्स्वार्थबुद्धिसे) स्वेच्छासे यदि मेरी सेवा करें तो वह मुझे स्वीकार

है और यदि मैं स्वास्थ्यपूर्ण होऊं तो दूसरे अस्वस्थ सहधर्मी श्रमणोंकी स्वेच्छापूर्वक (किसोको प्रेरणा विना) निस्वार्थ सेवा करूं।" ऐसे मुनिसाधकको अपनी प्रतिज्ञाके खातर सद्भावसे मृत्युको स्वयं वरकरके प्राणोंको समाप्त करदे। परंतु कभी किसी स्थितिमें भी प्रतिज्ञा भंग तो न करे।

विशेष—जहाँ तक हो सके किसी अन्यकी सेवा न लेना मुनिसाधकको इष्ट है, इससूत्रमें ऐसा भाव है। क्योंकि सेवा और स्वावलंबित्व श्रमणका जीवनव्रत है। यहाँ भी प्रतिज्ञा पर अटल रहनेके खातिर प्राणार्पणकी बात आई है, और यह स्पष्ट है। क्रियामें भूल होना शक्य है, और वह क्षम्य भी है। परंतु प्रतिज्ञाकी भूल किसी भी तरह क्षम्य नहीं है। प्रतिज्ञाभंगकी अपेक्षा प्राणभंग अच्छा है। और ऐसे मरणको अपघात नहीं बल्कि समाधिमरण गिना गया है। इसके पीछे एक ही भाव है, वह यह है कि प्रतिज्ञाभंगसे संस्कृति और विकासके मार्गका भंग होता है। साधनाकी दृष्टिमें जरा भी शिथिलता आ जाय तो वे शिथिलताके संस्कार प्रत्येक जीवनमें पीड़ा पहुंचायंगे, क्योंकि वे उपादान रूप बन जाते हैं। इसलिए निमित्तकी अपेक्षा उपादानकी पर्वाह अधिक करना उचित है।

उपादानकी शुद्धि हो तो निमित्तशुद्धि सुलभ है। परंतु केवल निमित्तकी शुद्धिसे उपादानकी शुद्धि सुलभ नहीं है। साधकको यह बात प्रतिपल विचारना चाहिए।

यहां भक्तपरिज्ञा नामक मरणकी बात है ऐसा टीकाकार का मत है। भक्तपरिज्ञामरण अर्थात् चार आहारका त्याग स्वेच्छासे करतेहुए अंतिम समयमें उसे फिर अनशन करना चाहिए।

(५) गुरुकुलके किसी श्रमणसाधकने (इसप्रकार प्रतिज्ञा की है कि:—) "(१) मैं दूसरे श्रमणकेलिए खानपान वस्त्रादि लाकर दूंगा, एवं अन्यका लाया हुआ भी मैं लूंगा, (२) मैं दूसरेकेलिए प्रेमपूर्वक लाकर दूंगा परन्तु दूसरेका लाया हुआ न लूंगा, (३) मैं दूसरेके पाससे लाऊंगा नहीं, परन्तु दूसरेका प्रेमपूर्वक लाकर दिया हुआ खाऊंगा या लूंगा, (४) मैं दूसरेके लिए लाऊंगा भी नहीं और दूसरेका लाया हुआ लूंगा भी नहीं।"

ऊपरके चार विभागोंमें से जिसतरहकी प्रतिज्ञा ली है, उसप्रतिज्ञाके अनुसार ही सद्धर्मकी आराधना

करता हुआ श्रमणसाधक संकट पडनेपर भी शांत और विरलबनकर सद्भावनाकी श्रेणीपर चढते हुए मृत्युको पसंद करे, परन्तु प्रतिज्ञाका भंग किसी भी संयोगमें न करे। ऐसी स्थिति में उसका मरण होना भी यशस्वी मृत्यु कहलाता है। उसे कालपर्यायके रूपमें कहा है। (कालपर्याय अर्थात् बारा वर्षतककी क्रमशः दीर्घ तपश्चर्याके बाद शरीर निःसत्व होनेपर अनशन करना) ऐसा वीरसाधक कर्मोंकाक्षय कर सकता है। इस प्रकार दृढ संकलपबलका उपयोग बहुतसे निर्मोह पुरुषों ने किया है। वह दशा हितकर्ता है, सुखकर्ता है, समुचित है, कर्मक्षय का हेतुभूत है, और अन्यजन्म में भी इस संस्कृतिकी विरासत उससाधकको अवश्य प्राप्त होती है। इसप्रकार कहता हूँ।

विशेष—ऊपरके दोनों सूत्रोंसे एक तो साधकमात्रको दृढ़ प्रतिज्ञा रखनेका सिद्धांत निकलता है और दूसरा सिद्धांत यह है कि साधकमात्रको स्वयं स्वावलंबी होना चाहिए। सामान्य रीतिसे साधकोंकी स्थिति बहुत ही पराधीन हो गई है। वे श्रमको शत्रु समझते हैं इसीलिए उनके शरीरका

स्वास्थ्य ठीक न होनेके कारण दूसरे साधकोंके लिए इनका जीवन बोझरूप बना रहता है। यह स्थिति साधकदशाकेलिए योग्य नहीं है। इन्हें पहले तो स्वयं बीमारीके आनेके कारणों से दूर रहना चाहिए। फिर भी यदि कर्मवशात् या किसी अन्य भूलके कारण लोभ लालच आ जाय तो भी उस समय दूसरे साधकोंकेलिए उसे बोझरूप न होना चाहिए।

उपसंहार—जहां तक साधक सिद्ध न बन जाय वहां तक प्रत्येक साधनामें प्रतिज्ञा इससाधकका जीवन व्रत होना चाहिए , खाने पीनेमें या दूसरेकी सेवा लेनेमें मर्यादित रहनेकी प्रतिज्ञा, महाव्रतोंकी संपूर्ण रीतिसे पालनेके नियमोंकी प्रतिज्ञा तथा अन्यसाधकोंकी सेवा शुश्रूषा करनेकी टेक इत्यादि प्रतिज्ञाएं स्वीकार करनी चाहिए। प्रतिज्ञा भंग हुई, कि मृत्यु ही हुई समझें। प्रतिज्ञाके भंगके लिए अपवादको लेशमात्र भी स्थान नहीं है। एक छोटी मोटी प्रतिज्ञाकेलिए अपने जीवन को न्यौछावर कर डालना चाहिए। संकल्पबलकी सिद्धि प्रतिज्ञाकी दृढतापर अवलम्बित है। प्रतिज्ञा साधककी सगी जनेता है। प्रतिज्ञा गिरते हुए को बचा लेती है(रहनेमि की भांति)प्रतिज्ञासे उपाधियाँ घटती हैं और जीवन फूल सा हलका बन जाता है।

प्रतिज्ञामें मेरुको डुलादेने, धराको हिला देने और हिमालयको हटादेने की दिव्य और भव्य चेतनाशक्ति है। प्रतिज्ञाकी अपूर्वशक्ति पूर्वाध्यासोंमें खिचें चले जाने की साधककी वृत्तिको स्थिर रखती है। प्रतिज्ञावान ही सच्चा स्वावलम्बीत्व सांगोपाँग टिका सकता है। प्रतिज्ञासिद्ध साधक अखिलविश्वको नचा सकता है, और झुका सकता है।

इसप्रकार कहता हूं
विमोक्ष अध्ययनका पांचवां उद्देशक समाप्त।

———

छठवां उद्देशक-

स्वाद जय

जिसप्रकार बचपनमें सरलता, किशोरवयमें सुकुमारता, तरुणवयमें तरंगदशा, युवानीमें तमतमाट, परिपक्ववयमें बुद्धि और देह दोनोंकी प्रौढता और वृद्धवयमें जीर्णता तथा क्षीणता स्वाभाविक है, इसी प्रकार जीवनमें मृत्युदशा भी सहज और स्वाभाविक है।

ज्ञानी जन इसबातको जानते हैं, समझते हैं, और बर्तावमें लाते हैं। मृत्युके साथ मुलाकात (स्वागत) करना ज्ञानी पुरुषोंको सहज प्रभावना जैसा लगता है। प्रत्येक स्थितिमें वे अपने शरीरको वाहनके रूपमें समझकर उसका उपयोग करते हैं, और जब यह जान लेते हैं, कि अब साधन उपयोगी नहीं रहा एवं सांधने जोड़ने योग्य भी नहीं है, तब वे उसके प्रति तटस्थ रहकर मृत्युको स्वेच्छासे आमंत्रित करते हैं।

जो मृत्युके भयको जीत लेते हैं, वे ही मृत्युको जीत सकते हैं ऐसा माना गया है। 'मृत्यु तो नवजीवनकी पूर्वदशा है' ऐसी जिसे पूरी प्रतीति है, वह मृत्यु का विजेता है। जो मृत्युका विजेता है, वही जीवनका सचमुच विजेता है। इसे व्यक्त करनेके लिए–

गुरुदेव बोले:—

(१) जिस महामुनि साधकको केवल एक ही वस्त्र और एक ही पात्र रखनेकी प्रतिज्ञा है उसे 'मैं दूसरा वस्त्र मांगूं या (लेकर) रख छोड़ूं' ऐसी चिंता न होनी चाहिए। (क्योंकि वह थोड़ेसे साधनसे अपना काम चला लेगा) ऐसा मुनिसाधक वस्त्रकी आवश्यकता हो तो भी शुद्ध (निर्दोष) वस्त्रकी ही याचना करे, और पवित्र (निष्काम) याचनासे जैसा वस्त्र मिला है वैसा ही पहरे। ग्रीष्मऋतु आनेके पश्चात् (यदि वस्त्रकी आवश्यकता न हो तो) उस पुरानेकपड़ेको त्याग दे, अथवा आवश्यकता हो तो उस एक वस्त्रका उपयोग करे, अथवा बिल्कुल छोड़ दे, एवं लघुभावको पाकर सर्वत्र समभावसे रहे।

भगवन्! लघुभाव कैसे प्राप्त किया जा सकता है? प्रिय जंबू! निम्नोक्त भावनासे लघुभाव (ऋजुभाव) प्राप्त होता है। वह मुनिसाधक यह विचार

करता है कि 'मैं अकेला हूं मेरा कोई नहीं है। इसी तरह मैं भी किसीका नहीं हूं।" इसप्रकार अपने आत्मा का एकत्व विचार कर, समझकर और अनुभव करके लघुभाव (निरभिमानता)को प्राप्त हो सकता है इस क्रियाको तपश्चरण भी कहा गया है। इसलिए भगवान्ने जो कहा है, उसे यथार्थ जानकर सर्व स्थलों पर सब जोवोंके प्रति और सब प्रकारसे (मन, वाणी और कर्मसे) समभावकी शिक्षा लेकर अनुभव करे।

विशेष—यहां सूत्रकार लघुभाव लानेकी गहराईमें जाते हुए स्पष्ट निर्देश करते हैं, और वह प्रासंगिक भी है। क्योंकि विकासके मार्गमें अभिमानका कांटा साधकके पैरमें लगा रहता है। ज्यों ज्यों जीवात्मा कर्मके अटूट नियमकी अश्रद्धासे आत्मा के अटूट और अनन्तस्वरूपको देह और बाहरके अमुक पदार्थों में ममत्वका आरोपण करके पूर देता है। त्यों त्यों यह कांटा गहरा चला जाता है और अनेक प्रकारकी आधि, व्याधि और उपाधियोंको उत्पन्न करता है। जैसे राग और द्वेष संसारके मूलभूत कारण हैं, ऐसे ही अभिमान भी मूलभूत कारण है। अहंके अज्ञानसे अभिमान पैदा होता है। इससे उसका लय करनेकेलिए साधनाका मार्ग आवश्यक है। ज्यों ज्यों यह कांटा निकलता जाता है त्यों त्यों सरलता, उदारता और सत्यनिष्ठा जाग जाती है इसलिए साधनाका मुख्य हेतु अभिमानका लय करना है यही बात बार बार एक या दूसरे ढंगसे सूत्र-कार महात्मा कहते आए हैं। और उनका "यह आत्मा सब

वाह्यभावोंसे अलग है, ये देखेजानेवाले विकृतभाव इसके धर्म नहीं हैं" ऐसे ऐसे विचारोंसे क्रमशः क्षीण होना संभव है। परंतु ये विचार किसीके उधार पट्टेपर लिए हुए या विरासत से मिले हुए न हों। जो विचार अपने ही अंतःकरणसे प्रगट होते हैं वे ही विचार जीवनके संस्कारों पर गहरा असर डालते हैं, और जीवनके संस्कारोंपर प्रभाव होनेसे वैसा जीवन और जीवनव्यवहार सुधरता जाता है।

(२) मोक्षके मौक्तिक जंबू ! "आत्मभान उत्पन्न हो" केवल ऐसी झंखनासे देहभान नहीं छूट सकता इसे कोई भूल न जाय। क्योंकि अनन्तकालके जड़ शरीर सहाध्यासका आत्माके ऊपर निकम्मा प्रभाव पड़ा हुआ है। इसलिए साधना सुन्दर रीतिसे बन सके ऐसी क्रियाका आचरण करना चाहिए। शिष्यने पूछा: भगवन् ! देहभान भूलने के लिए सबसे पहले करने योग्य सादी और सरल क्रिया कौनसी है, उसे कृपा करके कहें।

गुरुदेव बोले:—

आत्मार्थी जंबू ! किसी भी साधक या साधिकाको सबसे पहले स्वाद पर विजय पाना चाहिए। चाहे वे खाएँ पिएँ अवश्य, परन्तु मात्र यह देहको स्वास्थ्यरक्षा के लिए ही हो। स्वाद को दृष्टि से वे कभी आहारको

बाएं गलाफूसे दहने गलाफूमें या दहने गलाफूसे बाएं गलाफूमें न ले जायं। इसरीतिसे स्वादेंद्रिय पर अधिकार पानेसे बहुतसी पंचायत हलकी हो जायगी, और तपश्चरण भी सहज होगा, इसीसे श्रीभगवान्नें स्वयं श्रीमुख से यह कहा है। सब इसे यथार्थ विचार-कर, समझकर तथा आचरणमें लाकर सर्वथा सर्वत्र समभाव रखनेका प्रयत्न करें।

विशेष—यह आठवाँ अध्याय सबका सब विशेषतया प्रतिज्ञाका महत्व और संयमकी वास्तविकताको समझाता है। पहले उद्देशकों और सूत्रोंमें वस्त्रपात्रके संयममें सबसे पहले ब्रह्मचर्यव्रतका समावेश है। अथवा ब्रह्मचर्य ही साधनामंदिर का मुख्य पाया है, यह कहें तो अत्युवित न होगी। इसलिए ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए वासनाक्षेत्रकी विशुद्धि करे ऐसे बाहर के उपचार और विचारोंका व्यवहार्य मार्गका वर्णन भी पहले कर आए हैं। यहाँ अब्रह्मचर्यकी वासनाको उत्तेजित करनेमें स्वाद भयंकर प्रभाव उत्पन्न करता है, इस उल्लेखमें यही बताया गया है।

स्वादकी दृष्टिसे बाएँ गालसे दहने गलाफूमें भी अन्न न ले जाय यहाँ तक सूत्रमें व्यक्त किया गया अधिकार स्वादजय साधना का आवश्यक अंग बताकर विश्वास दिलाया गया है। सब इंद्रियोंके संयमकी चर्चा तो सूत्रकारने पहले ही की है परंतु इस हद तक कठोर नियमन केवल जीभकेलिए कहा है। और

इतना ही इसके पीछे रहस्य है। सूत्रकार महात्मा इस रहस्य को थोड़े से शब्दोंमें भी बहुत कुछ स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं कि स्वादजयसे सब पंचायत टल जाती है।

स्वादके असंयम पर ही मुख्यतया जगतके सब प्रपंचोंकी रचना है : परंतु इस बातको खूब गहराईसे विचारते हुए थोड़ा बहुत समझा जा सकता हैं। जीवनके प्रत्येक प्रसंगका अवलोकन करनेसे मालूम होगा कि स्वाद अकेली जीभका ही विषय नहीं है, बल्कि प्रत्येक इन्द्रियोंका विषय है। यह बात स्वादकी व्याख्यासे कुछ अधिक स्पष्ट होगी। इसलिये संक्षेपमें कहा गया है कि:—स्वाद अर्थात् रसकी विकृतिसे रस पानेकी तृष्णा, और इसकी पूर्तिके लिए किया गया प्रयास ही स्वाद का असंयम स्वच्छंदताकी क्रिया। पदार्थमात्रमें रस तो होता ही है, और भूख लगनेपर पदार्थमात्रमें रस है, ऐसी सबको न्यूनाधिक प्रतीति भी हुई होगी। भूख लगनेपर भोजन करना धर्म है, क्योंकि वहां आवश्यकता है, और जहां तक वस्तु आवश्यकताकी दृष्टिसे उपयोगमें लाई जाती है वहां तक वस्तुको या वृत्तिको विकृत करनेका मन किसीका भी नहीं होता। परंतु खाने(इसधर्म)के बदले पदार्थोंका भोगना यह धर्म इतना ही अंग रहता है। और आवश्यकताका लक्ष्य चूक जाता है तब खानेमें या स्वाभाविक पदार्थोंका उपयोग करनेमें रस नहीं आ पाता।

रसको प्राप्त करनेकी इच्छा तो वृत्तिमें ही है, और वह सहेतुक है। परंतु आवश्यकता ही रसका सर्जन करती है,

आवश्यकतामेंसे रस उत्पन्न होता है, इस बातको जहां भुला दिया जाता है अर्थात् पदार्थो से रसका अनुभव न करते हुए रस पानेकी झंखनामें आदमी पदार्थोको विकृत कर डालता है, चकचूर करता हैं। और ज्यों ज्यों पदार्थोंको वह विकृत करता हैं, त्यों त्यों विकृत रससे आवृत होनेके कारण रस नहीं मिलता, बल्कि उल्टा रसकी इच्छा बढ़ती जाती हैं। यहां मानवजीवनके असंतोषका मूल कारण है।

परंतु जीवनके महत्वके अंग जैसे कि चित्त, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय आदि सब विकृत हो गए हों, विकृतिके अध्याय से व्यसनबद्ध बने हों, वहाँ यह बात साधक विचारे तो भी सहसा हृदयग्राह्य न हो सके, इसीलिए पहले यहाँ जीभके रसास्वादका व्यवहार्य मार्ग बताया हैं। पदार्थ केवल उपयोगिताकी दृष्टिसे ही उपयुक्त हो सकता है, और उपयोगिता का भान तो सहज रीतिसे होता है। जहां सहजता तो हो वहां आवेश या घबराहट नहीं होती, उदीरणा भी नहीं होती, ऐसे संस्कार विचार और क्रियाद्वारा ज्यों ज्यों नवसर्जित होते जाते हैं, त्यों त्यों नैसर्गिक जीवनकी साधना करा डाले वह धर्म और नैसर्गिक जीवनसे जीवित रक्खे वही संयम।

जो संस्कृतरसकी लज्जत चखाता हो वह संयम, और जो विकृत रसकी झंखना को बढ़ावा दे वह विलास होता है। हमने रस और स्वाद इन दोनोंको एक स्वरूप दे डाला है। यही हमारी विचारसरणीका मूल दोष है। पाश्चात्य संस्कृति और पौर्वात्य संस्कृतिके युद्धका यह एक महाअनर्थकारी मूल

है। जहां तक विचारसरणीकी 'यह भूल न सुधरेगी वहां तक विलास और संयम इन दोनों में विकृति रहती ही है। हमारे यहाँ पदार्थ खारे और विषके समान कहे हैं, असार एवं अनर्थोत्पादक और संसार पापमय है। ऐसी ऐसी भावनाओंका ही जाना या इन्हें जागृत करना ही वैराग्य कहलाता है। परन्तु पदार्थों का निवारण कहाँ तक टिकेगा? परिणामस्वरूप पदार्थोंकी झंखना तो आ ही जाती है और उससे दूर रहा जाता है तो इसमें भी प्राय: घृणात्मक बुद्धि होती है। इसलिए इस प्रकार पौर्वात्य संस्कृतिसे घड़ा गया जीवन पदार्थोंको विकृत करके जीवन गला देता है, और पाश्चात्य संस्कृतिवाला विलासमें रस मिलानेका मंथन करता हुआ जीवनको विकृत करके उसे पूरा करता है; ये दोनों ही मार्ग खराब हैं।

शास्त्रकारोंने रस और स्वादके भेद बार बार समझाए हैं। रस स्वाभाविक है, स्वाद कृत्रिम है। आत्माका स्वभाव रसभोक्तृत्व है। श्रुतिमें **"रसो वै सः"** ऐसा सूक्त है। सारांश यह है कि:—जो सच्चे रसका प्यासा होगा वह उतना ही 'स्वयं स्वादसे पर होगा, और इस प्रकार उसके जीवनमें हर तरहसे स्वादजय महत्वका अंग बनकर रहेगा।

(३) निर्भय जंबू! सद्विचार, संयम और तप इस त्रिपुटीका सहचार सेवन करते हुए ज्यों-ज्यों अहंकार लय होता जायगा, त्यों त्यों देहभान छूटता जायगा। इसप्रकार विकासके पथमें विचरते हुए

साधकको जब ऐसा विचार आ जाता है कि अब मेरा शरीर (रोग या तपसे) बिल्कुल क्षीण हो जानेसे, साधन संयमकी क्रियाओंकेलिए उपयोगी नहीं रहा-अर्थात् अब मृत्युके किनारे पर पहुँच गया है-तब जीवनकालके योग-जोड रूप मृत्युसे भेंट करनेकेलिए तत्पर हो जायं और अन्तकालको सुधारनेकेलिए द्रव्यसे आहारादि पर और भावसे कषायादि शत्रुओं पर क्रमशः विजय पाकर अन्तमें शरीरजन्य व्यापारोंको बन्द करदे, अर्थात् समाधिस्थ होकर लकडीके तख्तेकी तरह (सहज सहिष्णुता और समता की साधना द्वारा) शरीरका ममत्व त्याग दे। इसविधिसे देहरागादिमें फंसा रहने पर भी साधक समाधिमरण द्वारा धैर्यगुणको पाकर तथा संतापसे दूर रहते हुए सुखद मरण मर सकता है।

इस मरणको इंगितमरण भी कहा जाता है। उसकी मर्यादाविधि इसप्रकार है: ग्राम, नगर, खेडा, कसबा, मंडप, पत्तन, टापू, आगर, आश्रम, गडरियों की झोंपडो, व्यापारस्थल या राजधानीमें जाकर वहाँ से घास या पुआलके तुनके मांग लावे और उसे लाकर एकांत स्थानमें जाकर कीडियोंके अण्डे, जीवजन्तु, बीज वनस्पति, धुन्ध. पानी कीडियोंके बिल, नीलनफूलन, काई, कच्ची मिट्टी, तथा मकड़ीके जाले, आदिसे रहित

पृथ्वीको उपयोग और यतना पूर्वक सुन्दर रीतिसे झाड पोंछ प्रमार्जन करके घासकी शय्या बनाकर बिछावे ।

विशेष—इत्वरिक अनशन अमुक कालका मर्यादावाचक होता है, और ऐसा अनशन तो श्रावक ही करता है । इसमें ऐसी मर्यादा होती है कि यदि मैं इस रोगसे अमुक काल तक बच जाऊं तो फिर जीवनके उपभोग करनेकी छूट है । यहां (साधुकेलिए) इत्वरिक शब्द रखनेका यही प्रयोजन है कि इस मरणमें इसकेलिए क्षेत्रसम्बन्धी घूमने फिरनेकी छूट होती है ।

मृत्युसे पहले साधक सावधान होकर आहारादिका त्याग करते हुए 'इतने प्रदेशमें ही मुझे घूमना फिरना है' इसप्रकार विचरनेकी छूट रखकर समाधिमरण पा लेता है । इसे इंगित-मरण अर्थात् सांकेतिकमरण कहा जाता है । ऊपरके सूत्रमें जो कथन है वह इस मरणसे मिलता जुलता है ।

सामान्य लोगोंकी वसति हो वह ग्राम, जहां कर (शुल्क-शाला) न हो वह नगर, खेड़ेके ग्रामके चारों ओर मिट्टीका गढ़ होता है, जहाँ बहुत कम वसति हो उसे कसबा कहा जाता है, जहां बहुतसे गाओंका संगम हो वह मंडप और जहाँ धातुकी बहुतसी खानें हों उसे आगर कहते हैं ।

शरीरकी उपयोगिता पूर्ण होनेपर मृत्युसे भेंट करना अप-घात नहीं कहलाता, यहां इसे ही स्पष्ट किया है । जो कि भलीभांति विचारने योग्य है । अपघात करना इसलिए दूषित

क्रिया है कि:—अपघात करनेवाला उसे जो देहरूपी साधन उपयोगिताकेलिए मिला है उसका वह दुरुपयोग कर रहा है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी भी पदार्थका दुरुपयोग करना भयंकर और प्राकृतिक अपराध है। और यही अधर्म है। यदि वही क्रिया उपयोगपूर्वक हो तो वह धर्म है। इसके पीछे यही आशय है। क्रियाके सामने देखना उपयोग नहीं है, बल्कि विवेकबुद्धिसे पिघलकर क्रिया करना है। अर्थात् उपयोगवान्का उपयोग प्रत्येक क्रियासे पहले होना चाहिए।

उपरोक्त इंगितमरणकी क्रियामें आहारादिके त्यागके साथ कषायोंका त्याग कहनेके भीतर भी यही रहस्य है कि यह मरण स्वेच्छापूर्वक, शाँति और समाधिपूर्वक होना चाहिए। कई बार साधक लोकप्रतिष्ठाकेलिए ऐसा अनशन कर डालता हैं, परिणामस्वरूप मनमें असमाधि-अशाँति उत्पन्न होती हैं। अंतिम समय-मरणके समयमें जीवको पूर्णशांति रहनी चाहिए। मृत्युके समयकी शांति नवीन देहका शांतिबीज हैं। इसीलिए इससूत्रमें कहा है कि:—जब साधकको यह लगने लगता है कि अपना यह देह उचित कार्य करने योग्य नहीं रहा और उसे मृत्युकी सूचना भी मिल गई हो तो उस समय वह अनशन कर डालता है। अनशन किसी पर आजमाइश करने या किसी को दिखलानेका प्रयोग नहीं है। यह तो अंतिम समय आत्मा पूर्ण

समाधिमें रहे—अपने निजस्वरूपमें रहे उसकेलिए यह साधना का प्रयोग है ।

(४) (अनशन कौन कर सकता है इसके गुणोंको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—)सत्यवादी, पराक्रमी, संसारका पारगामी "हाय हाय फिर मेरा क्या होगा" इस भयसे सर्वथा रहित, वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञाता और बंधनोंके जालमें न फँसनेवाला मुनिसाधक जिनप्रवचनमें अंत तक दृढ़विश्वास रखकर भयंकर परिषह या उपसर्गोंमें अडिग रह सकता है। और इस विनश्वर शरीरके ऊपर मुग्ध न होकर उपर्युक्त सत्य और कठिन कार्यको पार पाड़ता है । इस प्रकार का मरण स्वेच्छासे निमंत्रित-मरण होनेसे वह(अपघात नहीं)बल्कि कालपर्याय(प्रशस्तमरण)मृत्यु ही गिना जाता है, और इसीसे ऐसा साधक कर्मके ऊपर विजय पा लेता है। इस रीतिसे इसप्रकारका इंगित मरणका शरण बहुतसे निर्मोही पुरुषोंने लिया है। इसलिए वह हितकारी, सुखकारी, सुयोग्य, कर्मक्षयका हेतुभूत और पुनर्भवमें भी पुण्यप्रद होता है ।

विशेष—उपयोगिताकी दृष्टिसे देहरूपी साधनका जिस संयमीने उपयोग किया है उसे वह साधन जीर्ण होनेपर मोह का न होना उसके लिए स्वाभाविक है। अनशन एक अंतिम कसोटी है। जीवनसाधनामें इसे साधकने कितना बटोरा है उसको इसप्रसंगसे सहज मापा जाता है। बल्कि सत्यार्थी, आत्मलक्ष्यी; वीर और धीर विशेषणोंका उपयोग करनेवाले पुरुष ही इस परीक्षामें पार उतर सकते हैं और ऐसे साधकको अनशन श्रेष्ठसाधक बनता है, औरोंको नहीं, इसप्रकार सूत्रकार ने यह कहा है। इसका सारांश यह हैं कि अनशनसे मृत्युको भट करना जिसे सहज होता है, वही उसका शरण लेता हैं।

उपसंहार—जीवनमें लघुभाव पैदा करना अमूल्य धन है।

स्वादजय साधनाका आवश्यक अंग है।

स्वादके असंयम पर ही जगतके सब प्रपंचोंका अधिकाँशमें आरंभ है।

नैसर्गिक जीवनसे जीवित रखनेवाला ही सच्चा संयम है।

संस्कृत रसका स्वाद संयम चखाता है, और विकृत

परंतु फिर भी व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे खोज करें तो भी सांपराय-सम्बंधी कर्मका अर्थ भावीकर्म नहीं घट सकता। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये दोनों जैनपरिभाषा के शब्द होनेसे ऐसा शब्दार्थ घटाना युक्त नहीं है। यद्यपि मूलमें तो ईर्या-प्रत्ययकर्म या साम्परायिक कर्म ऐसा स्पष्ट नहीं है। मात्र 'दो प्रकारकी क्रिया' इतना ही कहा है।

वृत्तिकार महात्माने यह स्पष्ट किया है कि—ईर्याप्रत्यय-और सांपरायिककर्म सूत्रकारको(से)अभिमत हैं। और मैं इस रीतिसे घटाता हूं कि ईर्याप्रत्ययकर्म अर्थात् जिसक्रियाके पीछे इसक्रियाके कर्ताकी आसक्ति न हो ऐसी क्रिया द्वारा बंधा हुआ कर्म। देह जहाँ तक है वहाँ तक हलन, चलन, खान, पान, और ऐसी ही आवश्यक क्रियाएँ रहेंगीं, और ये क्रियाएँ देह, इन्द्रियाँ, मन और आत्माकी एकवाक्यता विना उत्पन्न नहीं होतीं; अर्थात् कर्मबंधन तो है ही। परंतु अना-सक्तभावसे बंधा हुआ कर्म निबिड या स्निग्ध नहीं होता। उसका निवारण आलोचना या और किसी साधनके द्वारा तुरंत निवारण हो जाता है। इसलिए यह ईर्याप्रत्ययकर्म या जानेका निमित्तरूप कर्म कहलाता है। और जो क्रिया आस-क्तिपूर्वक होती है, उसके द्वारा बंधा हुआ कर्म सांपरायिक अर्थात् संसारके बढ़ानेवाला कर्म होनेसे सांपरायिक कर्म कहलाता है। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें दूसरा बंधनकर्ता, दुःखकर्ता और संसारकर्ता है। इसलिए इसे क्षय करनेकी ओर ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। श्रीमहावीरने इस ओर ही

साध्यमें सावधानी

जहां साध्य सुरक्षित हो तो वहां साधनोंमें काल, बल, अवसर, स्थान इत्यादि खोजकर विवेक पूर्वक परिवर्तन करनेकी छूट हो सकती है। परन्तु कैसे संयोगोंमें और कौन कर सकता है। यही विचारने योग्य है। इसप्रकार समझाते हुए।

गुरुदेव बोले:—

(१) आत्मार्थी जंबू ! जो साधक सदैव वस्त्ररहित रहता हो और उसे यह विचार आवे कि मैं घासके स्पर्शका दुःख सहन कर सकता हूं, तापका दुःख सह सकता हूं, डांस, मच्छरकी पीडा सहन कर सकता हूं, और दूसरे भी अनुकूल प्रतिकूल परिषह सहन कर

सकता हूं, परन्तु वस्त्ररहित रहनेमें मुझे शर्म आती है, तो वह साधक अवश्य कटिवस्त्र (चोलपट्टक) रख सकता है।

विशेष—यद्यपि यह बात जिनकल्पी मुनिका उद्देश रख कर कही है, तो भी इसप्रकार कहनेका रहस्य यह है कि मात्र वस्त्रपरिधान या वस्त्र त्यागमें ही कुछ उद्धार नहीं है। उद्धार तो हृदयकी शुद्धिपूर्वक विकासके ध्येयसे होनेवाली क्रियाओंमें है। किसी भी क्रियामें आग्रह न होना चाहिए, एवं दंभ भी न हो; क्योंकि इसप्रकार करनेसे अनेकांतवादका लोप होता है। अनेकांतवाद अर्थात् सापेक्षवाद-वस्तु एक होनेपर भी इसके धर्म बदलते हैं अर्थात् दृष्टिकोणोंके परिवर्तन स्वाभाविक हैं, यों दृष्टिकोणोंका स्वरूपरहस्य जानकर इसे स्वीकार करे।

सत्यध्येय या साध्य जो कुछ कहो वह उपास्य तो सबका एक ही है, परन्तु जीवोंकी भूमिका अलग अलग होनेसे बाह्य-साधन या क्रियाओंके अनेक भेद हो सकते हैं और वे क्षम्य हैं।

एक क्रिया अमुक साधककेलिए आचरणीय होती है, तब दूसरेकेलिए नहीं; एक अधिक शक्तिमत्तासे अधिक कर सकता है, तब दूसरा कम कर सकता है, या न कर सके; तो ये दोनों साधक परस्पर प्रेमपूर्ण जीवनसे जीवित रह सकें, उन्हें अनेकांत-वाद यही सिखाता है।

अनेकांतवादी स्वयं एकांत सत्यार्थी होगा, इसके जीवनमें

दृढ़ स्थिरता भी होगी, परन्तु सत्यकी साधनाप्रणालिकाएँ तो अनन्त हैं यह इन्हें जरूर स्वीकार करेगा; अर्थात् इसकी दृष्टि में एकांत नहीं होता।

अनेकांतवादी पतित पर भी द्वेष नहीं करता, इसकी दृष्टि से तो यह भी एक भूमिका है यह ऐसा मानेगा, और पतितके लिए तो उलटा निकटवर्ती होकर प्रेम और वात्सल्यकी बहुलता पूर्वक इसे मार्गपर लानेका प्रयत्न करेगा; अथवा यह समयका परिपाक न हुआ हो तो यह मौन सेवन भी कर लेगा, परन्तु यह उसे घृणा, तिरस्कार या नीचताकी दृष्टिसे न देखेगा।

अनेकान्तवादी परमत,परविचार और परकार्यसहिष्णु होगा। इसमें धर्मका आवेश कदाग्रह या वैरवृत्तिको जगाने वाले या वढ़ानेवाले तत्व नहीं होते इसीसे यह जगतके समस्त जीवोंका सच्चा मित्र, बन्धु और हितैषी होकर रहेगा।

ऐसा अनेकांतवाद जीवनमें ओतप्रोत हो अर्थात् सहजसे जाग उठे और व्यवहार्यवस्तु बने।

(२) अथवा यदि वह साधक उच्चकोटि(देह-लज्जासे पर रहनेवाली स्थिति)पर पहुंचा हो या अपने लिए(वसतिसे पर रहता हो)वस्त्रकी आवश्यकता न लगती हो, तो वस्त्ररहित भी रह सकता है। परंतु इसप्रकार रहते हुए तृणस्पर्श, सर्दी, गर्मी, डाँस, मच्छर तथा और भी अनेक प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल

परिषह आवें तब इन परिषहोंको समभावपूर्वक सहन करनेकी इसमें शक्ति होनी चाहिए। तब वही अल्प-चिंतावान् रह सके और इसे आदर्श तपश्चरणकी प्राप्ति होती है। इसलिए इसके विषयमें श्रमण भगवानने जो कुछ कहा है उसका रहस्य समझकर सर्वथा समतायोगकी सिद्धि करता रहे।

विशेष—वस्त्रत्याग करे या धारण करे, मात्र यह क्रिया तो एक साधन है, इसका प्रतिक्षण भान रहना चाहिए। वस्त्र धारण करने ही चाहिएँ, नहीं तो आदर्श न गिना जायगा, ऐसे ही वस्त्र छोड़ने ही चाहियें तब ही मोक्ष मिलेगा, इन दोनों आग्रहमें सत्यका अपलाप है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि वस्त्रत्याग या वस्त्रधारण यह मात्र व्यवहार है। व्यवहार तो एक साधनमात्र है। ज्यों ज्यों भूमिका फिरेगी त्यों त्यों पलटा खाना स्वाभाविक है। होना भी ऐसा ही चाहिए, इसे एक ही रूपसे पकड़कर रखनेसे उलटा ध्येयका हनन होता है, और व्यवहार केवल रूढिरूप बन जाने से दुगुना नुकसान करता है।

उदाहरणके रूपमें, जैसे जो साधक समाजमें चली आने वाली रूढिके वश होकर या प्रशंसाकेलिए या ऐसे ही किसी दूसरे कारणके वश होकर कपड़े छोड़ सकता है, परन्तु अभि-मान या कदाग्रह नहीं छोड़ सकता। ऐसा साधक इसप्रकारका बाह्यत्याग करनेसे कौनसी शान्ति पा सकेगा? सारांश यह कि बाह्य त्याग आन्तरिक उपाधि घटानेकी दृष्टिसे उपयोगी है।

आन्तरिक उपाधि तो समझ और शक्तिपूर्वक किये गये त्याग से ही घट सकती है। अर्थात् जहां तक ऐसी स्थिति रहती हो वहीं तक त्याग पथ्य बनता हैं, और शक्ति या समझ विना का त्याग प्राय: दंभ, माया और पतनका कारणभूत बना रहता है। यह बात सर्वथा चिन्तनीय है।

(३) प्रिय जंबू! कोई प्रतिज्ञाधारी गुरुकुलमें रहनेंवाले श्रमण साधकको (१) मैं अन्य श्रमण साधकों-केलिए खान पान, वस्त्रादि लाकर दूंगा एवं किसी अन्य श्रमणसाधकका लाया हुआ भी मैं ले लूंगा; (२) दूसरेको लाकर दूंगा परंतु लूंगा नहीं; (३) दूसरेका लाया हुआ लूंगा, परंतु मैं उसे लाकर न दूंगा; (४) मैं किसी और के लिए लाऊंगा भी नहीं, और लूंगा भीं नहीं, इन चार भागों (विभाग) में से किसी एक तरहकी प्रतिज्ञा की हो अथवा किसी भी प्रकारकी इच्छा रक्खे विना निर्दोषरीतिसे प्रण प्राप्त किये हैं, तो भी मेरी आवश्यकताकी अपेक्षा अधिक पदार्थ मिले हैं, तो इनके द्वारा अपने स्वधर्मी मुनिसाधकोंकी मैं सेवा करूंगा; या इस दृष्टिकोणसे यदि कोई दूसरे साधक सेवा करेंगे, तो उसे मैं स्वीकार करूंगा (इनमेंसे किसी भी तरहकी प्रतिज्ञा की है, तो उसमें प्राणांत तक

दृढ़ रहे परंतु प्रतिज्ञा कदाग्रह या अहंकारके दोषसे दूषित न होनी चाहिए।

गुरुदेव! प्रतिज्ञाका फल क्या है?

गुरुदेव बोले:—श्रमण भगवान महावीरदेवने कहा है कि प्रतिज्ञासे लाघवता प्राप्त होती है, और सहज तपश्चर्या हो जाती है। इसलिए भगवान्के कहे हुए सद्धर्मका रहस्य समझकर सब स्थानोंमें समभाव की वृद्धि करते रहना चाहिए।

विशेष—ऊपरके दोनों सूत्रोंमें अनेकांतवाद प्रस्तुत करके साध्यकी ओर दृष्टि रखते हुए प्रत्येक क्रिया करनेकी सूचना करके सूत्रकार प्रतिज्ञापर भार रखकर कहते हैं, कि प्रतिज्ञा संकल्पबल बढ़ानेका प्रबल साधन है। साधककी साधनामें यह प्रतिज्ञा सहचरी जैसा कार्य करती है। चाहे कोई प्रतिज्ञाको बंधनरूप मानकर उसकी अवगणना ही क्यों न करे! जो साधक प्रतिज्ञाको परतन्त्रता मानकर उससे दूर रहते हैं, उसमें से अपवादको निकाल डाले तो वह लगभग स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलताके कुचक्रमें फंसकर स्वतन्त्र नहीं बल्कि प्रकृतिके आधीन होकर पतनको ही पाते हैं। परन्तु इतना सुनकर कोई समझे सोचे विना चाहे जैसी प्रतिज्ञा लेकर संतोष न माने, बल्कि उसे समझकर स्वीकार करे। इसी कारण प्रतिज्ञाका स्वरूप स्पष्ट किया है। यद्यपि ऊपरकी प्रतिज्ञा भिक्षु और

श्रमणसाधकका अनुलक्ष करके बताई है, परन्तु उसमेंसे भाव यह निकलता है कि प्रत्येक साधकको ऐसी प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि जिस प्रतिज्ञासे वृत्तिपर अंकुश हो और विकास होने लगे। सूत्रकारने यह भी कह दिया है कि प्रतिज्ञाका फल उधार नहीं है, नकद(रोकडा)है। जिस तरहकी प्रतिज्ञा की है उतने ही दृढ़ताके संस्कार अन्तरमें स्थापित होते हैं।

(४) निरासक्त जंबू ! जब श्रमण साधकको ऐसा विचार आवे कि अब मेरा शरीर अशक्त हो गया है, अर्थात् धर्म क्रियाकी साधनाके योग्य नहीं रहा; अब इस शरीरकी मुझे आवश्यकता नहीं है। तब वह अनुक्रमसे द्रव्यसे आहारादि तथा भावसे कषायादिको कम करनेका भरपूर प्रयत्न करे, और क्रमशः शरीरसे लगते सब व्यापारोंको संयम द्वारा लकड़ीके तख्तेके समान(तख्ता जैसे किसीके द्वारा छीला या काटा जाय तो भी समवृत्ति रखता है इसी प्रकार)समभावको सुरक्षित रखकर(आयुष्यके अंतमें)धैर्यपूर्वक और विलाप रहित भावपूर्वक पादपोपगमन अनशन करके मृत्युकी भेंट चढ़ जाय।

उस समय पहले ग्रामादि स्थानोंमें जाकर, पुराल, घास या कुशा(दाभ)आदि लाकर, एकाँतमें निर्जीव और पवित्रभूमि देखकर, वहां शय्या बनाकर और फिर

शरीर, शरीरका व्यापार तथा हलनचलनादि सब क्रियाओंको छोड़ दे ।

विशेष—यहां सूत्रकारने जीवनकाल पूरा हो जाय तब किसप्रकारका समाधिमरण हस्तसिद्ध करे यही बात कही है। ऐसे मरण प्रायः विशिष्टत्यागी पुरुषोंके हो सकते हैं, या जो अपने आयुष्यके अन्तसमयको भी यथार्थ जान सकते हैं। ऐसे मरण पूर्वकालके श्रमणसाधकोंमें सहजरीतिसे होते थे। जिन का जीवन समाधिमें प्रवेश कर गया हो, उनका मरण समाधि-पूर्वक हो सकता है।

ये मरण इच्छापूर्वक होते हैं। इसमें आग्रह, प्रतिष्ठाका मोह या विषादके अनिष्ठतत्व नहीं होते। क्योंकि यदि ये तत्व हों तो वह मरण समाधिमरण नहीं गिना जाता। इसमरणको जैनपरिभाषामें अनशन कहा गया है। और शास्त्रकार इसके तीन भेद करते हैं। भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण और पाद-पोपगमन।

भक्तपरिज्ञामें मात्र चार तरहके आहारका परिहार होता है। इङ्गितमरणमें चारोंप्रकारके आहारके उपरांत क्षेत्र स्थानकी भी मर्यादा होती है या उतने ही क्षेत्र या स्थानके सिवाय दूसरा न कल्पे इत्यादि। इसी प्रकार पादपोपगमनमें तो प्राणांतपर्यन्त वृक्षको तरह स्थिर, निश्चेष्ट या निर्व्यापार होकर रहना होता है।

(५) सत्यवादी, पराक्रमी, संसारका पारगामी

हो या "फ़िर मेरा क्या होगा ?" ऐसे भयसे सर्वथा रहित, वस्तु स्वरूपका यथार्थ जानकार और बंधनोंके जालमें न फंसनेवाला मुनिसाधक जिनप्रवचनमें अंत पर्यंत दृढ़ विश्वास रखकर भयंकर परिषह या उपसर्गों में भी समता रख सकता है, और इस विनश्वर देह में मोहमुग्ध न बनकर इसरीतिसे जीवनके अंतपर्यंत सत्य और दुष्करसाधनाकी सिद्धि निरन्तर किये जाता है। इसप्रकार स्वेच्छासे मरण की भेंट होना (अपघात नहीं बल्कि) प्रशस्त मृत्यु गिना जाता है। ऐसा उच्च श्रमणसाधक आत्मशत्रुओंका अंत कर सकता है। इस तरह यह दूसरे समाधिमरणोंकी सदृश पादपोपगमनका शरण भीं बहुतसे निर्मोही पुरुषोंने लिया है। इसलिए हितकर्ता, सुखकर्ता, सुयोग्य, कर्मक्षयका हेतुरूप और भवांतरमें भी यह फलप्रद सिद्ध होता है। (इस प्रकार स्वीकारकरनेमें विशेष अपाय नहीं है)

उपसंहार—पांचवें उद्देशकमें भक्तपरिज्ञा, छठवेंमें इंगितमरण और सातवेंमें पादपोपगमन मरणकी विधि है। जीवनसे लगाकर मरण तकके प्रत्येक प्रसंग में अपने ध्येयमें अडिग रहना इसका सार है। जिस क्रियासे समभाव प्राप्त हो अथवा जिस क्रियाके करते

करते समभाव टिक कर रहे, वही क्रिया ध्येयको पहुंचनेका साधन गिना जा सकता है।

इस प्रकार जीवनमें अनेकांतवादकी प्रतिपल उपयोगिता सिद्ध होती है। अनेकांतवाद समभावका प्रेरक और समाधिका साधक है। साध्यमें सावधानी रखनेवाला प्रत्येक साधक इसके शरणको स्वीकार कर इसे अपना बनाले।

इस प्रकार कहता हूँ

विमोक्ष अध्ययनका सातवां उद्देशक समाप्त।

समाधिविवेक

अनशन अर्थात् न खाना यह कोई व्यापक अर्थ नहीं है, एवं अनशन मरजानेका रूढ अर्थ भी नहीं है। परंतु जीवन समाप्तिके समयसे पहले स्वयं सावधान होकर हँसते मुँहसे मुलाकात करनेका दृढ़ संकल्प करना, और देहभान भूलकर आत्मभानमें लीन होनेका नाम ही अनशन है, ऐसा सूत्रकारका कहनेका आशय है। और इसी दृष्टिसे प्रतिज्ञापालन या ध्येयमें अडोल रहनेकेलिए अपनी इच्छासे जीवनांत लाना इसभावका भी अनशनमें समावेश होता है, इसे आगे कहा जा चुका है।

अब सूत्रकार इस उद्देशकमें यह समझाते हैं कि ऐसे सहज मरणके अवसरके आने पर क्या कुछ किया जाय।

अनशनका आराधक नहीं है तो मृत्यु शीघ्र आवे तो पीडासे पिंड छूटा मानना, या नहीं तो जीवनके दीर्घकालको चाह करना, परंतु इसके मनमें जीवन और मरण दोनों दशा समान हो जाती हैं। क्योंकि देह रहेगा वहाँ तक इस देह साधकके द्वारा साध्यमें तल्लीन रहेगा, और इसके छूट जानेके पश्चात् दूसरा देह तो मिलना ही है ऐसा उसे दृढ़विश्वास होता है। जिसे यह विश्वास है उसे चिंता किस बात की ? ऐसे साधकको दूसरे जीवनमें भी ये साधन मिलते ही हैं। संस्कारों की जैसी आंतरिक सामग्री होती है, ऐसा ही बाह्य शरीर, शरीरोपयोगी साधन और क्षेत्र उसकेलिए तैयार हो जाते हैं, और जीवात्मा वहां के संयोगोंमें जुड़ जाता है। यह कर्मका अबाधित नियम है। परंतु यह नियम केवल मुंह द्वारा घोखनेसे ही जीवनमें ओतप्रोत नहीं हो जाता। और जहां तक उसे जीवनमें न बुन लिया जाय, वहाँ तक उसके अनुसार आचरण नहीं हो सकता और हो भी जाय तो भी अपथ्य सिद्ध होता है।

गुरु देव बोले:—

(१) आयुष्मान् जंबू! संयमी, धीर और ज्ञानी मुनिसाधक अनुक्रमसे साधना करते करते मृत्युसमय

प्राप्त होनेपर अपनी शक्तिके अनुसार मोहके मलसे रहित पवित्र तीन मरणोंमेंसे (अपने उसके लिए जो मरण योग्य लगे उससे) चाहे जिस किसी एकका आचरण करते हुए अंतिम समाधिका यथार्थ पालन करे।

विशेष—मृत्यु अर्थात् एक देह छोड़नेकी अंतिम पल और दूसरे देहके धारण करनेकी पूर्वपल। यह होनेपर जीवमात्रको पीछेकी स्थितिका अज्ञानसे पूर्वसाधन पर मोह और ममत्व रहता है। यद्यपि एक घरमें जहाँ तक रहना होता है वहाँ तक उससे मोह या ममत्व होते हुए समभाव होना भी ठीक लगता है; परंतु जब इसे छोड़ना पड़े तब एकप्रकारका विचित्र अनुभव होता है। ऐसे ही देह छोड़ते समय इस जीवात्माको भी ऐसा ही कुछ लगे यह स्वाभाविक है। परंतु यह तो सामान्य जगतकी बात हुई। साधक जीवनसे इसभावनाका पल्टा होता है; और होना भी चाहिए। 'मैं देहभानसे पर हूं' इसका यह जितना अनुभव करता है, उतना ही इसका बाह्यपदार्थोंसे मोह और ममत्व घटता है।

साधकोंको सम्बोधन करके यहाँ सूत्रकार मृत्युके समय समाधि कायम रखनेकी बात कहते हैं। समाधी आत्मसंलीनता ही है। साधक सारी उमर जागरूक रहनेका प्रयत्न करे तो भी, इसका अंतिम पल इसकी अंतिम परीक्षा है। अनुभवसे भी यह ज्ञात होता है कि कई बार एक विद्यार्थी चालाक और

होशियार होनेपर भी परीक्षाके पल इसे घबराहटमें डाल देते हैं। इसी प्रकार ज्ञानीसाधकके संबंधमें भी कई बार ऐसा बन जाता है। यह जीवन पर्यन्त सुन्दर रीतिसे जीवित रहा हो, तो भी मृत्यूकी पलें इसे चक्करमें डाल देती हैं। इसीलिए मृत्युकी पलोंमें पूर्णसावधान रहना, ऐसा महापुरुष पुनः पुनः कहते हैं।

यहाँ संयमी, धीर और ज्ञानी ये तीनों विशेषण सार्थक हैं। संयमी जीवन संयमको बुनता है, परंतु संयमी तो धीर-सहिष्णु होना चाहिए। और इन दोनों गुणोंके होनेपर भी यदि ज्ञानविवेक न हो तो परिणाम उलटा ही आता है। अर्थात् संयम, धैर्य और विवेक ये तीन गुण साधकमें होने चाहिए। समाधिकी स्थिरतामें ये तीन सद्गुण आवश्यक हैं।

सूत्रकार महात्मा यहाँ 'शक्तिके अनुसार' ऐसा पद डाल कर' उतने पैंर पसारिये जितनी लंबी सोड', 'शक्ति जितनी हो उतना काम करनेकी हां करे' ऐसी सूचना की है। यह बात तो व्यवहारमें भी प्रसिद्ध है। अर्थात् यह तो सहज समझने जैसी है। परंतु यहाँ शक्ति का अर्थ यह है कि:— अपने निश्चयबल और विवेकबुद्धि इन दोनोंको विचारकर किसी भी क्रिया का प्रारम्भ करे, कि जिससे यह कार्य सांगोपांग पार उतरे। कई बार 'शक्ति नहीं' ऐसा मानकर बहुतसे आदमी विकासकी क्रियाकी ओर लक्ष्य नहीं देते, यह ठीक नहीं है। क्योंकि शक्ति तो सबमें है ही; मात्र इसे विकासमें लाना चाहिए। इसे साधनाकेलिए, आदमीको इतर प्राणीओं

की अपेक्षा अधिक सुन्दर और अनुकूल साधन तथा अवसर दोनों हैं। तब 'शक्ति नहीं' यह कहकर अपने कर्तव्यसे नहीं छूट सकता, और छूट जाय तो दुगुना अपराधी गिना जाता है।

सारांश यह है कि शक्तिके अनुसार करनेका उल्लेख यह मार्गदर्शन कराता है कि 'कोई भी क्रिया शीघ्रतासे न करनी चाहिए' इतना ही समझानेकेलिए बस है। क्रिया न करनेके लिए नहीं रोका गया है। 'शक्ति नहीं है' ऐसा माननेमें भूल और दंभ है। यह बनने योग्य है कि उसमें अल्पता या बहुलता हो तो भी शक्ति कम हो तो उसे अधिक ठीक बनाकर और समाधिकी साधको पूरा करना सबका कर्तव्य हो जाता है। और शक्ति क्रमपूर्वक चलनेसे आती ही है। जब यह निश्चित है तब फिर शुद्ध मार्ग पर सत्पुरुषार्थ करना ही तो शेष रह जाता है।

(२) अहो जंबू ! जो बाह्य (शरीरादि) तथा आंतरिक (रागादि शत्रु) इन दोनोंका यथार्थ स्वरूप समझेगा और फिर क्रमशः उनके बुरे प्रभावसे अलग छूट जायगा; ऐसे साधक धर्मके पारगामी और ज्ञानी मुनिसाधक अनुक्रमसे साधनामार्गमें आगे बढ़कर कर्मों-से सर्वथा छूट सकेंगे।

विशेष—परंतु क्रिया हेतुशून्य न होनी चाहिए। कोई भी अनुष्ठान लक्ष्यरहित न हो; नहीं तो अर्थका अनर्थ हो

जाता है। इसलिए सूत्रकार महात्मा यहाँ स्पष्ट कह देते हैं कि चेतनको चिपटे हुए जड़ कर्मों से चेतनको मुक्ति मिले ऐसी चित्तकी स्थिति बनाओ, यह अनुष्ठान ही लक्षणयुक्त गिना जाता है। अनुभव भी यही कहता है कि जिस क्रियाके पीछे यह हेतु होता है, वही क्रिया स्व और पर, व्यक्ति और समाज राष्ट्र या विश्वके लिए उपकारक हो पड़ती है। ऐसे हेतुसे जो निरर्थक क्रिया होती है, वह स्व और परको निरर्थक और बाधक सिद्ध होती है। बहुतसे शुष्क कर्मकांडी या क्रियाकाण्ड का आचरण करनेवाले, उनका अपना आंतरिक जीवन चाहे जैसा कलुषित हो तो भी क्रियासे ही मात्र आत्म-सन्तोष पकड़े बैठे रहते देखे गए हैं; इतना ही नहीं बल्कि जिनका आंतरिक जीवन शुद्ध होते हुए अवकाशके अभावमें या किसी दूसरे कारणसे बाह्यक्रियाएँ पूर्ण रीतिसे न कर सकते हों तो उन्हें अपनेसे हलका गिनने तथा अपमानित करने तक की भी वे धृष्टता कर बैठते हैं। यह दशा कितनी अधिक खेदजनक है। क्रियाएँ इसलिए आवश्यक हैं कि उन क्रोधादि शत्रुओंको घटाकर तथा प्रेम, पवित्रता, नम्रता आदि गुण प्राप्त कराकर विश्वबंधुत्वका विकास साधनेमें उपयोगी सिद्ध हो सके। अर्थात् जिसक्रियासे वे शत्रु न घटकर और उल्टे बढ़ने लगें तो वह क्रिया शुद्ध न समझी जायगी। प्रत्येक साधकको यह ध्येय सुरक्षित रखकर क्रिया करनी चाहिए, यहाँ यह कितनी सुन्दर ध्वनि है।

(३) गुरुदेव ! त्याग या तपश्चर्याका प्रधान हेतु क्या है ? गुरुदेवने कहा कि:—मोक्षार्थी शिष्य ! प्रत्येक साधक कषायोंको मंद करनेकेलिए आहारको घटाता है। और इसीदृष्टिसे तपश्चर्या होनी उचित है। इसी से प्रिय जंबू ! यदि आहारके त्यागसे प्रकृतिपर काबू चलता रहे तो समाधि और शांति कायम रखनेकेलिए अवश्य आहार ले सकता है। और यह ठीक ही है। मात्र इसकी छूट लेनेके बाद अपने लक्ष्यको न चूक जाना चाहिए, इतना ध्यान रहे। इसरीतिसे साधक क्रमशः संयम, त्याग और तपकी त्रिपुटीको समझकर कषायों का शमन करता हुआ आगे बढ़े और शिथिल न बन कर मृत्युकालमें मृत्युको सुख पूर्वक भेंट सके।

विशेष—जैनदर्शनमें स्थान स्थान पर अनेकांतवादके दर्शन होते हैं। इसकी ऐसे ऐसे सूत्र प्रतीति अर्पण करते हैं। यहाँ जो तपश्चर्या कही है, वह संथारा या अंतिममरणका अनुलक्ष्य करके कहा गया है। परंतु यह तपश्चर्या किस हेतुसे करे इसका इस सूत्रमें अधिक स्फुटीकरण हैं। इतना ही नहीं बल्कि सूत्रकारने यहाँ एक दूसरी उत्तम बात कर डाली है। और वह यह है कि क्रिया स्वयंको प्रिय लगती हो, स्वयं उसमें लगगया हो, तो भी परिणामस्वरूप या क्रियामें जुड़नेके बाद अपना ध्येय उससे पूरा न होता देखे तो उसक्रियाको जड़के

समान न चिमटा रहकर उस समय तो उसे छोड़ ही दे, अर्थात् ध्येयको रखकर क्रियाका परिवर्तन करे।

यह एक मानसशास्त्रसे सिद्ध घटना है, कि एक क्रिया या एक वस्तु हमें एक समय अतिप्रिय हो, हम उसका आचरण भी करते हों, फिर भी अमुक पल ऐसी भी आती है, कि यह क्रिया स्वयं को न रुचे। फिर कई बार ऐसा भी होता है, कि उसक्रियाके करनेकी अपनेमें पूर्ण शक्ति हो, 'क्रिया शुद्ध है' इसकी प्रतीति भी हो, तो भी उसपर अरुचि हो जानेसे उसे छोड़देनेका मन होने लगता है। इसस्थितिका अनुभव हमने अपने निजके जीवनमें क्या कभी नहीं किया है? इस तरह बननेमें हमारे अपने पूर्वअभ्यास, मानसिक निर्बलताएँ और गहराईमें रही हुई अश्रद्धा कारणभूत होती है। इसलिए इसके वश होना वीरसाधकको शोभा नहीं देता, यह ठीक भी है। तो भी इससे इतना तो समझना ही पड़ता है कि प्यारीमें प्यारी क्रिया पर भी असन्तोष उत्पन्न होता है। और ऐसा होना कुछ अकस्मात् कारण नहीं है। और यह होने योग्य है, तथा ऐसा बन भी जाता है। इतना समझनेवाला साधक प्रत्येक क्रियामें विवेक कायम न रक्खे इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं।

इससे कोई यह न समझ ले कि क्रिया करना छोड़ ही दिया जाय या आलसी बन जाय, या बुरे मार्ग पर चढ़ जाय, कोई ऐसा उल्टा अर्थ न ले बैठे। ठीक बात तो यह है, कि जो साधक इतना विवेकी होगा वह किसी भी स्थितिमें पतन

को प्राप्त नहीं होता, वह इतना विश्वासी होता है। विवेकी साधक एक क्रियाको छोड़ देगा, तो भी यह दूसरी क्रिया पकड़े विना न रह सकेगा। क्योंकि इसका अपना विकासका ध्येय तो बराबर ही होगा। वह निवृत्त होगा तो भी निवृत्तिमें अपने संकल्पबलको अधिकसे अधिक उत्तेजित करेगा, क्रियाके ध्येयको पुनरावर्तित करेगा और ठीक जांचेगा। और ऐसा बल पाकर तर व ताजा होकर फिर उस अधूरी अथवा अपना ध्येय सिद्ध करनेवाली दूसरी क्रियाको हाथमें लेकर आगे ही बढेगा। परंतु जो उलटा ऐसे समय इतना विवेक नहीं रखते, वे केवल शुष्क क्रियाकांडी होकर साधनामार्गमें रहते हुए सच्चा ध्येय नहीं पा सकते। इसके आंतरिक और बाह्य जीवन दोनों निराले बन जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि व्याकुलताके अतिभारसे महापतनके गढ़े में भी ऐसे साधक कई बार गिर जाते हैं इनके अनेक दृष्टान्त हैं। इसलिए इस सूत्रका सारांश यह है, कि जो साधक ध्येयकी ओर अभिमुख हुआ हो, उसे ऐसे समय क्रियामें नवीनता और संगीनता लाने जितना विश्राम लेने योग्य है, यह विश्राम इसलिए है कि उसमें फिर ताजगी आ जाय। रस और प्रेमपूर्वक जो क्रिया होती है, वही संगीन और परिपक्व फल दे सकती है, यह सदैव स्मृतिपथमें रखना चाहिए। जैसे रात्रि निष्क्रियताकेलिए नहीं हैं, बल्कि दिनके श्रमका निवारण करके आनेवाले दिनकेलिए अधिक काम करनेके लिए आरामके हेतु है, और यह नैसर्गिक तथा आवश्यक भी है, इसप्रकार विवेकी साधककी निवृत्ति भी श्रेय-

साधक और उपयोगी है। इसका सब मनन करें। गंभीर मनन करनेके पश्चात् इससूत्रका रहस्य स्पष्ट समझमें आ जायगा।

(४) (प्रिय जंबू ! अनशन करे, मरणसे भेंट करे इन पदोंके ऊपरसे जीवितको जानबूझकर नष्ट कर डालनेका कोई उलटा अर्थ न लगा ले इसीलिए कहा है कि:—) जीवन और मरण इन दोनों स्थितिओंमेंसे प्रज्ञ साधक कोई भी वासना आगे न रक्खे। सारांश यह है कि जीवन या मरण इन दोनोंमेंसे किसी भी दशा पर आसक्त न हो, परंतु मध्यस्थ-समभावी बनकर केवल कर्मक्षयके हेतु ही जीवन पर्य्यंत समाधिभाव सहज शांतिको सुरक्षित रक्खे। (और वह शांति चली न जाय इसके लिए) पहले (आंतरिक तथा बाह्य) उपाधिको छोड़कर अंतःकरणकी शुद्धि करे।

विशेष—समाधिका लक्ष्य हो ऐसा साधक मरण और जीवन दोनों मात्र कर्मजन्य सहज अवस्था हैं ऐसा समझे। इसे ऐसा लगे और इसे जीवनका मोह या मरणका भय इन दोनोंमेंसे कुछ भी न होना यह स्वाभाविक है। ऐसा साधक जीवन पर्यन्त मध्यस्थभावसे जीवित रह सकता है, और मरण आवे तो उसे प्रसन्न हृदयसे भेंट भी कर सकता है। उस समय की तपश्चर्या भी इसी हेतुसे उपयोगी है। वह हेतु न सरे तो

उलटा देहभान अधिक पीड़ित करे तो कुछ समयकेलिए तपश्चर्या स्थगित करदे यह बात भी आगेके सूत्रमें सूत्रकारने कह दी हैं। अब उससमय रोगादि उपद्रव आ पड़े तो क्या करे, उसे बताते हैं।

(५) अनशनके समय कदाचित आकस्मिक रोग उत्पन्न हो जाय और चित्तसमाधि यथार्थरूपसे न रहती हो तो उसस्थितिमें साधक (अनशनमें भी) रोग मिटानेके शुद्ध उपाय कर सकता है, परन्तु उन उपायोंके करनेके पश्चात् जब समाधि प्राप्त हो तब तुरन्त ही उसे अपना प्रयोग चालु कर देना चाहिए।

विशेष—अनशनमें औषधादि चुपड़ने या लेप करनेका भी त्याग होता है, तो भी ऐसे प्रसंगमें यदि चित्तसमाधि न रहती हो तो उसे स्थिर रखनेके लिए सूत्रकार स्वयं योग्य और निर्दोष औषधिकी छूट देते हैं। इससे अनशनका हेतु क्या होना चाहिए? और प्रत्येक क्रियामें अनेकाँतवादका कितना उत्तम स्थान होना चाहिए? यह सब स्पष्ट समझा जा सकेगा? क्रियाका महत्व इसरीतिसें समझा जाय तो व्यवहार और निश्चय दोनोंका सुमेल साधकर रहे। जिस क्रियाके पीछे ध्येयको चूककर भी उससे चिमटकर रहा जाय तो वह क्रिया नहीं बल्कि क्रियाके नामपर चलनेवाली केवल रूढि है। गत क्रिया सुन्दर हो तो भी साधकको उसका कुछ लाभ नहीं मिल सकता। सारांश यह है कि प्रत्येक समय ध्येयकी ओर ठीक

लक्ष्य रहे। ध्येयको बाधित हो उस क्रियाको न पकड़े। और ध्येयकेलिए बाधक हो ऐसी क्रिया पकड़ रक्खी हो तो भी उसे छोड़ दे अथवा विवेक बुद्धिसे क्रियाका आचरण करे।

(६) (आयुष्यके अन्तमें समाधिमरण कहाँ होना चाहिए) इसके उत्तरमें—

गुरुदेव बोलेः—

प्रिय जंबू! मरण अमुक स्थलमें हो तब ही समाधिमरण कहलाता है, इसप्रकार कुछ क्षेत्रबंधन नहीं है। ग्राम हो या अरण्य हो, मात्र यह स्थान छोटे बड़े जीवजन्तुओंसे व्याप्त न हो और शुद्ध हो इतना खयाल रखना चाहिए। ऐसा स्थल देखकर पहले वहां सूखा घास या दाभादि की शय्या बिछावे।

(७) और फिर उस शय्या पर आहारत्याग (अनशन) करके शयन करे। इसप्रकार अनशनका आचरण करनेवाला विशिष्ट साधक, जो कुछ परिषह या उपसर्ग (संकट) उत्पन्न हो तो सबको समभावपूर्वक सहन करे और यदि कोई मनुष्य अनेक प्रकारके कष्ट पहुँचावे तो मनसे भी कलुषित भाव न उत्पन्न करे।

विशेष—इन दोनों सूत्रोंमें सूत्रकारने दो बातें कही है। पहली बात तो यह कही है कि अनशन करनेकेलिए अमुक ही क्षेत्र चाहिए। दूसरा हो तो न चले ऐसे आग्रहको स्थान नहीं

हैं। क्योंकि स्थान तो मात्र निमित्त है। उपादानकी पूर्ण तैयारी हो तो निमित्तकी प्रतिकूलता बिल्कुल गौण बन जाती है। परन्तु मात्र इतना ही विवेक रखना चाहिए कि वह स्थान पवित्र होना चाहिए। स्थानके शुद्ध आन्दोलन समाधि में सहकारी होते हैं। और दूसरी बात अन्तिम समयमें आकर पड़ने वाली आपत्तियोंके सम्बन्धमें कही है। प्रथम क्षुधा, रोग आदि स्वजन्य संकटोंकी बात थी। यहाँ परजन्य संकटोंकी बात है। यद्यपि आपत्ति तो आपत्ति ही है। परन्तु फिर भी जो कष्टको जानता है उसे सहन करना सुगम है। परन्तु दूसरे की ओरसे और वह भी किसी प्रकारके अपराध किए विना ही जो आपत्ति आती है वह अपरिचित होनेसे उसका सहन करना अतिकठिन हो जाता है। यद्यपि स्वजन्य या परजन्य किसी भी प्रकारकी आपत्ति आती है, वह आकस्मिक नहीं है। बल्कि वह प्रत्यक्ष या परोक्ष अपने ही किए कर्मोंका परिणाम है। और उसे अपने आप ही भोगना है, जिसकी ऐसी शुद्ध बुद्धि है; उसकेलिए सहनशक्तिका प्रश्न गौण है। क्योंकि विवेकी साधक यह सब प्रेमपूर्वक सहनकर सकता है। सहनकर लेना भोगलेनेको ही नहीं कहते, बल्कि इन संकटोंके निमित्तों पर मनमें लेशमात्र भी कलुषितभाव या प्रतीकारका भाव न आने देना ही आदर्श सहिष्णुता है।

यद्यपि ऐसे उच्च साधकोंके पास ऐसी ऐसी सिद्धि, शक्तियां और इतना अधिक सामर्थ्य होता है, कि वे यदि चाहें तो बैठेही बैठे अनेक बलों द्वारा प्रतीकार कर सकते हैं। तो भी

वे उसका प्रयोग करनेकी इच्छा नहीं करते। इतना ही नहीं बल्कि स्वप्नमें भी दूसरेका अनिष्ट करना नहीं चाहते। यह दशा ही इनकी सच्ची सहिष्णुताकी या समभावकी प्रतीतिरूप है।

(८) मोक्षाभिमुख जंबू! यदि कीडियां, कीडे, मच्छर गिद्ध आदि पक्षी मांसभक्षी या खून पीनेवाले इतर हिंसक प्राणी, सांप या सिंह आदि जीव (जंगलमें अनशन करके मृत्युकाल पर्यंत समाधि भावमें रहनेवाले साधकको) कुछ उपद्रव करें तो उसप्रसंगमें मुनि अपने हाथसे या रजोहरणादिसाधनोंसे उसका कुछ भी प्रतीकार न करे।

विशेष—मच्छरके एक जरासे चटकेको सहन करनेमें भी कितनी सहिष्णुता या बलकी आवश्यकता पड़ती है, इसका विचार अनुभव द्वारा हो सकता है। परन्तु यह बल जैसे बातें करनेसे या मात्र शारीरिक शक्ति लगानेसे या सहन करनेसे नहीं आता। इसमें तो आत्म-बलवान् को साहजिक एवं निश्चय बल चाहिए। "जगतकी कोई भी क्रिया सहज नहीं होती। सर्प या सिंहका अमुकको काटखाना, अमुकको अमुकके उद्देशसे ही रंजन करना आदि जो क्रियाएँ होती हैं वे इसमें परस्पर रहे हुए वैर और भयके संस्कारोंके कारण ही होती हैं। इन्हें विना बल भी सहन करना सुगम है, परन्तु समभावमें

स्थिर रहना दुर्लभ नहीं तो अशक्य अवश्य है। इसीलिए सूत्र-कार महात्मा कहते हैं कि जो समाधिकी इच्छा करता हो उसे इस बाह्य प्रतीकारसे मनको पर रखना चाहिए।"

(९) प्रिय जंबू ! सुनः ! देहसे पर; आकर पडने-वाले संकट किस प्रकार सहन हो सके इसका स्पष्टी-करण करता हूं।(कई बार ऐसा भी बनता है कि साधकका चित्त, प्राण और मन ऐसा कुछ उन्नत भूमिकाके प्रदेशमें पहुँचा हुआ होनेसे साधकको अपने देह या प्राणों पर क्या बन रहा है, उसका भान भी नहीं रहता, और भान होने लगे तो भी इसकी आंतरिक शक्ति अत्यधिक विकसित होनेसे उस प्रसंगमें) विशिष्ट साधक यह चिंतन करता है कि ये बेचारे पशु मेरा शरीर भक्षण कर रहे हैं। परन्तु मेरे आत्माको खा डालनेकी उनमें शक्ति नहीं। मेरे आत्माको यदि कोई खा सकता है तो वह मेरे अपने अन्तरमें रहनेवाले शत्रु मात्रः हो……। या जो दूसरेके प्रतीकार करनेके लिए मुझे उत्तेजित कर रहे हैं। इसलिए मेरे असली शत्रु-क्रोध, मान, माया और लोभादि हैं, मुझे उन शत्रुओंका ही प्रतीकार करना उचित है। यही सोचकर वह अध्यात्मध्यानमें लीन होता है। प्रिय जंबू ! इस तरह साधक चिंतन और मनन द्वारा स्थिर होता है।

परन्तु ऐसे बाह्य प्रभावसे अपने नियत किए हुए स्थल को छोड़कर किसी दूसरे स्थानपर न चला जाय। (क्योंकि ऐसा करनेसे उसकी आत्मसमाधिका भंग होता है।)सारांश यह है कि पापके हेतुओंको छोड़कर आनन्दमें रहते हुए सब कुछ सहन करे और समभाव को धारण कर रखनेमें ही साधकका परम हित है।

विशेष—इस सूत्रमें मन इससे पर कैसे रहे, इसका उपाय या जिनका उपयोग अनुभवी पुरुषोंने किया है, यही बताया है। असल बात तो यह हैं कि प्रज्ञसाधक कार्यकें सन्मुख देखते हुए रुकते ही नहीं; और कार्यके ऊपर दृष्टि पड़े तो कार्यको न तोड़कर वे तो कारणको ही तोड़फोड़देते हैं। क्योंकि जैसे कार्यका मूल कारण है, ऐसे ही बाहरके दुःखका मूलकारण भी अपनेमें रहा हुआ कारण है, वे साधक इसबात को भली भाँति जानते हैं।

(१०) प्रिय जंबू! गीतार्थी मुनिसाधक इसप्रकार शास्त्रोंद्वारा संयम और ध्यानके रहस्यको जानकर मृत्युकाल आनेपर इंगितमरण नामक अनशनका समाचरण करता है। यह अनशन भक्तपरिज्ञाकी अपेक्षासे अधिक कठिन है।

(११) क्योंकि इंगितमरणके अनशनके संबंधमें ज्ञातपुत्र भगवान् महावीरने कहा है कि:—इसप्रकार

अनशन करनेवाला साधक अपने आप ही उठे, करवट बदले और प्राकृतिक आवश्यकताओंका निवारण करे इत्यादि क्रियाएँ स्वयं कर सकता है। विधान ऐसा है कि किसी दूसरे द्वारा यह अपना कार्य नहीं करा सकता।

विशेष—सातवें उद्देशकमें जो तीन प्रकारके अनशनकी बात कह आए हैं, उसमें से यह दूसरा अनशन है। इसका विशेष ज्ञान वहाँ से जान लें।

(१२) प्रिय जंबू ! इसप्रकार अनशनको धारण करनेवाला साधक वनस्पति या क्षुद्र जीवजन्तु वाली जगहमें नहीं सोता, मात्र निर्जीव और निर्दोष स्थान पसंद करके वहीं शयन करता है, एवं आहारका त्याग करते हुए जो कुछ मानव, देव या पशु तथा प्राणीजन्य संकट आ पड़ें तो उन्हें समभावपूर्वक सहन करे।

(१३) अप्रमत्त जंबू ! अनशन स्वीकार करके शय्या पर सोते-सोते कदाचित इससाधकके हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ अधिक अकड जायँ तो इन्द्रियों का हेर फेर करके भी समाधि प्राप्त करे, क्योंकि इन (क्रियाओंके) करनेसे जो समाधिस्थ रहे तो इन

क्रियाओंके होते हुए भी पवित्र और अटल ही गिना जाता है।

विशेष—यदि क्रियासे चलित नहीं है परंतु चित्तसे चलित है तो वह अचल नहीं है, परंतु जो क्रियासे चलित होते हुए चित्तसे निश्चल हैं वह अचल है। सूत्रकार यही सूचना करते हैं कि ये सब नियम स्थिरता और समाधि पानेके लिए हैं। इनके पीछे चलते हुए यदि समाधिका भंग होता हो तो क्रियाको पकड़े रखकर समाधिका भंग करना, उसकी अपेक्षा समाधिको सुरक्षित रखनेके लिए क्रिया बदल देना योग्य है।

परंतु स्मरण रहे कि इस इंगितमरणमें ऐसी क्रियाकी बिल्कुल ही प्रतिज्ञा नहीं होती। ली हुई प्रतिज्ञामें जिसप्रकार की छूट है उसका लाभ लेनेकी इसमें सूचना की है, प्रतिज्ञा भंग करनेकी नहीं। प्रतिज्ञाभंग तो प्राणभंगसे अधिक कनिष्ठ है, और यह बात पहले कह आए हैं। यहाँ इस छूटके निर्देश करनेका यह कारण है, कि प्रतिज्ञामें मिलनेवाली छूटका दुरु-पयोग न होना चाहिए। इतना ही कहा है कि यदि कहींसे अंग अकड़ जाय तो छूटका लाभ ले।

इससे यह फलित होता है कि प्रतिज्ञामें रक्खी हुई छूट किसलिए है, इसे समझकर इसका दुरुपयोग न करे, एवं जड कदाग्रह भी न रक्खे।

(१४) अहो जंबू! इस इंगित अनशनकेलिए नियत (निश्चित)की हुई भूमिमें वह अनशन करनेवाला

श्रमणसाधक चित्तकी समाधिकेलिए जाना,आना, बैठना, पैर पसारना, संकोच करना, आदि क्रियाएँ कर सकता है। परन्तु यदि वह साधक समर्थ हो तो उसे जान बूझकर छूट लेनेकी आवश्यकता नहीं। केवल अचेतन(निर्जीव-जड)पदार्थकी तरह एक आसन पर अडिग ही होकर रहे।

विशेष—उपरोक्त बातका यहाँ विशेष स्फुटीकरण किया गया है।

(१५) यदि साधक बिलकुल स्थिर न रहसके और बैठा बैठा थक जाय, तो उसे(चित्तसमाधिके अर्थ)घूमना फिरना अथवा घूमते-फिरते हुए थक जाय तो यत्नपूर्वक बैठे, और बैठनेसे थक जाय तो शयन करना(उसके लिए योग्य है।)

(१६)(अ) जंबू ! ऐसे पवित्र अनशनके मार्गमें प्रयुक्त रहनेवाले श्रमणसाधकको (खासकर एक लक्ष्य रखना है वह यह है कि:—)अपनी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर न धिकजायँ इसके बचावकेलिए पूरा संयम रक्खे।

विशेष—मनोभावना भी विषयोंकी ओर न ढुलक पड़े इतने असाधारण संयमकी दृष्टिसे यहाँ यही बात सूत्रकारको

कहनी पड़ी है । अंतिम समाधिमें विषयोंकी ओर ढुलकती हुई वृत्ति महान अंतरायभूत है। इस प्रकार ये समझाना चाहते हैं। सतत जागरूकता विना इस तरह रहना अशक्य है । साधक जब किसी भो क्रियामें प्रवृत्त होता है तब उसे पूर्वाध्यास जरा भी पीडित नहीं करते; और इसे यह भी लगता है कि मैं अब निर्विकारी हो गया हूं । या होता जा रहा हूं । एकांत निवृत्ति तो सचमुच पूर्वाध्यासोंको आगे आनेका एक उत्तम अवसर है। ऐसे समय जीवनभरमें न अनुभव की हुई वासनाओंके आंदोलन बलवत्तर आघात पैदा करते हैं। उसके सामने प्रत्याघात भी उतना ही प्रबल होना चाहिए। तब ही साधक विजयी सिद्ध हो सकता है।

यहां का विजय ही सच्चा और अंतिम विजय है; और यहाँ की हार भी अंतिम हार है। जैसी स्थिति जीवनकालकी मृत्युके समय होती है; ऐसी स्थिति इसप्रसंगमें भी होती है। जीवात्मा स्थानांतर होकर पुनर्भवको पाता है। इसीसे इन पलोंमें सावधान रहनेके लिए महात्मा पुरुष पुनः पुनः कहते हैं।

(१६) (ब) मोक्षार्थी जंबू ! इस अनशनमें साधक को बहुत कमजोरी हो जानेके कारण यदि कमरके पीछे सहारा लेनेकी इच्छा हो तो लकड़ीका तख्ता रख सकता है। परंतु यह तख्ता अंदरसे पोला न हो। क्योंकि इसकी पोलमें छोटे बड़े जीवजन्तुओंका

होना संभव है। इसलिए यदि पोला हो तो उसे बदल कर दूसरा ले सकता है।

(१७) ऐसे समय जिस क्रियासे आत्मा दूषित हो जाय साधक ऐसी किसी भी क्रियाका अवलंबन कभी न ले। सारे सदोष योगोंसे आत्माको दूर करके (मात्र उपस्थित होनेवाले) सब परिषह तथा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करे।

विशेष—देहभान भूलकर केवल आत्मभानमें रहनेका ध्येय सूत्रकार बार बार व्यक्त करते हैं।

(१८) (इंगित अनशनकी विधि समाप्त करके अब गुरुदेव पादपोपगमन अनशनको विधि कहते हैं।)

प्रिय जंबू !(पादपोपगमन) अनशन को जो श्रमण स्वीकार करता है, उस समय उसका शरीर अकड़ जाय या प्राणियोंसे पीड़ित हो तो भी इसे अपने स्थान से लेशमात्र डिगना नहीं होता। सारांश यह है कि इसरीतिसे पादपोपगमन अनशनकी विधि अतिदृढ़ और कठिन होती है।

(१९) मोक्षार्थी शिष्य ! इसोसे यह अनशन तीन प्रकारके अनशनोंमें सर्वोत्तम है। क्योंकि पहले बताए

हुए भक्तपरिज्ञा और इंगितमरण इन दोनों की अपेक्षा यह अनशन अधिक कठिन है ।(इसकी विधि इस प्रकार है:—)पहले तो निर्जीव और निर्दोष स्थानको देखकर वहाँ बैठकर यह अनशन अंगीकार करना चाहिए ।

(२०) और ऐसे साधकको, वैसे शुद्ध स्थान पर अथवा अच्छा तख्ता मिल जाय तो उस पर स्थित होकर चार प्रकारके आहारका त्याग करे तथा सुमेरुके समान निष्कंप होकर देहाभिमानसे सर्वथा दूर ही रहे । (ऐसे प्रसंगमें कदाचित परिषह या उपसर्ग आ पड़ें तो विचारे कि:—)परिषहकी ओर क्या लागलपेट है ? (क्योंकि शरीर स्वयं ही जब मेरा नहीं है तो इसे लगते परिषह मेरेलिए क्या हैं ?

(२१) प्रिय जंबू ! फिर उसे यह विचारना चाहिए कि मात्र जहाँ तक जीवित रहूंगा वहां तक ही परिषह और उपसर्ग सहन करने हैं; फिर तो आगे कुछ नहीं होना जाना है । यही सोचकर मैंने स्वेच्छा-पूर्वक "शरीरसे अलग होनेकेलिए ही शरीरका त्याग किया है तो अब पीछे किस लिए हटा जाय ? वीर जंबू ! मैं कहता हूं कि ऐसे चिंतनसे पंडित साधक उपस्थित होनेवाले सब परिषहोंको तथा उपसर्गको सुगमतासे सहन कर सकता है ।

विशेष—कल्पना और वस्तु दोनोंको अलग बताकर सूत्रकार कह डालते हैं कि साधक जब किसी भी पदार्थकी प्रतिज्ञा लेता है, तब उस प्रतिज्ञाके पालन करनेमें अनेक संकट आयँगे ऐसी कल्पना तो उसके मनमें होती ही है, परंतु जब उन संकटोंका अनुभव होता है, तब उसके भीतरके बनावटकी पूर्ण कसोटी होती है ।

जो आदमी प्रतिज्ञाकी पूर्णता न मानकर प्रतिज्ञा लिए पीछे भी ज्यों का त्यों दृढ़ संकल्प सुरक्षित रखनेकेलिए जागृत रहते हैं उन्हें ऐसे समय आंतरिकशक्ति अवश्य मदद करती है । परंतु जो प्रतिज्ञा लेकर अपनेको त्यागी मानकर गाफिल रहते हैं, वे ऐसे समय प्रायः पराजित होते हैं । इसीसे वृत्तिको सहज परंतु दूसरी ओर न ढलने देनेका यहाँ आग्रह है । बहुतसे साधक एक ओर वृत्तिको पदार्थोंकी तरफ ढलने देते हैं, और दूसरी ओर स्वयं तटस्थ दृष्टा रहनेके मनोरथ सेवन करते हैं । वह मार्ग सूत्रकारकी दृष्टिसे देखते हुए सर्वथा सुरक्षित नहीं है ।

(२२) मोक्षार्थी जंबू ! कदाचित प्रसंगोपात्त कोई राजाआदि अथवा श्रीमंत आकर कामभोग संबंधी अनेक प्रकारके प्रलोभन बताकर भोगोंका निमंत्रण देकर

श्रमण साधकका मन लुभाता है, तब उसप्र संगमें श्रमणसाधक क्षणभंगुर शब्दादि विषयोंकी ओर अपनी आत्माको रागवृत्तिके भीतर न ढलने दे। वह सदा स्थिर होकर रहे और निजानंद स्वरूपकी ही मात्र आकाँक्षा रखकर आत्मदशामें लयलीन रहे।

(२३) अथवा कोई शाश्वत (अर्थात् मरणपर्यंत स्थिर रहें ऐसे) भोग, वैभव या द्रव्यका लालच देकर उस श्रमण साधकको निमंत्रण करे तो वह उस समय यह विचार करे कि जब मेरा शरीर स्वयं ही शाश्वत नहीं है तो इसके द्वारा दूसरी भोग्य वस्तुएँ कैसे शाश्वत हो सकती हैं? फिर कोई देवता आकर किसी प्रकारका विविध मायाजाल बतावे तो वहाँ भी उपरोक्त श्रद्धामें ही वह स्थिर रहे। सब प्रपंचोंसे अलग रहकर वह समझे, कि सचमुच यह सब माया (भ्रांति) है।

विशेष—यद्यपि जीवनमें प्रतिपल द्वन्द्व तो होता ही रहता है। परंतु वह इतना धीमा होता है, कि सामान्य आदमीको वह स्पष्ट नहीं दिखता। और इससे यह अनेक द्वन्द्वोंके बीचमें

भी जीवनकी आशाके मधुविन्दुओंकी चालसे चला ही चलता है। परंतु जब मौतका नोबत बजता है तब इसकी ऊंघ उड़ती है।

एक ओर इसकी जीवनआशा रुकती है और दूसरी तरफ इसके बाँधे हुए अनेक आशा-महेच्छा और कल्पनाओंके कोट टूट पड़ते हैं। इन दोनों ओर की मारके बीचमें रहा हुआ आदमी मंत्रमूढसा व्याकुल हो जाता है, अकड़ता है, चारों ओर हाथ मारता है,करुण शब्दोंमें आजीज़ी करता है और अपना भान भूल जाता है। इसीलिए सूत्रकार महात्मा मरणकालीन स्थितिको समाधिमय रखनेके व्ययहार्य उपाय दर्शाकर बार बार उस स्मृतिको ताजी करा रहे हैं। पहले प्रतिकूल प्रसंगोंका वर्णन हो चुका है। इन दोनों सूत्रोंमें अनुकूल प्रसंगोंका वर्णन है। प्रतिकूल प्रसंगोंमें समभाव जितना सुलभ और शक्य है उतना अनुकूल संयोगोंमें नहीं है। तो भी जिसे आत्मभान हुआ है उसे अशक्य नहीं है। शास्त्रकारने मनुष्यसंबंधी और देवसंबन्धी दोनों प्रकारके कामभोगोंका यहाँ उल्लेख किया है।

कामभोगोंके रस्सोंसे यह सारा संसार जकड़ा हुआ है, सबका अनुभव यही है। परंतु वे कामभोग किसलिए इच्छनीय हैं इसका स्फोट यह है कि उसमें सुखकी कल्पना की गई है इसलिए उसकी झंखना है। फिर सूत्रकार कहते हैं कि जगतकी

किसी भी अंतवान वस्तुमें सुख नहीं है। वह तो अनंतमें है। और अनंतका सुख तो अनंतमें ही होता है न ? जगतके जीव जिसमें सुख की कल्पना करते हैं, वे पदार्थ स्वयं नश्वर हैं, इसीलिए वह सच्चा सुख नहीं है। देवके भोगोंको चाहे कोई सुखद माने ! उनकेलिए कहा है कि दिव्यपदार्थ भी नश्वर हैं। सुख चाहते हो तो अनन्तमें खोजो, इससूत्रका यही सार है।

(२४) इसप्रकार साधनामें आगे बढ़नेवाला साधक सब विषयोंमें अनासक्त होकर, आयुष्यकालका जानकार बनकर, मृत्युके समय ऊपरके तीनोंमेंसे किसी एक अनशनको यथाविधि, यथाशक्ति स्वीकार करे, और सहनशीलताका सर्वोत्कृष्ट स्थान रक्खे। इन तीनों अनशनोंमेंसे किसी एक अनशनको अपनी योग्यतानुसार जो साधक स्वीकृत करे, उसकेलिए यह मरण सचमुच कल्याणकर्ता है।

उपसंहार—शरीरके छूटते समय शरीरजन्य आसक्ति जीवात्माको न जकड़ले इसकेलिए अनशन उपयोगी साधन है। इसकी पूर्तिकेलिए इसका यहां

बड़ा महत्व बताया गया है। परंतु यह बड़ा ही उत्तम है। इसमें धर्म है, इसलिए यह अनशन सबकेलिए करने योग्य है ऐसा आग्रह नहीं है। जिसमें पूर्णशक्ति हो वही इसका शरण ले। परंतु लेनेके बाद छोड़ना पड़े ऐसी भूल न करे। जो क्रिया प्रेम, श्रद्धा और निर्भयता से स्वीकार की जाय और प्रेम, श्रद्धा तथा निर्भयतासे पालन की जाय वही क्रिया साधक साबित होती है। जैनमुनि साधककी कोई भी क्रिया प्रमाद, अंधानुकरण अस्वाभाविकता या अविवेकबुद्धिसे युक्त न होनी चाहिए। प्रत्येक साधक इतना अवश्य विचार करे।

जीवन संस्कारोंको घडता है, और संस्कार जीवन को घडते हैं। जिसे जीवनका मोह नहीं और मृत्युका भय नहीं वही ज्ञानी है।

आत्माभिमुख स्थिति ही समाधि है। समाधिमें लीन रहना ही श्रमणका धर्म है।

जिन क्रियाओं द्वारा कषाय मंद पड़ें और आत्मा के अंश विकसित हों वही धर्माचरण है।

मूल ध्येयको क़ायम रखते हुए क्रियाओंका परिवर्तन होना हितावह है। सहिष्णुतामें जो बल होता है, वह लाखोंके विजेता वीरमें नहीं होता। जहाँ चंचलता है वहाँ समाधि नहीं होती।

इसप्रकार कहता हूं

विमोक्ष नामक आठवाँ अध्ययन समाप्त।

उपधान श्रुत

९

इस अध्ययनका नाम उपधान श्रुत है। जैनदर्शन में उपधानका व्यापक अर्थ तपश्चर्या है। इस शब्दका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सामीप्य धारण करना होता है। इससे यह स्पष्ट रीतिसे फलित हुआ कि जो क्रिया आत्माभिमुखता प्राप्त करावे उस क्रियाका नाम उपधान है। इस शब्दके साथ श्रुतपदको जोड़कर भगवान् सुधर्मा स्वामी या जिन्होंने आत्माभिमुखताकी पराकाष्ठा साधली थी, ऐसे श्रमण भगवान महावीरस्वामीका व्यक्तित्व स्वयं जिसरीतिसे सुनकर पचाया था उसी प्रकार यहाँ अपने शिष्य श्री जंबूस्वामीको उद्देशकर कहते हैं।

पहला उद्देशक

पाद विहार

इस अध्ययनके चार उद्देशक हैं। इन चारों विभागोंमें ज्ञातपुत्र महावीर भगवानका संक्षिप्त एवं रहस्यपूर्ण जीवन चरित्र वर्णित है। भगवान महावीर की साधनाकी श्रेणीका नवनीत इसमें टपकता है। इस पहले उद्देशकमें ×केवल ज्ञातपुत्र महावीर भगवान् के विहारकी बात है।

त्यागी साधककेलिए त्याग और संयमकी दृष्टिसे पादविहार जितना उपयोगी है उतना ही लोककल्याण की दृष्टिसे भी पादविहार उपयोगी है। निःस्वार्थता निर्भयता, स्वावलंबिता और सहज संयमितताकी चतुष्टयी पादविहारसे विकसित होती है। और वह

× श्रमण भगवान महावीर की साधनाकालका विहार केवल आत्मीय जीवनके शोधनके लिए था।

साधकके जीवनविकासकी साधनामें चेतना समान उपयोगी है।

उपदेशकवृत्तिकी दृष्टिसे भी पादविहार अत्यन्त उपयोगी है। ग्राम्यजीवनका निरीक्षण, नैसर्गिक और आनन्द और स्वच्छ वातावरणकी जितनी अनुभूति पादविहारसे मिलती है उतनी वाहनों द्वारा कदापि नहीं मिल सकती। वाहनसे परावलंबित्व, कंचनादि संग्रह और रागीमंडलके जमानेकी प्रवृत्ति सहज होती जाती है, इस भयसे बचनेकेलिए किसीको लेशमात्र भी बोझरूप हुए बिना संयमी जीवनकी अखंड और अडोल साधना हो इस हेतुकी पूर्तिके लिए पादविहार की परम्परा रची गई है।

गुरुदेव बोले:—

(१) प्रिय जंबू! (तेरी जिज्ञासाको देखकर भगवान महावीरके विषयमें) जैसा मैंने सुना है वही कहूंगा। श्रीमहावीरने प्रबल वैराग्यपूर्वक हेमंतऋतुमें दीक्षा (गृहस्थका वेश छोड़कर त्यागका वेश) अंगीकार करके तुरंत ही वहांसे विहार किया। (हेमंतऋतुकी मार्गशीर्ष शुक्ला दशमीके दिन कुटुंबसंबन्ध, राजपाट अलंकार, भोगादि विपुलसामग्री तथा समृद्धिको छोड़

कर अपने दिव्यजीवन द्वारा गृहस्थाश्रमकी वास्तविकता और कर्तव्यप्रणालिकाका विश्वको आदर्श देकर तथा क्रमपूर्वक आगे वढ़ते हुए एकांतहितमार्गकी योग्यता प्राप्त की । इसके बाद उन्होंने सम्पूर्ण त्याग जैसे महाभारको वहन करना पसन्द किया ।)

इसप्रकार क्षत्रियकुंडमें दीक्षा अंगीकार करनेके पश्चात् थोड़े समयमें वहां से× स्वयं कुमारपुर गांव की ओर विहार किया । अर्थात् पूर्वपरिचित स्थलपर अधिक रहना उन्हें उचित न लगा । क्योंकि उनके वहां रहनेसे उनके कुटुंब, स्नेही और प्रजावर्गके पूर्व स्नेहसंबंधके कारण मोहभावको लेकर दुःखमय होना संभव जानकर उन्होंने वह स्थान शीघ्र छोड़ दिया ।

विशेष—भगवान महावीरका मूल ग्राम× क्षत्रियकुंड है । उनके पिता का नाम सिद्धार्थ, माताका नाम त्रिशला, उन्होंने पहले तो गृहस्थाश्रमी जीवन बिताया, और दया, दान, आतिथ्य सन्मान, कौटुंबिक कर्तव्य, राष्ट्रधर्म आदि गुणों द्वारा अपने जीवनका विकास करके जीवनविकासके पादचिन्हों

×कुमारपुर भी बंगालमें आया हुआ हुगली जिलेमें एक गाँव है । वर्तमानमें उसे कामारपुरके रूपमें पहचाना था ।

×बंगालके अन्तर्गत विहार प्रान्तके मोंघीर जिलेमें लछवाड जागीरमें अब भी क्षत्रियकुण्ड तीर्थके रूप में पहचाना जाता है ।

की साधना करलेनेके पश्चात् अपना क्षेत्र विस्तृत करके त्याग मार्ग अंगीकार किया था। इनके संक्षिप्तजीवनकेलिए नीचेकी टिप्पणी देखो ×

× भगवान महावीरका जन्मस्थान राजनगर क्षत्रियकुण्ड, ये मगधदेशके महारजा श्रीसिद्धार्थके सपूत और त्रिशलादेवीके अंगजात थे। गुणकर्मसे क्षत्रिय गिनी जानेवाली जातिमें आपका जन्म अर्थात् वीरताकी विरासत इन्हें स्वाभाविक प्राप्त थी। तो भी श्रीमहावीर एक सच्चे ब्राह्मणके रूपमें उत्पन्न हुए थे। आप सरस्वतीके तो मानो साक्षात् अवतार थे, विद्या, कला और विज्ञानके भव्यभंडारी। पूर्वकालीन अनंत शुभ कर्मोंके अक्षय-विरासतको पूर्वजन्मोंसे संचित कर्म करते करते इनकी आत्माने विकासकी पूर्ण पराकाष्ठाकी साधनाकेलिए मानो बंगाल प्रदेश पसंद किया, और जहां ब्राह्मण तथा क्षत्रियत्वका बिल्कुल नीलाम हो चुका था, वहां ही उनके जीवनमें आर्यसंस्कृतिके उच्चगामी आदर्शोंका जीवन पुनरावर्तन हुआ। विद्या, कला और वीरताको साधनेके अनन्तर आपने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। बचपनसे ही इनमें मातापिताकी भक्तिके उत्तम बीज बोए जा चुके थे। गृहस्थाश्रमीकेलिए माता और पिता तीर्थभूमि होते हैं। इनके ऋणानुबन्धको सफल करनेमें विकास है, इनकी सेवामें स्वर्गीय सुख है, ऐसा ज्वलंत बोधपाठ इनका गृहस्थाश्रमी जीवन पूरा पाड़ता था।

मातापिताके देहांतके पश्चात् भी अपने बड़े भाई नंदीवर्धन की आज्ञा इन्हें शिरोवंद्य थी। गृहस्थाश्रम कर्तव्यकी पुण्यभूमि होती है। विकासके बीज इस कर्तव्यभूमिमें ही बोये जायें। इन की पत्नीका नाम यशोमती, इसके साथ आपका विवाह सम्बन्ध हुआ। पति और पत्नीका संगम प्रभुताके पथमें जानेवाले दो

इससूत्रमेंसे श्रीमहावीरके त्यागमार्गको अंगीकार करनेका प्रयोजन क्या है ? और त्याग स्वीकार करनेके पश्चात् उस स्थानको छोड़नेका अभिप्राय क्या है ? इसप्रकार दो प्रश्न उद्भव होते हैं ।

पथिकोंका सुयोग । शरीरजन्य मोह पाशवघृत्तिका प्रतीक है, और वहां विकास रुक जाता है । परन्तु प्रणय यह एक उच्चगामी आकर्षण है और यह वास्तविक है । ऐसे शुद्ध प्रणयजन्य आकर्षण ने इस विकासाभिमुख आंतरवाले युगलको दंपतीरूपमें सहचार साधकर दिया । फलस्वरूप इन्हें एक पुत्रीरत्नकी प्राप्ति हुई । इन की पुत्रीका नाम प्रियदर्शना और जमाईका नाम जमाली था ।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए ज्यों ज्यों इनकी साधनप्रणालिका विपुल होती गई, त्यों त्यों इनकी विद्या, कला और वीरताका उच्च उच्चतर और उच्चतम उपयोग होने लगा, और साथ ही इनकी संस्कारसमृद्धि भी बढ़ चली । आध्यात्मिकता तो इनकी सहचरी, तथा दया और दान तो मानो इनके जीवनका परम सहयोगी, इनके सम्पूर्ण विकास तक एक या दूसरे रूपमें यह सब रहा ही । अंतमें इस वीरको जिसके द्वारा वर्द्धमान अभिमान मिला था उस ऋद्धि, समृद्धि और सम्पत्तिका उद्देश जब ठीक समझमें आ गया, तब पदार्थ उपयोग करनेकेलिए मिले हैं, पकड़कर रखनेके लिए नहीं है.' पदार्थोंके उपयोगमें जो सुख है, वह पदार्थों में मूर्छित होनेमें नहीं, इन्होंने यही समझा; और तुरन्त ही इस सिद्धांतको अमलमें लानेकी भी पूर्ण तैयारी की ।

जिस हाथसे करोड़ोंकी सम्पत्ति सुरक्षित रखी थी, उन्हीं हाथों से उसे एकदम मनुष्यमात्रमें वितरण कर दी, और एक वर्ष तक अभेदभावसे सबको अखंडदान देना जारी रक्खा, और आप

जिसे अनन्तके पानेकी इच्छा है उसे यह अनन्तके लिए अंतवान पदार्थोंसे मोह त्यागना ही रहा। जड़के संगसे चेतन के जो व्यापार होते हैं और होनेवाले उन व्यापारोंसे जिस

दानवीर कहलाए। स्वामित्वका जिसपर आरोप हो और खुले हाथ देनेमें निर्मोह निमर्ममत्वकी सच्ची कसोटी होती है। इस प्रकार दान संयमका बीज है। इस सूत्रका आपके द्वारा सार्थक्य हुआ।

इतनी योग्यताके अनंतर राजपाट, स्त्री परिवार इत्यादि परका संकुचित सम्बन्ध छोड़कर विश्वसंबंधको साधनेकेलिए इन्होंने वीर(बाह्य)से महावीर(सच्चेवीर)बननेकी भावनाको जागृत किया। राज्यवर्धन, प्रजारक्षण क्षत्रियके मुख्यधर्म थे सही, परन्तु जिस वीरताका उपयोग 'अमुक ही प्रजा मेरी है' यह मानकर होता हो, वहां वीरताका व्यभिचार है, और बाह्य रक्षण, पोषण या पालन चिरस्थायी विश्राम ही नहीं है, जो अपने आत्मा को परभावमें जानेसे रोकता है, न पालता है न पोषता है तो वह दूसरेको क्या बचा सकने वाला था, ऐसा प्रतीत होने पर इन्होंने वीरताका उपयोग अपने जीवनमार्जनके अर्थ करना विचारकर त्यागमार्गका महापथ अंगीकार किया और त्यागवीर बन गए। उस समय आपकी आयु ३० वर्षकी थी।

त्यागके बाद श्रीमहावीरके साढ़े बारहवर्ष और पन्द्रह दिन जैसा दीर्घकाल केवल साधनामें व्यतीत हुआ है। साधनाकालमें अनार्य तथा असंस्कृत प्रजाके वसति प्रदेशमें पादविहार, भिक्षा, परिषह सहिष्णुता, इंद्रियदमन, तपश्चरण, केवलमौन, स्वाध्याय, चिंतन, ध्यान इत्यादि अंगोंका समावेश है।

इतनी बड़ी दीर्घकालीन तपश्चर्याके बाद इन्होंने आत्माके सर्वाङ्ग विकासकी पराकाष्ठाका साक्षात्कार किया और आप

प्रकारकी वासना और लालसामय संस्कार रूढ़ हो जाते हैं उन्हें पूर्वाध्यास कहा जाता है। ऐसे पूर्वाध्यासोंका प्रभाव या लालसाको प्रेरणा देनेवाले निमित्तोंमें रहकर उन्हें अलग करना शक्य नहीं है। इसीसे इस प्रभावको सदाकेलिए दूर करनेके अर्थ त्याग एक सुन्दर राजमार्ग बन जाता है। जगतके

सर्वज्ञ हुए। वीतरागताकी पराकाष्ठाको साध लेने पर ही इन्होंने अपना अनुभव जगतकी गोदमें रक्खा।

"अज्ञान दुःखका और ज्ञान सुखका मूल है, सुख या दुःख कहीं बाहर नहीं हैं, बल्कि अपने भीतर हैं। बाह्य युद्ध छोड़कर आंतरिक युद्ध करो, आत्मा ही सुख और दुःखका कर्ता है।"

इस प्रकार जगतका अज्ञान मिटानेकेलिए इन्होंने प्रगट किया कि सत्यको साध्य और अहिंसाको साधन बनाओ। इन दोनों तत्वोंमें अखिल विश्वकी शांतिका मूल है। पृथ्वी, पानी, जैसे सूक्ष्मतत्वोंमें भी चेतन है, ऐसा इस अहिंसाके सम्पूर्ण साधकके सिवाय किसीने नहीं कहा।

अहिंसाकी व्यवहार्य साधनामें संयम, त्याग और तप प्रधान साधना हैं। और सापेक्षवाद तथा विवेकके विना तो अहिंसा मार्गका आराधन शक्य नहीं, इस प्रकार इन्होंने वारवार घोषित किया।

जहां धर्म, मत, पंथ आर मान्यताके कदाग्रहोंका शमन है, वहां ही जैनत्व है। जैन जन्म नहीं लेता, परन्तु होता है। शुद्ध अहिंसावृत्तिमें है, क्रियामें नहीं। जहाँ विषमता है, वहां धर्म नहीं है। धर्म समतामें है विषमतामें नहीं। इस प्रकार जीवित रहना बताकर आपने जैनसंस्कृतिको पुनर्जीवन देकर उनके आत्माको विश्वव्यापी बनाया।

प्रत्येक अनुभवी महात्माओंने इसीरीतिसे त्यागके माहात्म्ययका गायन किया है। परंतु ऐसा आदर्श त्याग अमुक भूमिकासे

पंचमहाभूतके पूजन, दिशापूजन, भाषापूजन, इत्यादि पूजन विकासके प्रतिबंध हैं ऐसा बताकर शुद्ध चैतन्य और गुणपूजनका रहस्य समझाया। द्रव्ययज्ञ, स्नान, जड़ताश्चर्या और कर्मकाँडों से स्वर्ग मिलता है या विकास होता है, ऐसी मान्यताके जालसे आपने जनताको बचाया। और बाह्ययुद्धसे स्वर्ग मिलता है, इस मान्यताको भी ध्वस्त करके इसके द्वारा होनेवाले मानवहत्या-काण्डको रोका था।

विकासमें जातिका बंधन नहीं है। जीवमात्र विकासका अधिकारी है। मनुष्यत्व इसकी पहली भूमिका है। यहींसे विकास की स्वतंत्र श्रेणीका आरम्भ होता है। मनुष्यत्व, धर्म, शुश्रूषा, ज्ञान, विज्ञान, सत्यासत्यपृथक्करण, सम्यक्त्व, संयम, त्याग, अनासक्ति, तप और कर्ममुक्ति ऐसा इन भूमिकाओंका क्रम है, या जिसे विस्तृत स्वरूपमें चौदहगुणस्थानके रूपमें पहचाना जाता है—इस रहस्यको भले प्रकार समझाया। तथा जातिवाद और अधिकारवादका मूलसे ही खंडन करके स्त्री, शूद्र आदि सब को अध्ययन, त्याग तथा ये मुक्तिके समान अधिकारी हैं, इस प्रकार आपने स्पष्ट बताया।

यह आपकी साधनाकालके बादकी धर्मसंस्करणकी संक्षिप्त रूपरेखा है। भगवान महावीर बुद्धदेवके समकालीन थे। भगवान महावीरका अहिंसाका मौलिक सिद्धांत अखिल आर्य-संस्कृतिका प्राण बना। और इसप्रकार भारतवर्ष व्याप्त जडतामें भगवान महावीरकी शोधने उनमें चेतन प्रवाहित किया। आप का ७२ वर्षकी आयुमें निर्वाण हुआ। आज इन्हीं भगवान महा-वीरका निर्वाण २४८४ वाँ वर्ष चल रहा है।

आगे गए हुए साधकको ही पचता है। और वही अनासक्तिके ध्येयपूर्वक इसे सांगोपांग पालन कर सकता है। यह बात गृहस्थजीवनमें रहकर श्रीमहावीरने प्राप्त की हुई आदर्शतासे स्पष्ट समझा जाय ऐसी है।

(२) प्रिय जंबू ! (दीक्षा लेते समय श्रीमहावीर को एक दिव्य दूष्य मिला था), परंतु उस श्रमणसाधक ने यह विचार न किया कि इस वस्त्रका मैं शीतकाल में उपयोग करूंगा। आत्मार्थी शिष्य ! इस महाश्रमण ने जीवनपर्यंत परिषह (संकट) सहनेका तो पहले से ही निश्चय कर लिया था। (इतने पर भी उन्होंने वस्त्र से घृणा नहीं की) फिर भी मात्र तीर्थंकरोंकी प्रणाली का अनुसरण करनेकेलिए उन्होंने वह वस्त्र धारण किए रक्खा।

विशेष—इस सूत्रसे श्रीमहावीरकी दो उत्तम भावनाएँ स्पष्ट होती हैं। एक तीर्थङ्करोंकी वास्तविक प्रणालीको कायम रखनेकी, और दूसरे अनासक्तभावसे पदार्थ ग्रहण करनेकी श्रीमहावीर चाहते तो ये इतने समर्थ पुरुष थे कि बिल्कुल नया पंथ स्थापन कर सकते थे, परंतु इन्होंने सत्यकी सहज उपासनाको ही जैनदर्शन माना था। परंपरासे जैनदर्शन प्रणालिका अनादिसे चली आ रही थी, परंतु आसपासके वातावरणके कारण इस दर्शनमें जो संकुचितता या अवास्तविकता घुस गई थी उसे ही दूर करनेकी उस समय उन्हें खास जरूरत थी।

जैनदर्शनमें जो जो तीर्थंकर हुए हैं वे कुछ नया तीर्थ खड़ा नहीं करते, परन्तु मात्र तीर्थका पुनरुद्धार करते हैं। श्रीमहावीर ने, भगवान महावीर होनेके पश्चात् भी वही कार्य किया है, और पूर्वकी प्रणालिकामें जो जो सिद्धाँतभूत वस्तुएँ थीं उन्हें कायम रखकर मात्र रूढ़िका ही भंजन किया है। समाज, देश या विश्वमें काम करनेवाले प्रत्येक शक्तिधरको यह विषय अत्यन्त मनन करने योग्य है।

बहुतसे समर्थ साधक भी विकारका नाश करनेके बदले कई बार वस्तुका नाश करने मंड जाते हैं। इस मार्गमें शक्तिके व्ययके सिवाय स्थायी फल कुछ नहीं मिलता। क्योंकि वस्तुमात्र नित्य है, उसका सम्पूर्ण नाश कभी सम्भव नहीं। मात्र स्थितिका अंतर होता है। फिर भी नाशका प्रयोग हो तो उस प्रयोगसे तो उलटा एक विकार मिटकर उसमें दूसरा विकार घुस जाता है।

इस सूत्रकी दृष्टिसे यहां श्रीमहावीरका यह साधनाकाल समझाया है। साधक चाहे कितना ही समर्थ क्यों न हो तो भी उसे साधनाके नियम तो पालने ही पड़ते हैं। और इसी दृष्टिसे इन्होंने दिव्य दूष्य(वस्त्र)स्वीकार किया। परन्तु उसे शरीरके उपभोगकेलिए नहीं, सर्दीसे बचनेके लिए भी नहीं, केवल पूर्वप्रणालिकाकी अपेक्षासे ही लिया था। यह कहकर सूत्रकारने यह भी समझा दिया है कि त्यागी साधक पदार्थोंका उपयोग किस भावनासे करता है। योगिओंकी दृष्टि साधनोंमें

भी विवेकबुद्धिपूर्वक और आवश्यकतानुसार मर्यादित होतो है। और यह तो प्रत्यक्ष है कि जो वस्तु आवश्यकताकी पूर्तिके लिए ली जाती हैं उसमें मोह या आसक्तिका निमित्त भाग्यसे ही वनता है। यहां भी आसक्तिके त्यागका आशय ही ध्वनित होता है।

(३) श्रीमहावीरके उस सुवासित (सुगंधित) वस्त्र की दिव्य वाससे आकर्षित होकर अधिक मास सहित चातुर्मास जैसे लंबे समय तक भोंरे आदि बहुतसे जन्तु उनके शरीरपर बैठते थे, उनके आस पास घूमकर चक्कर काटकर उन्हें हैरान तक करते थे (तो भी समभावपूर्वक वह योगी अडोल रहता था।)

विशेष—यहां चातुर्मासके चार महीने तक श्रमण महावीर एक ही स्थानमें रहे थे, और चार महीनेके दीर्घकालका अर्थात् वर्षा और शरद दोनों ऋतुका लाभ बहुत समय तक चिंतन, मनन, ध्यान करनेमें व्यतीत किया करते थे। ध्यानके समय तो वे इतने एकाग्र हो जाते थे कि वहाँ दूष्यके गंधसे आकर्षित होकर भ्रमरादि नाना जीवजंतु आकर गुनगुनाट करते या ऊपर बैठते, तो भी एकाग्रताका भंग नहीं हो पाता था।

पहले तो इससूत्रसे यह व्यक्त होता है, कि साधुपुरुषके चौमासेका स्थिरवास किस हेतुसे होता है। धरती पटपर वर्षाऋतुमें वनस्पति तथा सूक्ष्मजीवोंकी उत्पत्ति अत्यधिक

प्रमाणमें हो जानेसे विहारकेलिए वह ऋतु प्रतिकूल बन जाती है, परंतु निसर्गजन्य प्रतिकूलताएँ अनुकूलताओंके सर्जनकेलिए पूर्वकारणरूप बन जाता है यह नियम भी आदमीको न भूल जाना चाहिए। साधुपुरुषोंको आठमासमें घूमकर, बोलकर अनेकोंके प्रसंगमें आकर अपनी शक्तिओंका उपयोग कर डालते हैं, उनका संग्रह करना इस चतुर्मासमें उपयोगी सिद्ध होता है। और ज्ञान, ध्यान, मौन, चिंतन और स्थायी स्थिरतासे नई चेतना जगानेका प्रबल निमित्त होता है। यह लक्ष्य जितने अंशमें सुरक्षित न रक्खा जाय उतने अंशमें साधक जीवन फीका दिखता हैं। वर्तमानमें दृष्टिगोचर होनेवाला फीकापन इस लक्ष्यकी ओर लापर्वाही उत्पन्न करता है, यदि ऐसा माना जाय तो कोई हानि नहीं है। आजके श्रमणने महावीरके जीवनमेंसे ऐसा वास्तविक अनुकरण करना भुला दिया है। परंतु श्रमण महावीरके दिव्यदूष्य पर तब जो वासक्षेप हुआ था इनके अनुकरणरूप वासक्षेपकी प्रथा तो अब भी बहुतसे गच्छों में इसीरूपसे चली आ रही हैं। त्यागके समय देव उपस्थित हों या न हों परंतु वासक्षेप तो चाहिए ही। इसी अनुकरणका नाम अंधानुकरण हैं। रूढि और व्यवहारका यही तो तारतम्य हैं। रूढि अर्थात् अंधानुकरण और व्यवहार यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावको देखकर विवेकबुद्धिपूर्वक किया जानेवाला अनुकरण। पहले अनुकरणमें ध्येय रखा जाता है, या विकृत हो तो उसके सामने देखा ही नहीं जाता, और दूसरेमें क्रिया गौण होती है। परंतु ध्येय यही मुख्य होता है। इसमें जो

क्रिया होती है वह ध्येयका अनुलक्ष्य लेकर ही होती है।

(४) प्रिय जंबू! श्रीमहावीरने पूर्वोक्त दिव्य-वस्त्र लगभग तेरह महीनेतक (कंधे पर रक्खा था) छोड़ नहीं दिया था। परंतु बादमें यह योगी वस्त्रको त्यागकर वस्त्र रहित हो गए थे।

विशेष—इतने समय तक वस्त्र रखनेकेपीछे भी कुछ रहस्य था। और फिर त्याग देनेकी ओटमें भी रहस्य था। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि भगवान महावीर को वस्त्रोंके छोड़ देने या धारण करनेका इन दोनोंमेंसे एक भी आग्रह न था, और होता भी नहीं। इनके जीवन व्यवहारमें अनेकांतताका स्थान कितना और कैसी कक्षाका होना चाहिए, इसे भले प्रकार समझा जा सकता है।

(५) प्रिय जंबू! विहार (भ्रमण) करते समय यह त्यागी महात्मा पुरुष रथकी धुरीके परिमाण जितना चक्षुका उपयोग बराबर रखकर जुयेके प्रमाण के अनुरूप मार्गको (सीधीं तरह सावधानीसे देखकर) देखभालकर अर्थात् 'ईर्यासमिति' से ठीक निरखकर चलते थे। आत्मार्थी जंबू! विहारके समय बहुतसे छोटे छोटे बालक उन्हें देखकर भयग्रस्त (डर जाते) हो जाते थे। कोई धूल उड़ाकर भागते और कई तो रोने लग जाते थे।

विशेष—आँखोंके उपयोगकी यह बात है, परंतु इससे यहां यह कहना हैं; कि श्रमण महावीर प्रत्येक इंद्रिय और देहका यथार्थ उपयोग रखते थे। आंखसे देखना अर्थात् आंखका उपयोग रख लिया, कोई ऐसा न समझ बैठे! देखना यह आंखका स्वभाव तो ठीक है, परंतु उससे उतना ही देखना चाहिए कि जितना संयमकी दृष्टिसे उपयोगी हो। जिसे इतना भान रहे उसने ही भलेप्रकार उपयोगको साधलिया है यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

उप-अर्थात् समीप, योग अर्थात् जुड़ना; जो क्रिया आत्मा के समीप जानेमें सहकारी सिद्ध हो उसे उपयोग कहा जाता है। इस प्रकार उपयोगी पुरुष अपनी एक सूक्ष्मक्रिया भी विवेक या विचारशून्यतासे नहीं करता। और विवेक तथा विचारपूर्वक की गई क्रिया परपीडाकारी या निरर्थक भी नहीं होती सारांश यह है कि उपयोगपूर्वक की गई क्रियामें और संयममें अहिंसाका समावेश सहज हो जाता है।

छोटे छोटे बालक डर जाते थे, कोई रोने लगता, और कोई धूल उड़ाता। इसका कारण श्रीमहावीरका श्रमणवेश हो ऐसा यहां ध्वनित होता है। बालकोंकी दृष्टिमें कोई नवीन पदार्थ चढ़ा कि पहले उनमें कौतुहलबुद्धि जाग पड़ती है, या भय भी लगने लगता है, यह स्वाभाविक है। दूसरे इससे यह माननेका भी कारण मिलता है, कि उस समय श्रमण महावीर जैसा त्यागी वर्ग क्वचित ही होगा; और यह बालकोंको अपरिचितताका प्रबल कारण तो है ही!

इसीसूत्रमें श्रीमहावीरको एकाग्रताका भी प्रत्यक्ष चित्र खींचा गया है। श्रीमहावीर अर्थात् दयाके सागर। अनुकंपा-भावना तो उनकी नसनसमें भरी पड़ी थी।

(६) अप्रमत्त जंबू! कई बार गृहस्थ और तीर्थंकरोंकी मिश्रित वसतिमें आने जानेका प्रसंग होता तब उस समय श्रमण भगवान् महावीरके अंगोपांग देखकर कई स्त्रियां उनकी ओर आकर्षित होते हुए अलग अलग तरहकी प्रार्थना करती हुई उनके पास जातीं। उस समय वे तो अपनी आत्मगुफामें प्रविष्ट होकर ध्यानमग्न ही रहते। और ऐसे बलवत्तर निमित्तोंके मिलनेपर भी उनकी क्रिया आत्मविकाससे विरुद्ध न होती।

विशेष–श्रीमहावीर साधनाकालमें सर्वथा लोकसंगसे अलग ही रहते। गुफा, वनखंड या ऐसे स्थानोंमें उनका एकांत निवास रहता था। तो भी आहारादि लेने जाते हुए या दूसरे गाँव विचरते समय मार्गमें वसतिपरिचयका प्रसंग पड़ना स्वाभाविक था। सूत्रकार इस घटनाको ध्यानमें रखकर यह बात स्पष्ट करते हैं।

विश्वमें स्त्रीका निमित्त दूसरे अनेक प्रलोभनोंकी अपेक्षा बलवान् निमित्त है। जहाँ वासनाका सूक्ष्म बीज भी रहा हुआ है। वहां इस निमित्तका असर हुए विना नहीं रहता। स्त्री

देहका आकर्षण और निरीक्षण वासना होने पर ही संभव है। देहसौंदर्यसे भरपूर स्त्रियां स्वयं आकर शृङ्गारिक ढंगसे याचना करें तो भी मनसे अडोल रहना, इसमें श्रीमहावीरका केवल संयम या त्याग ही नहीं बल्कि त्यागके पीछे रहनेवाले आदर्श का, अनासक्तियोगका, वासना रहित आत्मसंलीनताका दर्शन होता है।

यहाँ एक प्रश्नका होना संभव है, कि जिसने वासना पर विजय प्राप्त कर लिया है, ऐसे योगीको देखकर सामनेवाले पात्रको विकारी भावना कैसे उत्पन्न हो? यह प्रश्न बड़ा ही तात्विक है। स्वजातीय तत्वके विना आकर्षण होना असंभव है, क्योंकि निसर्गका या कर्मका अबाधित नियम साक्षी देता है। परंतु स्मरण रहे कि कई बार एक व्यक्तिका दूसरेमें वह भाव न हो तो भी उसका आरोपण कर सकता है। यद्यपि क्रिया हो या न हो, आकर्षण अधिक समय टिके या न टिके, यह सब सामनेवाले पात्रकी वासनाके तरतम पर आधार रखता है। परंतु किसी निर्वासनामय पदार्थपर भी आरोपित कल्पना द्वारा इसप्रकार आकर्षण संभव है। किसीकी आकृति या ऐसा कुछ जड़पदार्थका निमित्त मिलते ही ऐसे आकर्षणका अनुभव किया गया है। परंतु उस आकर्षणका क्रियामें न बदल जानेका ही अंतर है। इस क्रियामें तो उसी समय परिणमन होता है, जबकि सामनेवाले पात्रमें भी ऐसा ही कोई तत्त्व हो, या उद्भव हो। यहां श्रीमहावीरके इसप्रसंगसे यह भी स्मरण रहे कि जिसकी वासना क्षय हो गई है या जिसे दृढ़ संकल्प

बल प्राप्त हुआ है वह साधक भी उदीरणा करके ऐसे निमित्तों की योजना नहीं करता।

वसतिसे दूर रहना और देह सौंदर्य या टीपटापके त्यागमें श्रीमहावीरका यह भी एक महान हेतु था। और इसीसे वे स्वयं अपने स्वभावमें स्थिर रहते हुए सामनेवाली व्यक्तिमें भी जो आकर्षक तत्व था उसका भी वास्तविक समाधान कर सके। अर्थात् इस अद्वितीय योगीकी इस अडिगतामेंसे ऐसी स्त्रियोंको यह एक उच्चकोटिका अदृष्ट और अननुभूत आदर्श, और उनका जीवनमार्गके पलटजानेका प्रबल निमित्त मिला, यद्यपि ऐसे निमित्त सबका निमित्त पलट दें ऐसा कुछ निश्चित नहीं है। क्योंकि राह पलटनेका आधार अपने अपने शुभाशुभ संस्कारबलके ऊपर निर्भर है। परंतु जीव स्वयं जिसमें सुख मान रहा हो, अखिल जगत् एक ही लाइन पर चल रहा हो, उसकी अपेक्षा दूसरा भी कोई मार्ग हैं; और इस मार्गपर जाते हुए कोई प्रत्यक्ष जीता जागता दृष्टांत मिले, इस निमित्तवृत्तिपर एक नवीनताका प्रबल आकर्षण छोड़ जाता है। और अमुक प्रसंगमें वह अंकुर शनैः शनैः अतिशय नवपल्लवित हो जाता है यह कुछ कम लाभ नहीं है। जीवनमें ऐसे प्रसंग विरल पलोमें ही मिलते हैं।

(७) मुक्तिके महारथी जंबू ! श्रमणमहावीर गृहस्थोंके साथका अतिसंसर्ग छोड़कर प्रायः ध्यानमग्न रहा करते थे। ऐसे समय गृहस्थ उनसे पूछते तब वे कुछ भी उत्तर न देकर मौन ग्रहण कर लेते, अपनी

साधनामें ही दत्तचित्त रहते । इस प्रकार ये पवित्र अंतःकरणवाले त्यागी साधक मोक्षमार्गका अनुसरण करते रहते थे ।

विशेष—साधनाकालमें श्रीमहावीर मौन रहते, और लोक संसर्ग कम रखते इससे यह सद्बोध मिलता है कि जहां तक वृत्तिपर रहे हुए कुसंस्कार या पूर्वके अध्यास निमित्त मिलते ही अपनी ओर खींच सकें, जिनकी ऐसी डावांडोल स्थिति हो निमित्तोंके सामने टिकनेका पूर्णबल अभी नहीं लगाया हो, वहां तक ऐसे साधकको केवल साधनाकी ओर ही अधिक लक्ष्य रखना चाहिए। स्वदया विना परदया शक्य नहीं है। जो स्वयं पूर्णरीतिसे स्थिर रहता हो वही दूसरोंको स्थिर कर सकता है। साधक स्वयं आत्मलीनता न पा सका हो, वह दूसरोंको स्थिर करनेकी आशा रक्खे तो वह संपूर्ण अंशमें न फले। भावना ऊंची हो तो भी उसके पीछे जहां तक शक्ति और साधन बल न हों, वहां तक वह भावना क्रियामें नहीं बदलती, इस तरह गहरा चिंतन करनेके बाद श्रीमहावीरने सबसे पहले अपनी शक्तिका विकास करनेकेलिए एक ही मार्ग स्वीकार किया।

(८) कोई प्रशंसा करे या निंदा, कोई वंदना करे या न करे, और कोई बेचारे पामर, भाग्यहीन या अनार्य पुरुष उस योगीको डंडे आदिसे मारते, बाल खींचते या दुःख देते तो भी भव्य और शांतभावको

धारण करनेवाले उस श्रमणके मन पर उनका कुछ असर न होता था। आत्मनिष्ठ जंबू! इस प्रकार सहज दशामें लगना प्रत्येकके लिए सुलभ नहीं है।

विशेष—एक ही पात्र पर निंदा और प्रशंसा दोनोंकी बौछार होती है, यह सब इस पात्रको लेकर होता है या पात्रको देखनेवालेकी दृष्टिको लेकर होता है; इस बातको एक सामान्य बुद्धिसे विचारनेसे भी ज्ञात हो जाता है। देखनेवालेकी दृष्टिसे जैसा देखा जाता हो उसका उसी क्रियाको कर डालना स्वाभाविक है। फिर इसमें पात्रको क्या लेना देना है? परंतु यह बात जहाँ तक लोकाभिमुख दृष्टिमें हो वहां तक समझा नहीं जा सकता और समझ जाय तो भी आचरण नहीं किया जा सकता। श्रीमहावीरका आत्मज्ञान इनमें सहजता साहजिकरूपमें ला सका था। बाहरसे उत्पन्न होनेवाला सुख और दुःख मात्र बाह्य धर्म है, आत्मधर्म नहीं है। ऐसा इनका अपना अनुभव इनको ऐसे अनुकूल या प्रतिकूल दोनों निमित्तोंमें समभाव स्थिर रखनेकी प्रेरणा देता था।

(९) फिर वे योगी मार्गसे चलते हुए भी असह्य और अतिकठोर परिषहोंकी कुछ भी पर्वाह किए बिना संयममार्गमें वीरतापूर्वक अडिग रहते। मार्गमें लोगोंसे होनेवाले नृत्य या गीतोंमें वे राग न रखते या दंड युद्ध अथवा मुष्टियुद्धको देखकर उत्सुक नहीं होते थे।

विशेष—पहले एकांतस्थानमें ध्यान करते समय और एकांत सेवन करते समयकी बातें कह आए हैं। यहाँ सूत्रकार दूसरी बात और कहते हैं। ध्यानके समयही चित्तकी स्थिरता या अटलता रहनी चाहिए, इस प्रकार बहुत्तसे साधक मानते हैं। फिर कई यह भी मानते हैं कि आसन अडिग रहे फिर चाहे चित्त स्थिर रहे या न रहे तो भी ध्यान तो हो ही गया, परंतु यह योग्य नहीं है। क्योंकि ध्यान तो एक क्रिया मात्र है। इस क्रियासे वृत्तिके संस्कारोंपर जितना प्रभाव होता है उतना ही उसका फल गिना जाता है। वृत्तिके संस्कारोंका शुभ पलटा हो सके तो साधककी प्रत्येक क्रिया शुद्ध बनी रहे, यह स्वाभाविक है।

नृत्यादि लीलाएँ आंखका प्रबल आकर्षण निमित्त है। यदि कोई साधक संकल्पसे आंखके विकारको रोक ले तो भी उस का मन तो वहां ही जायगा, क्योंकि पूर्वाध्यासको लेकर वृत्तिकी खींचतान होती है, और ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। मुष्टियुद्धके संबंधमें भी ऐसा ही है। मुष्टियुद्धके इतने दीर्घ प्रचारसे उस समयके लोकोंमें शारीरिक वीरता और शारीरिक सुदृढता कितनी सुन्दर थी, उसकी ओर यहां ध्यान खिंच सकेगा। शारीरिक वीरताके विना मानसिक वीरता और दृढ़ संकल्पबल शक्य नहीं है। श्रीमहावीर दोनों प्रसंगोंमें अडोल रहते और इनका मन जरा भी प्रभावित न होता था, यह इनके उच्चगामी ध्यानकी सफलता का सूचक है।

(१०) प्रिय जंबू ! कदाचित् ज्ञातनंदन श्रीमहावीर

को एकांतमें रहे हुए देख स्त्रियाँ या स्त्रीपुरुषोंके जोड़े काम कथामें तल्लीन नज़र पड़ जाते तो वहां भी वे रागद्वेष रहित मध्यस्थभाव रखते थे। और इसप्रकार ऐसे अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंगों पर कुछ भी लक्ष्य न दे कर ये ज्ञातपुत्र महावीर संयममार्गमें स्थिर बुद्धिसे लगे रहते थे।

विशेष—५ से १० सूत्र तक श्रमण भगवान महावीर के त्याग लिए पीछे जो स्थितप्रज्ञता सिद्ध की थी उसकी बात है। कई बार आँखोंका स्वभाव देखनेका होनेपर, इच्छा न हो तो भी ऐसे अनेक दृश्य दीख पड़ते हैं, कि देखनेयोग्य न होने पर भी उन्हें देखा जाता हैं, तब स्थितप्रज्ञ साधक किसप्रकार का वर्ताव करे, उसकी यह बात है। स्थितप्रज्ञ स्वयं विषयोंकी वांछा नहीं करता, तो भी विषयोंमें आसक्तिवाले जीवोंको देखकर उनपर घृणा भी न करता यह उनकी स्थितप्रज्ञताकी कसोटी है। यहाँ ऐसे प्रसंगमें राग न आ पावे यह बहुतसे साधकोंके लिए शक्य हैं। परन्तु रागद्वेष आनेका यह एक प्रबलतम निमित्त है। स्थितप्रज्ञ साधक ऐसे समय यह विचार कर सकता है कि "जिसवस्तुको मैं अनिष्ट समझता हूं उसे मैं कैसे स्वीकार करूं, परंतु जगतके सब जीवोंके लिए ऐसा होना स्वाभाविक न हो" और यह जानकर ही उस वस्तुपर या उसवस्तुके पकड़नेवाले व्यक्तिपर लेशमात्र द्वेष, घृणा, या तिरस्कार न लावे। इसदृष्टिसे प्रत्येक साधकको साधनामार्गमें

जाते हुए लक्ष्यगत रखना चाहिए।

(११) श्रीमहावीरके त्यागपूर्वक दीक्षा अंगीकार करनेसे पहले अर्थात् गृहस्थाश्रममें भी लगभग दो वर्षसे अधिक काल तक ठण्डा पानी त्यागकर, अपनेलिए पीने तथा बर्तनेमें अचित्त जलका ही उपयोग किया था और अन्य व्रतोंका भी गृहस्थाश्रममें यथाशक्य पालन करते रहे थे। श्रमण श्रीमहावीर एकत्वभावनासे सराबोर और कषायरूप अग्निको शमाकर शान्त तथा सम्यक्त्व(सज्ज्ञान) भावसे भरपूर रहा करते थे। आत्मार्थी जंबू! इतनी योग्यता होनेके पश्चात् ही श्रमण महावीरने स्वयं त्यागमार्ग अंगीकार किया था।

विशेष—जिसने सच्चा भान और आत्मजागृती पाई है, तथा कषायोंका अधिकांश शमन किया है, वही आदर्श त्यागका पालन कर सकता है। यहाँ यही आशय प्रगट किया गया है। श्रीभगवतीसूत्रमें भी मनुष्यत्व, सद्धर्म; श्रवण, ज्ञान, विवेक, प्रत्याख्यान, और संयम आदि भूमिकाएँ विभक्त करनेके अनन्तर ही साधक त्यागकी भूमिका तक पहुंचता है ऐसा समझाया है। और श्रीमहावीरने तो इन क्रमिक भूमिकाओंमें जीवित रहकर ही बता दिया है, कि साधनामार्ग में क्रमपूर्वक आगे बढ़नेपर ही सरलताका आधार है। पूर्ण

त्याग किस भूमिकामें शक्य और आचरणीय है वह इनके इस प्रकारके क्रमिक जीवन विकाससे जाना जा सकता है। जो साधक श्रमण महावीरके इस क्रमिक जीवन विकासके उद्देशको याद रखकर पद पद पर चलेगा वह चाहे किसी भी भूमिका में हो वहीं से अपने ध्येयको सुरक्षितरखकर आगे बढ़ सकेगा, यह निस्संदेह है।

(१२) प्रिय जंबू! वे श्रमण ज्ञातनंदन महावीर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, सेवाल, बीज, हरि (वनस्पति), एवं त्रसकाय (दूसरे हिलते, चलते, छोटे, बड़े जीव जंतु) इत्यादि 'सबमें आत्मा है' और इसी कारण सब सजीव हैं, इस भाँति यथार्थ जानकर विचारकर तथा चिन्तन करके वे जरा भी कष्ट न पाएँ ऐसी रीतिसे उपयोग रखकर विचरते हुए आरंभसे दूर रहते थे।

विशेष—यहाँ श्रमण महावीरके अतीन्द्रिय ज्ञानकी प्रतीति है। जैनदर्शनके सिवाय किसी भी दर्शनमें महावीरके समय तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति जैसे स्थिर-तत्वोंमें चेतन है, ऐसा विधान नहीं मिलता था। ऐसे समय श्रीमहावीरके ध्यानके द्वारा आत्मज्ञानका ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों त्यों अखिल विश्वका उलझा हुआ प्रश्न सुलझता चला गया, और श्रमण महावीरकी अहिंसाकी व्याख्या अधिकाधिक व्यापक होती चली गई।

सारे विश्वके साथ जिसे मैत्रीभाव गाँठनेका मनोभाव हो, और जगत्के जीवोंके साथ प्रेमका महासागर उंडेलना हो वह एक सूक्ष्मचैतन्य पर भी उपयोगशून्य व्यवहार न रख सके, लेशमात्र भी गफलतभरे जीवनसे जिन्दा न रह सके इसप्रकार श्रमणमहावीरने त्यागमार्गमें जीवित रहकर बताया और समझाया कि त्यागके विना पूर्णदया या अहिंसा जीवनके एकाएक व्यवहारमें ओत-प्रोत नहीं हो सकती। आरंभसे मुक्ति भी इसप्रकारके सच्चे ज्ञानके बाद ही प्राप्त की जा सकती है। वहां तक निमित्त न मिले, तो आरंभकी क्रिया चाहे न दीख पड़े परन्तु आरंभ तो है ही। आरम्भका मूल वृत्तिमें है। उस वृत्तिके संस्कार फिर बदलजाते हैं, और इस तरह आरंभक्रिया से मनका वेग पीछा हट जाता है।

श्रीमहावीर भी ऐसे जीवनसे जीवित रहकर छ कायके पिता और छ कायके नाथ बने। आज तो विज्ञान द्वारा सारा जगत् स्वीकार करता है कि पानी और वनस्पतिका जीवसमुदाय चतना का अनुभव करता है। यह जगत्कल्याणका अनुपम उपकार किसी बाह्यसाधनके विना आत्मज्ञानसे ही जाननेवाले ये महान तत्वचिंतक तरुणतपस्वी श्रीमहावीरके उदार चरित्रकी प्रभावनाको और वाणी प्रसादीरूप है। इसप्रकार आज पाश्चात्य विद्वान् भी मुक्तकंठसे उच्चारण कर रहे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान कहीं बाहर नहीं है। जो कुछ दिखता हैं वह ज्ञानके मात्र साधन हैं, इतना कुछ जाननेके पश्चात् कौन आत्मार्थी अंतरकी ओर झुककर न झांकेगा।

(१३) मोक्षार्थी जंबू ! श्रमण तपस्वी महावीरने अपने ज्ञानसे यह अनुभव किया है कि स्थावर जीव भी कर्मानुसार त्रसरूपमें और त्रसजीव भी अपने कर्मानुसार भवान्तरमें स्थावरके रूपमें उत्पन्न हो सकते हैं। सारांश यह है कि जितने प्रमाणमें जीवोंका राग द्वेष न्यून या अधिक होता है उतने ही प्रमाणमें सब प्राणी सब योनियोंमें कर्मानुसार परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकारके संसारका वैचित्र्य सम्पूर्णज्ञान होनेसे उन्हें प्रतीत होता है।

विशेष—इससूत्रमें कर्म ही भवभ्रमणका और संसारकी विचित्रताका कारण बताया है। इसे किसी न किसी रूपमें सब आस्तिकवादी दर्शन,मत और धर्म, पंथ स्वीकार करते हैं। कर्म स्वयं जड होते हुए भी जहाँ तक जीवके संग है वहाँ तक उसे जन्ममरणके चक्रमें फिरना और जगतके साथ संबंधित रहना अनिवार्य है। यदि कर्म है तो पुनर्भवका स्वीकार भी करना ही पड़ता है, और अब तो प्रत्येक पाश्चात्य तत्वज्ञानी भी इस बातको मानने लग गये हैं। इसलिए इस सिद्धांतकी पुष्टिकेलिए अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परंतु कर्मवादको स्वीकार करने पर भी वहांके कई वर्ग की यह मान्यता है,कि यह सारा संसार स्वयं नियमित और व्यवस्थित रीतिसे चलता है, अर्थात् जो जीवात्मा जिस योनिमें उत्पन्न होता है, वह फिर वहीं उत्पन्न होकर कर्मोंको

इकट्ठा करके मरकर फिर उन उन स्थानों और योनियोंमें जन्म धारण करता है। जहांके कर्म होते हैं उसे वहीं अवतरित होना पड़ता है। परंतु कर्ममीमांसक श्रीमहावीरका अनुभव कुछ विलक्षण और विशेष मार्गदर्शन कराता है। वे कहते हैं कि:—पशु मरकर पशु तथा आदमी मरकर आदमी ही हो तो मुक्तिकी झंखना और पुरुषार्थ किसलिए ? जगतमें जो कुछ नियमितता और व्यवस्थिति देखी जाती है उसका कारण कर्मका नैसर्गिक नियम ही है परंतु नियमितता और व्यवस्थिति दूसरे पदार्थोंको उसकी योग्यताके अनुसार नियमित और व्यवस्थित रखने जितना ही उसका कार्य है। इसमें कोई संशय नहीं कि वह स्वयं तो विचित्र ही है। मोरको रंग-बिरंगी पाँखें आती हैं, गायको सींग और गजराजको सूंड यह आंखों देखी जगतकी विचित्रता कर्मकी विचित्रताकी ही प्रेरणा है। और इसका परिणाम भी भिन्न होना चाहिए। सारे कर्मोंका परिणाम एक ही रूपमें कैसे हो सकता है ?

इसके अनन्तर इन दोनोंके बीचकी एक ऐसी मध्यस्थ मान्यता अस्तित्वमें आई कि जीवमात्रका ऊर्ध्वगमन कर्मद्वारा होता है। और अन्तमें मोक्ष भी पुरुषार्थ द्वारा हो सकता है यह बात मान्य है। परंतु अखिल विश्व क्रमपूर्वक विकसित होता है और वह क्रमभी अनुलोमरूपसे, अर्थात् सीधी और ऊर्ध्वगतिरेखासे है। विलोमरूपसे नहीं। अन्यथा नियमितता और व्यवस्थितिका नियम खंडित हो जाय, यह मान्यता विकास

वादिओंकी हैं। वे यह मानते हैं, कि कर्मोंकी शुद्धि करे तो जीव जिस योनिमें हो, वहीं से उसका विकास होने लग जाता है, अथवा वहीं का वहीं रहता है। और इसके कर्मोंकी जितनी अशुद्धि होगी उतने ही उसे साधनसंपत्ति कम मिलेंगे और सुख दुःखका अनुभव भी उतना ही होगा। परंतु कोई जीव स्वयं जिस अवस्थामें है उससे नीचेकी योनिमें नहीं जाता। भगवान् महावीर अपनी सर्वज्ञता द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि यह मान्यता संपूर्ण नहीं है। अपने पूर्णज्ञानसे इन्होंने यह स्वीकार किया है, कि स्थावर या त्रस कोई भी जीव अपने शुभाशुभ कर्मके द्वारा ऊंच या नीच योनिमें जा सकता है। अनुभव भी यही कहता है, कि जिसकर्ममें जीवात्माको विकास दिलानेकी शक्ति होती है, उसी कर्ममें जीवका पतन करानेकी शक्तिका होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। जब कर्म एक प्रकार के नहीं होते तो उसमें परिणाम भी अलग अलग होकर अलग अलग योनिमें उत्पन्न होना यह आत्माके ऊंच या नीच संस्कारों पर निर्भर है। जिस प्रकारके जीवन संस्कार हों उसी प्रकारकी योनिमें उस जीवके जानेकी योजना हो जाती है, यह कर्मके अटल और व्यापक नियमकी प्रेरणा है। और यह हकीकत ऐसी हैं कि इसे गहराईमें जाकर विचारें तो स्पष्ट समझमें आ जाता है। संस्कारोंमें अज्ञानजन्य क्रूरता और स्वार्थ हो तो वे संस्कार जंगली भयंकर पशुयोनिमें ही ले जायँगें, क्योंकि उनका स्वजातीय तत्व वहां होता है। सारांश यह है कि कर्मकी विचित्रताका मुख्य कार्य तो योनिका परि-

वर्तन करना है। साधनसंपत्तिका मिलना या न मिलना उसके कर्मकी बात है या जिसका सीधा संबंध आत्माकी ओर न होकर केवल देहके साथ है उसे पुण्य और पापके रूपमें भी पहचाना जाता है। परंतु वह साधन रूप होता है। साधनका संबंध साध्यके साथ समवायरूपसे नित्य और अनिवार्य नहीं होता। चित्तके ऊपर जो संस्कार पड़ते हैं वह तो जीवात्माकी स्थिति ही है, और वह स्थिति अलग अलग गति और गतिमें रहनेवाली भिन्न भिन्न योनियोंमें नियमके आधीन होकर जीव को खींच लेती है। परिणाममें जीवात्मा स्वयं एकरूपी होते हुए उसके अनेक आकार दीखते हैं। वह संस्कारोंसे आत्मा और वह आज एकरूप लगता है। सूत्रकार इसका कारण भी यहाँ स्पष्ट करते हैं कि वे संस्कार राग और द्वेषके ही कारण हैं। और रागद्वेषकी तरतमताको लेकर उनमें परिवर्तन होना भी संभव है।

इस प्रकार राग और द्वेष ही जीवको अलग अलग योनिओंमें गमन कराते हैं। वह संस्कारोंका और भिन्न भिन्न साधनसंपत्ति पानेका और गवाँनेका मूल है। इसलिए इसका क्रमिक संक्षय कराना ही विकासका हेतु है। और इसका संपूर्ण क्षय करना ही विकासकी पराकाष्ठा पर आना श्रीमहावीरने जान लिया था; इसीसे रागद्वेषके विनाशार्थ साधनाको स्वीकार किया। इस साधनाका मुख्यसाधन है समभाव।

(१४) इस प्रकार सत्यको प्राप्त करने पश्चात्

भगवान्‌ने स्पष्ट रीतिसे जान लिया कि उपाधि (ममत्व)ही इस संसारमें बंधन है, और ममत्वसे ही ये बेचारे संसारके सब अज्ञानी जीव दुःख सह रहे हैं। इसलिए कर्मोंके यथार्थ स्वरूप को समझकर उसके मूल हेतुभूत पापकर्मका आप त्याग करते थे और जगतको वही आदर्श बताते थे।

विशेष—अपने अनुभवकी यह अचूक साधना क्रमपूर्वक होनेसे ही वे भगवानके पदको प्राप्त हुए थे, इसे बतानेके लिए 'भगवान्' के विशेषणका उपयोग किया गया है। उत्तम प्रकार का बीज जोकि फलित हुए बिना नहीं रहता, ऐसे क्षायिक सम्यक्त्वकी उच्चकोटिकी क्षपकश्रेणीका ऊपर निर्देश है। (क्षपकश्रेणी ८ से १२ वें गुणस्थान तक होती है)क्षायिक श्रेणिवाले जीवका पतन नहीं होता। इसीसे इनकेलिए भगवान्‌का विशेषण उपयुक्त है। दूसरे स्थल पर तो उपरोक्त सूत्रोंमें मुनि, श्रमण, ज्ञातपुत्र, महावीर आदि विशेषण दिये गये थे। दिव्यवस्त्रके पास आया हुआ 'भगवान' विशेषण भावी तीर्थंकृतकी प्रतीति समझनेकेलिए है।

ममत्व समभावका घातक शस्त्र है। इसलिए श्रीमहावीर को बाधक कारणोंका नाश करना आवश्यक प्रतीत हुआ; उन्हें ममता उतारना इष्ट लगा। इसलिए उन्होंने पहले गृहस्थाश्रममें अर्पणताके गुणोंका विकास करना आरंभ किया, वरसीदान किया, अनुकंपाका सेवनकिया; कुटुम्ब, समाज और

राष्ट्रकी उचित कर्तव्यप्रणालिकाको कायम रक्खा, उसके बाद ही वैराग्यभावकी जागृती होनेपर पदार्थोंका त्याग राजमार्ग केरूपमें स्वीकार किया। परंतु बाह्यत्यागके बाद संतोष न पकड़कर जिज्ञासा जागृत रखकर इन्होंने इस रीतिसे ध्यान चिंतन और निरीक्षण द्वारा आंतरिक ममत्वको घटाना आरंभ किया। यह मनकी क्रिया क्रियाके हेतुसे नहीं बल्कि ममत्व वृत्तिको पलट देनेकेलिए थी।

(१५) इसलिए प्रिय जंबू! उस ज्ञानी भगवान न ईर्याप्रत्ययकर्म तथा सांपरायिककर्म इसप्रकार दोनों प्रकारके कर्म तथा उन कर्मोंके आनेका मार्ग और योग-अर्थात् इनका आत्माके साथ जुड़ना, इस तरह तीन वस्तुतत्वोंको ठीक अनुभव करके स्वयं ईर्याप्रत्यय-कर्ममें लगे थे और जगतको भी वही आदर्श अर्पण किया।

विशेष—इस सूत्रमें सूत्रकार उपरोक्त बातको ही अधिक स्पष्ट करते हैं। ईर्याप्रत्ययकर्म और सांपरायिककर्मको डॉ० हर्मन जेकोबी वर्तमान और भावी कर्मके रूपमें बताते हैं। यह अर्थ वृत्तिकार या किसी भी टीकाकारोंसे सम्मत नहीं है। फिर भी ये अर्थ उसने किसलिए या किसहेतुसे दिए हैं यह एक प्रश्न है। मुझे लगता है कि ईर्याका अर्थ गति और प्रत्यय का अर्थ निमित्त होता है। इसलिए गतिनिमित्तसे हुआ कर्म, ऐसा शब्दार्थ लेकर वर्तमानकर्म लिया हो तो यह संभव है।

परंतु फिर भी व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे खोज करें तो भी सांपराय-सम्बंधी कर्मका अर्थ भावीकर्म नहीं घट सकता। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये दोनों जैनपरिभाषा के शब्द होनेसे ऐसा शब्दार्थ घटाना युक्त नहीं है। यद्यपि मूलमें तो ईर्या-प्रत्ययकर्म या साम्परायिक कर्म ऐसा स्पष्ट नहीं है। मात्र 'दो प्रकारकी क्रिया' इतना ही कहा है।

वृत्तिकार महात्माने यह स्पष्ट किया है कि—ईर्याप्रत्यय-और सांपरायिककर्म सूत्रकारको(से)अभिमत हैं। और मैं इस रीतिसे घटाता हूं कि ईर्याप्रत्ययकर्म अर्थात् जिसक्रियाके पीछे इसक्रियाके कर्ताकी आसक्ति न हो ऐसी क्रिया द्वारा बंधा हुआ कर्म। देह जहाँ तक है वहाँ तक हलन, चलन, खान, पान, और ऐसी ही आवश्यक क्रियाएं रहेंगीं, और ये क्रियाएं देह, इन्द्रियाँ, मन और आत्माकी एकवाक्यता विना उत्पन्न नहीं होतीं; अर्थात् कर्मबंधन तो है ही। परंतु अना-सक्तभावसे बंधा हुआ कर्म निबिड या स्निग्ध नहीं होता। उसका निवारण आलोचना या और किसी साधनके द्वारा तुरंत निवारण हो जाता है। इसलिए यह ईर्याप्रत्ययकर्म या जानेका निमित्तरूप कर्म कहलाता है। और जो क्रिया आस-क्तिपूर्वक होती है, उसके द्वारा बंधा हुआ कर्म सांपरायिक अर्थात् संसारके बढ़ानेवाला कर्म होनेसे सांपरायिक कर्म कहलाता है। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें दूसरा बंधनकर्ता, दुःखकर्ता और संसारकर्ता है। इसलिए इसे क्षय करनेकी ओर ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। श्रीमहावीरने इस ओर ही

अधिक ध्यान दिया था, और इसीकारण उन्होंने क्रमिक विकास पाया था। यह कहकर सूत्रकार इसप्रकार स्पष्ट समझा देते हैं, कि क्रियाकी ओर देखनेकी अपेक्षा यह क्रिया किससे और किसलिए होती है, उस ओर देखो; अर्थात् तुम्हारी कौनसी वृत्ति तुम्हारे पास(तुमसे)यह क्रिया कराती है और इस क्रियाके बाद इसका परिणाम वृत्ति पर किस आकारमें आता है, इसे खोजते रहो—फिर चाहे वह क्रिया व्यावहारिक है या धार्मिक। इसीका नाम उपयोग, जागृति या सावधानता है।

(१६) सुज्ञ जंबू! इसप्रकार वे भगवान स्वयं शुद्ध अहिंसाका अनुसरण करनेवाले और अन्य सुयोग्य साधकोंको भी इस मार्गमें अधःपतनसे रोकनेमें समर्थ हुए। फिर उन्होंनें स्त्रीसंसर्ग तथा इनके परिणामको यथार्थ देख लेनेके पश्चात् यह कहा कि अब्रह्मचर्य भी सारे कर्मोंका मूल है। इसलिए पदार्थमोह और स्त्री मोहसे अलग रहना चाहिए। मोक्षार्थी जंबू! मैं तुझे कहता हूं कि श्रीमहावीर स्वयं भी इन दोनोंका त्याग करके ही सर्वकर्मोंका क्षय कर सके थे, और फिर परमार्थदर्शी केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बन सके हैं।

विशेष—यहाँ शुद्ध अहिंसाका निर्देश कराया है, अनासक्तिकी भावनासे पलनेवाली अहिंसा ही शुद्ध अहिंसा है,

इस प्रकार जो शीतोष्णीयके दूसरे उद्देशकमें उल्लेख है, उसका अधिकाधिक अचूक निरूपण किया है। श्रीमहावीर स्वयं उसके जीते जागते इसके पूर्ण दृष्टांत रूप हैं। जहाँ तक वृत्ति में ममत्व और आसक्ति हो वहाँ तक पूर्ण अहिंसा कैसे पले? यह बात मननीय होनेपर भी अनुभवगम्य तो है ही।

दूसरी बात स्त्रीसंगके त्यागकी कही है यद्यपि इसका समावेश भी ममत्वके त्यागमें ही आ जाता है। तो भी उसका पृथक् निर्देश करनेका कारण यह है, कि पदार्थमोह करते हुए स्त्रीमोह संसारका मूलकारण है। स्त्रीमोहके पीछे छायाकी तरह पदार्थमोहकी लालसा आया करती है। स्त्रीमोह छूटने पर उसे छूटते देर नहीं लगती। बल्कि स्त्रीमोह और स्त्री-आकर्षण दोनों क्या वस्तु हैं? स्त्रीआकर्षण किससे उत्पन्न होता है? और इस आकर्षणके पश्चात् मोहका स्वरूप किस तरह और किसलिए पकड़ता है; इसे पहले विचार चुके हैं। इसमेंसे कंचन और कामिनीके त्यागके पीछे लालसा और वासनाके संस्कार-पूर्वाध्यासको दूर करनेका आशय समझा जायगा।

(१७) (इस प्रकार ये श्रमणवरके मूलगुणोंको बताकर अब सूत्रकार उत्तर गुणोंको प्रगट करते हैं) मतिमान् जंबू! उस भगवान्ने आधाकर्मादि दूषित आहार सेवनसे (वृत्ति कलुषित होती है और ऐसी वृत्तिसे) कर्मबंधन होता है ऐसा देखा, और इससे जो

कुछ बंधनके कारणरूप हैं उनका त्याग करके वे भगवान शुद्ध, सात्विक और परिमित आहार भोजन लेने लगे।

विशेष—ऊपरके सब सूत्रोंमें वृत्तिपर ही कर्मबंधनका मुख्य आधार है ऐसा श्रमण महावीरके जीवनसे फलित हुआ है। यहींसे उनकी क्रिया कैसी थी उसे सूत्रकार वर्णन करके बताना चाहते हैं। और वह प्रस्तुत तथा योग्य है "क्रिया चाहे जैसीकी जा सकती है, मात्रउसमें अनासक्ति होनी चाहिए" इस प्रकार साधककी वृत्ति इसे कई बार ठगीमें डालदेती है, और क्रिया या नियमकी ओर दुर्लक्ष्य धारण कराकर उसे उलटे मार्ग पर चढ़ा देनेमें सहायकरूप होती है। इसे इसमें वारण किया गया है। अनासक्त पुरुष चाहे जैसो क्रिया कर सके ऐसी इसे छूट तो नहीं हो सकतो। सच तो यह है कि अनासक्त पुरुष तो उलटा अधिक जागृत हो जाता है। इसकी एक भी क्रिया निरर्थक नहीं होती और नियमोंके बंधन तो इसकेलिए भो ऐसे ही होते हैं। आसक्ति और अनासक्तिके भेद यों हैं कि जहां तक आसक्ति हो वहाँ तक ये नियम नियमरूप रहते हैं और अनासक्त होनेपर ये स्वभावगत हो जाते हैं। इससे यह फलित हुआ कि अनासक्तको भी क्रिया और नियम होते हैं, परंतु ये सब स्वाभाविक होते हैं।

श्रमण महावीरने वृत्तिमें अनासक्तिसे साधनाका प्रयोग आरंभ किया तो भी आहारकी सात्विकता पर वृत्तिकी

सात्विकता रहना अधिक संभव होनेसे उनके संस्कार इतने स्वाभाविक थे कि वे आहारशुद्धि रखने पर ठीक लक्ष्य देते थ।

आधाकर्मादि भोजनके सब ४७ दोष हैं, उनका वर्णन श्रीउत्तराध्ययनादि सूत्रोंमें है। किसीको भी भाररूप न होकर शुद्ध और सात्विक आहारसे संयमी जीवनका निर्वाह करना ऐसा इन नियमोंके पीछे आशय है।

(१८) तपस्वी जंबू! फिर उस समय श्रमण महावीर परवस्त्रको अपने अंग पर धारण नहीं करते थे या परपात्रमें जीमते भी न थे और अपमान की पर्वाह न करते हुए वीरतापूर्वक भिक्षार्थ जाया करते थे।

विशेष—"श्रीमहावीर परवस्त्र शरीर पर धारण नहीं करते थे एवं परपात्रमें भी भोजन नहीं करते थे।" सूत्रकार के इन वाक्योंके सन्मुख प्रश्न होता है कि—श्रीमहावीर स्वयं अचेलक यानी निर्वस्त्र होगए थे, ऐसा चौथे सूत्रमें उल्लेख है। तब फिरसे यहाँ वस्त्रका उल्लेख किसलिए? इसके पीछे जो रहस्य है वह क्या है? इसका स्फुटीकरण होना चाहिए।

वृत्तिकार यहाँ दो अर्थ घटाते हैं, (१) पर-अर्थात् दूसरे का, (२) पर-यानी उत्तम। इन दोनोंमें से चाहे जो एक अर्थ लें तो भी श्रीमहावीरका वस्त्रपरिधान तो सिद्ध हो ही जाता

है। और यदि इसीप्रकार है तो अचलकका अर्थ निर्वस्त्रके बदले 'अल्पवस्त्र या अल्पमूल्यवाला वस्त्र' लेना चाहिए। दीर्घतपस्वी महावीरने दिव्यवस्त्र तेरह मास तक तो धारण किए ही रक्खा, और उस कालके भीतर इस घटनाका होना संभव है। वह चाहे कुछ भी हो। परंतु यहाँ पर अर्थात् दूसरे का अर्थ लेना मुझे प्रस्तुत नहीं लगता। अपने और परायेकी भेदबुद्धि ही नष्ट होगई हो ऐसी उच्च निर्ग्रन्थ भूमिका पर वे उससमय थे ऐसा मेरा सूत्रोंमें आनेवाले उनके गुणोंके कारण दृढ़ मंतव्य है। यदि वे अचेलक अर्थात् निर्वस्त्र ही रहे हों, तो परका अर्थ यहाँ इसप्रकार घट सकता है कि श्रमण महावीर वसतिमें भिक्षाकेलिए जाते हों और वहाँ उन्हें निर्वस्त्र देखकर कोई गृहस्थ यह विचार करे कि "इस मुनिको वस्त्र न मिलनेसे नंगा रहता है इसलिए इसे कपड़ा दे दूं" वे देने लगते हों तब भी मुनिश्री उसे न चाहते हो, एवं गृहस्थ अपने यहाँ भोजनकेलिए कहें तो भी उनके पात्रमें वे भोजन न करते हों, मात्र वे कल्पनीय और अल्प भिक्षा ही लेते हों, ऐसा अर्थ लेना मुझे अधिक सुसंगत लगता है। सूत्रपरिभाषामें पर का अर्थ गृहस्थ किया हो इसकेलिए श्रीदशवैकालिक और इससूत्रमें भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।

फिर यहां भिक्षाकी आनेवाली घटना इस बातकी साक्षीपूर्ति करती है कि श्रीमहावीर जो कि पूर्वाश्रममें एक सिद्धार्थ जैसे महाराजाके युवराज थे ऐसे पुरुषका भिक्षा मांगने निकलना कितना दुःखद लगता हो यह विषय तो केवल अनुभवगम्य हो

है। फिर भी उन्हें मान या अपमान न अड़ते थे, वे वीरता-पूर्वक भिक्षाके लिए जा सकते थे। यह कहकर सूत्रकार यहां वताते हैं, कि उनके पूर्व-अध्यास उन्हें घड़ी घड़ी पीडित नहीं करते थे।

साधकको मानापमानमें कितनी समता रखनी चाहिए? उसकी भिक्षामय जीवनसे कसौटी होती है। भिक्षा त्यागी जीवनका दुर्धर और कठिन व्रत है। भिक्षा और पादविहार ये दोनों ऐसे ज्ञानके साधन है कि जो ज्ञान भूगोल या मानस-शास्त्रके अनंत ग्रन्थोंसे भी नहीं मिल सकता। लोकमानसका ऐसा ज्ञान इन दो साधनों द्वारा मिला रहता है और त्यागी जीवनके आदर्शका प्रचार भी इन दो साधनों द्वारा बड़ी सुग-मतासे गाँव गाँव पहुंच सकता है। इस दृष्टिसे ही श्रमण संस्थाकेलिए इन दोनों साधनोंका निर्माण किया गया है।

(१९) आत्मार्थी जंबू! श्रमण महावीर, भिक्षा से मिलनेवाले अन्नपानमें भो नियमित और परिमित ही भिक्षा लेते, और इस परिमित भिक्षामेंसे संप्राप्त रसमें भी वे आसक्त न होते थे। एवं रसकी प्रतिज्ञा भी नहीं करते थे। मोक्षार्थी जंबू! मैं ठीक कहता हू कि ऐसा होना उनकेलिए सहज था, क्योंकि वे देहभावसे इतने पर हो गए थे कि आंखमें कुणक पडा हो तो निकालनेकी या खाज हो तो वहां खुजलानेकी या दवालगानेकी भी उन्हें इच्छा नहीं होती थी।

विशेष—इस सूत्रमें श्रमण भगवान महावीरकी अनेक विशेषताएँ और सहज दशाएं नितारी जा सकती हैं। एक तो श्रमण महावीरको खाज खुजलानेका भी मन नहीं होता था इससे उनका देहभानसे पर रहना वाणीमात्रमें न होकर बल्कि साहजिक था, यह फलित होता है। दूसरे ऐसी सहज दशा होते हुए चाहे जिस तरह खाना, चाहे जहाँ और चाहे जब जाना इसप्रकारकी अनियमित और अव्यवस्थित जीवनको जिसमें सहजदशाका आरोपण किया जाता है, यह ऐसी सहजदशा न थी। ज्यों ज्यों सहजदशा होती गई त्यों त्यों श्रमण महावीर का जीवन उल्टा अधिक नियमित और व्यवस्थित होता गया और यह वास्तविक भी है। ज्यों ज्यों नैसर्गिक जीवनके अनुकूल होता हैं त्यों त्यों जीवनमेंसे कृत्रिमता और अनैसर्गिकता निकलकर सच्ची नियमितता और व्यवस्थिति स्वाभाविक रूप में प्रविष्ट होती जायगी। यह बात अनुभवसे गले उतरनेके समान हैं।

तीसरी बातमें यहाँ रस और स्वादकी भिन्नता सूत्रकारने वर्णित की है, और यह विचारने योग्य भी है। पहले रक्खे हुए रस पदका अर्थ वृत्तिकारने भी विकृति ही किया है। अर्थात् श्रमण महावीर स्वादमें आसक्त नहीं थे, और ऐसा होना उनकेलिए स्वाभाविक था। परंतु वे रसकी प्रतिज्ञा भी नहीं करते थे, यह वाक्य गंभीर और मननीय है। सूत्रकार यहां यह कहना चाहते हैं कि रस तो पदार्थमात्रमें स्वाभाविक

है । अर्थात् जैसे स्वादकी ओर इनकी रुचि न थी, वैसे ही स्वाभाविक मिलनेवाले रसकी ओर अरुचि भी न थी। यह बात साधकोंको लक्ष्यमें रखने योग्य है। बहुत बार साधक इसकी अपेक्षा कुछ और ही करने लग पड़ता है। एक ओर तो रसकी ओर घृणा करने लगता है, और दूसरी ओर स्वादको बड़ी चाहसे खाता है । जैसे किसी ने घी, गुड़, दूध या दही की प्रतिज्ञा की है ऐसा साधक मिर्च, तेल, मसाला खूब खाने लग पड़ता है, अथवा और अन्यान्य पदार्थ पाकर उन्हें स्वाद से खाने लगता है । इसका परिणाम यह होता है कि—पदार्थ त्यागके पश्चात् वृत्तिपर जो कुछ पलटा होना चाहिए वह नहीं होता। यहां श्रीमहावीरके जीवनमें रस और स्वादकी भिन्नता का जो विवेक है उसे भले प्रकार विचारकर आचरण करना चाहिए ।

(२०) जिज्ञासु जंबू ? वे मार्गमें चलते समय पीठ फेरकर पीछे या दाएँ बाएँ देखते हुए नहीं चलते थे बल्कि मार्गपर सीधी दृष्टि रखकर एक मात्र चलनेकी ही क्रिया करते रहते थे। उस क्रियाके अन्तर्गत कोई बुलाने लगता और विशेष प्रसंग पड़े तो भी कम बोलते, नहीं तो प्रायः मौनरखकर केवल अपने मार्गके सामने देखकर यत्नपूर्वक चलते ।

विशेष—इस सूत्रका निचोड़ यह है कि एक तो वे जिस समय जो क्रिया करते उससमय उसीमें लीन रहते अर्थात

उनके चित्तकी अद्वितीय एकाग्रता रहती थी। और दूसरे यह कि मार्गमें जाते हुए अनेक प्रकारके दृश्य या कारण उपस्थित हों अथवा पूर्वाध्यासको लेकर मनमें खींचतान होती हो तो भी वे वहां संयमको सुरक्षित रखते। अर्थात् एकाग्रताके बाधक कारणोंको शीघ्र दूर करसकनेमें समर्थ शक्तिमान् थे। इससे यह भाव सहज निकल आता है कि एकाग्रसाधक जिस किसी क्रियामें तन्मय हो ऐसी स्थिति ही उसकी एकाग्रताकी सिद्धिका प्रमाण है। जिसक्रियामें तन्मयता एकाग्रता होती है उसमें हृदय और बुद्धि दोनोंके अंश जागृत रहते हैं। अर्थात् वह कार्य विवेकबुद्धिसे गद्गदित और प्रेमपूर्ण होता हुआ उसमें असद्-अंश मिलजानेसे वह अशुद्ध नहीं होता एवं गाढ कर्मबंधनका कारणभूत नहीं होता।

(२१) तत्वज्ञ जंबू! निर्ग्रंथ महावीर हेमंतऋतु म दीक्षित हुए थे। और वर्षकी वर्षाऋतुके बाद शरद तथा हेमंतऋतु व्यतीत होनेके पश्चात् दूसरे वर्ष शिशिरऋतु आते ही उन्होंने अपने पासके रहे हुए वस्त्रका त्याग कर दिया था, और इस वस्त्रको त्याग कर जितेंद्रिय श्रमण वीर श्रीमहावीर खाली हाथ और खुले कंधेसे विचरते थे।

विशेष—इससूत्रसे यह स्पष्ट हुआ कि श्रमण महावीरने वस्त्र भी तेरह महीने अपने पास रक्खा था। यह कहा जा चुका है कि उतने समय रखना सप्रयोजन था। परंतु शिशिरऋतु

में पुष्कल सर्दी पड़ते रहनेसे इन्होंने वस्त्रको छोड़ दिया उसके पीछे दीर्घतपस्वी की वृत्ति जानली जाती है। फिर भी सूत्रकार कहते हैं, कि वह तपश्चर्या असहज न थी। सर्दीका शरीरके ऊपर असर होता हो और वस्त्र छोड़ दिया जाय यह कोई सहज तपश्चर्या नहीं है। श्रमण महावीरको उनका कुछ बंधन न था। उनकेलिए तो "भला हुआ छूटा जंजाल" जैसा था। कपड़ेके उतरते ही कंधा और हाथ रुके रहते थे वे अब खाली हो गए। और जब ऐसी उत्कट भावना हुई तब ही उन्होंने वस्त्र छोड़ा था। वहां तक छुटा न था। तनतोड सर्दीमें हाथ कंधोंपर स्वाभाविक छू जाया करते हैं, परंतु इनके हाथ कंधों तक जाते ही न थे। यही इनकी सहज तपश्चर्याकी कसोटी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इनकी होनेवाली तपश्चर्या इनकी सहज क्रिया थी, बनावटी नहीं। तपश्चर्याका आदर्श यही है कि वीरतासे भरपूर क्रिया द्वारा इच्छा, वासना या लालसा पर विजय पा जाय।

(२२) मोक्षके निकटवर्ती शिष्य! इसरीतिसे ज्ञानी, अहिंसक और अत्यन्त निस्पृह श्रमण भगवान महावीरने त्यागके नियमोंका पालन किया है। इसलिए अन्य मुनिसाधक भी इसी दृष्टिसे और इसी विधिसे पालन करें।

विशेष—ज्ञानका फल वृत्तिमें अहिंसाका परिणमन करना है; और निस्पृहता जागृत हुए विना अहिंसा क्रियात्मक नहीं बनती।

अर्थात् श्रमण भगवान महावीर ज्ञान होनेके बाद वे अधिकाधिक अहिंसक और निस्पृह बनते गये। यह बताकर सूत्रकार यह कहना चाहते हैं, कि सब मुनि इसी दृष्टिसे साधनाके सुन्दर नियमोंका पालन करें; श्रमण महावीरने जैसे अपने विकासकी ओर प्रतिपल दृष्टि रक्खी थी वैसे ही सब अपनी प्रत्येक क्रिया द्वारा अपना अंतःकरण कितना विकसित किया गया है इसका मेल रक्खें। और लोकाभिमुख दृष्टि छोड़कर आत्माभिमुख बनें।

उपसंहार—भिक्षार्थी भिक्षुका जीवन नम्र तथा जागरूक रहता है, और परिचित स्थलोंमें बारम्बार रहनेसे रागबंधन होगा, लोकसंगका जीवन पर प्रभाव पडनेका जो भय रहता है वह विहार द्वारा दूर हो जाता है। इस प्रकार त्यागीसाधकका पादविहार और भिक्षा जनकल्याणकेलिए हेतुभूत होनेसे उपयोगीहै,एवं साधकके अपने विकासकेलिए भी इसरीतिसे उपयोगी है। श्रमण महावीरने साधनाकालमें अपने ध्येयको उज्वल करनेकेलिए जो अखंड जागृती रक्खी थी, वैसी जागृती प्रत्येक त्यागी साधक रक्खे। ध्येय रखकर जो क्रिया होती है वह यदि थोड़ी हो तो भी उसका फल जीवनपर अद्भुत और अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करता है।

श्रमरण महावीर पूर्वकालके योगी थे, फिर भी गृहस्थाश्रम जीवनके आदर्शसे लगाकर त्यागके उत्कृष्ट आदर्श तकके क्रमको रखकर जगतकल्याणकेलिए साधकको विकाससीढ़ी भी समझाई थी।

गृहस्थाश्रममें रहे तब भी ध्येयपूर्वक रहे। गृहस्थाश्रम छोडा तब भी ध्येयपूर्वक छोडा, संबंध छोड़े वे भी समझकर छोड़े। त्यागका आराधन भी क्रमपूर्वक किया। तथा संयम और तपश्चरण आदि सब कुछ क्रमश: और हेतुपूर्वक पालन और प्रतिपादन किया। वस्त्र धारण करो या त्याग करो इसमें मुक्तिका मोती नहीं है, बल्कि मुक्ति तो मूर्छाके त्यागसे ही है इस प्रकार उसे जीवनमें उतार कर बताया। उनके त्याग मार्गके मध्यमें कुछ स्त्रिओंके, मधुरभोजनोंके, मंजुल साधनोंके और भक्तोंके यशोंके (इत्यादि) प्रलोभन थे, तो भी संयममें स्थिर रहे और कर्कश वचन, कलुषित निंदा, ताडन, तथा अपमानके दुःखोंके सामने भी वे अडोल रहे। इस तरहसे इन्होंने अपने जीवन द्वारा साधकोंको समतायोगकी साधनाका रहस्य समझाया। अपने पैरोंपर खड़े रहकर जिसप्रकार महावीर अल्प

मेंसे महान बने और क्रमशः तिलसे ताडकी तरह परि-पूर्ण हो गए, इसीप्रकार उस मार्गमें प्रत्येक साधक अपनी शक्तिको देखकर, क्रमपूर्वक आगे बढ़कर, अपना ध्येय निश्चित करके उसके द्वारा अभीष्टकी साधना पूरी करनेका प्रयास करे।

इस प्रकार कहता हूं,

उपधानश्रुत अध्ययनका पहला उद्देशक समाप्त।

दूसरा उद्देशक-

वीरके विहार स्थान

मात्र किसी वाहन (सवारी) का आश्रय लिए विना विहार करके अमुक समयमें पड़े रहनेसे पादविहारका संपूर्ण हेतु पूरा नहीं हो सकता। पादविहार अप्रतिबंध होना चाहिए। अप्रतिबद्धविहार निर्ममत्वभाव पैदा करनेका अपूर्व साधन है। एक ही स्थान चाहे जितना पवित्र और सुन्दर हो तो भी साधनाकोटिके साधकके लिए कई बार दोषोंका जनक बनना संभव रहता है। स्थान पर मेरेपनका भाव भी आंखोंदेखा चाहे छोटा हो फिर भी वह महानशत्रु है।

प्रलोभन और संकटोंका अनुभव भी अप्रतिबद्ध विहारसे ही होता है। परिचित स्थानोंकी अपेक्षा अपरिचित स्थलोंमें ही अधिक प्रमाणमें साधककी कसौटी होती है। कसौटी विना सच्चे सुवर्णकी प्रतीति भी किस तरह हो! ऐसे ऐसे अनेक दृष्टिकोणोंसे देखते हुए नीरोगी और शक्तिमान साधकको अप्रति-

बद्ध विहार (विचरने) की आवश्यकता है।

अप्रतिबद्धरीतिसे विचरता हुआ साधक कितना मस्त होता है? वह अपने रहनेकेलिए कैसा स्थान पसंद करता है? और उन स्थानोमें आकर पडनेवाली शोचनीय परिस्थितिमें कितनी और किस प्रकारकी समता रक्खे? उसे श्रीनिर्ग्रन्थ महावीरके साधनाकाल के जीवनवर्णनसे समझानेकी इच्छा रखनेवाले—

गुरुदेव बोले:—

(१) निर्ग्रन्थ जंबू स्वामीनें भगवान सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया कि गुरुदेव! उस श्रमण श्रीमहावीरने विहार करते हुए कहां और कैसे स्थानोंमें निवास किया था उसे आप कृपा करके कहें।

विशेष—इस श्लोकको वृत्तिकार या प्राचीन टीकाकारों नें याद नहीं रक्खा परंतु सूत्र तथा पुस्तकोंमें देखा जाता है।

(२) गुरुदेव बोले जंबू! सुन. किसी समय ये वीर श्रमण निर्जन झौंपडोंमें, धर्मशालाओंमें, पानी पीने केलिए बनवाई हुई प्याउओंमें या पीठोंमें रहते तो फिर किसी समय लुहार आदिके कारखानोंमें अथवा घासके गंजोंके नीचे भी रहा करते।

विशेष—(१) सूने घरको आवेशन कहते हैं। जंगलमें

या वसतिसे दूर अमुक ऋतुमें अपने रहनेके लिए लोग झोंप-ड़ियां बनवाते हैं, और फिर वे उन कूवा या झोंपडियोंको छोड़कर गांवमें रहने चले जाते हैं, ऐसे झोंपडोंको भी आवेशन कहते हैं। ऊपर जो निर्जन झोंपड़ोंका अर्थ किया है, वह आवेशन शब्दका अर्थ है। (२) सभाका अर्थ भी यहाँ धर्म-शाला या झोंपड़ी होता है। (३) पानीकी प्याऊको संस्कृतमें प्रपा कहते हैं। (४) पुण्यशाली या हटिया(पीठ)एक ही बात है। उस समय छोटे छोटे गांवोंमें अलग अलग प्रजाके उपयोगकेलिए ऐसे मालके बाजार लगते थे और उनकेलिए 'पीठ' या मंडी की रचना की जाती थी। आज कल भी जिनगाओंके आस पास शहरका जहरी जीवन न था ऐसे ऐसे छोटे गाओंमें यह प्रथा प्रचलित थी। (५) उस समय यंत्र युग न होनेसे और पात्रके धातुओंमें भी लोहा और कांसी का उपयोग होनेके कारण लुहारकी बड़ी आवश्यकता रहा करती थी और इसीकारण वसतिसे दूर भी लुहारकी पुष्कल दुकानें रहती थीं। (६) घासके गंजके नीचे अर्थात् उस समय थोड़ी सी जगह पर कुछ आधार रखकर उस पर घासकी पूलियां चिन देते थे। उसके नीचे जगह मिलना संभव था। उस समय श्रमण महावीर अपने विहारमें ऐसे स्थानोंका उपयोग भी कर लेते थे या वसतिसे दूर हो, एकांत हो और जहाँ उनके अपने रहनेसे दूसरे किसी व्यक्तिको किसी प्रकारकी अडचन न होती हो।

उपरोक्त स्थानोंका निर्देश प्रायः रात्रिनिवासके उद्देशसे

है । इससूत्रको उससमयकी ऐतिहासिक दृष्टिसे देखें तो इन स्थानोंसे उसकालका लोकजीवन किसप्रकारका था इसका स्पष्ट विचार हो आता है । (१) वसतिसे दूरके झोंपड़े इस बातकी सूचना करते हैं कि उससमयके लोगों में श्रमजीवित्व तथा सादा एवं सुखी और सुवास तथा मिठाससे भरा पूरा जीवन था । (२) धर्मशालाएं उससमयके लोगोंकी परोपकारी और सत्यार्थत्यागकी भावनाका प्रतीक है । (३) पानीकी प्याऊ लोगोंके कर्तव्य, सज्जनता, उदारता और दयालुवृत्तिको बताती हैं । पीठ या हटिया सिस्टमसे ऐक वस्तु लेकर दूसरी दे देना या पदार्थविनिमयका व्यापार ही ग्राम्यजीवनके व्यापार का आदर्श खड़ा होता है और आजका नागरिक जीवन और व्यापारकी लूट खसोट नीति 'भारतीय संस्कृति नहीं है' इस पर प्रकाश डालकर खूब समझाया है। (५) लुहारकी शालाओंका चित्र 'यंत्र युगके विना जीवित नहीं रहा जा सकता' इस मान्यताको असिद्ध ठहराता है । और उससमयके लोग कितने वीर थे उसकी भी प्रतीतिपूर्ति करता है । (६) घासकी पुष्कल गंजियाँ अगणित पशुधनकी साक्षी देते हैं । इसप्रकार स्वावलंबित्व, सेवा, संयम और स्वास्थ्यपूर्ण जीवन ये चारों धर्मके जीवनविकासके अंग उससमय कितने सुरक्षित थे । आजकी स्थिति और उससमयकी स्थितिमें कितना भारी अन्तर पड़ गया है, उसे भी इससूत्रसे समझा जा सकता है; और सुखपानेका सच्चा मार्ग कौनसा है, और वह शक्य है या अशक्य, उसे विचारनेका अवसर मिलेगा ।

(३) संगमुक्त जंबू ! श्रमण महावीर किसी समय महल्लेमें, बागके घरोंमें, या शहरमें रहते, तब किसी समय श्मशानमें, सूने घरोंमें या वृक्षके नीचे भी रह जाते।

विशेष—(१)गाँवके लोग गाँवकी सँकडी वस्तीसे व्याकुल होकर(ऋतुपरिवर्तन अथवा अमुक प्रकारकी वीमारीसे वचने के लिए गांवके वाहर जिस स्थान पर अलग अलग आकर अन्तरसे वसते हैं उस वसति स्थानको 'शाखापुर'(महल्ला) कहते हैं। शाखापुरमें सँकडी वसति नहीं होती और जगह भी खूब लंवी चौड़ी होती है। अर्थात् वहाँ एकांत सेवन करने की और वसतिसंगसे दूर रहनेकी भावनाका होना अधिक संभव है।(२)उस समय बाग वगीचे भी वहुत थे इससे प्रतीत होता है, कि उससमयके लोग फलाहारी और सात्विक जीवन अधिक पसंद करते होंगे, साथ ही वे नैसर्गिक सौंदर्यके शौकोन; परिश्रमी, वनस्पतिविज्ञान तथा अनेक कलाओंके जानकार भी थे। (३)यह तो नहीं कहा जा सकता कि उससमय नगर न थे, परंतु उन नगरोंका आजकी तरह विकृत एवं विषैला जीवन उन्हें छू न गया था। ऐसा उससमयके लोगोंके रहनसहनसे ज्ञात होता है।

इससूत्रमें श्रमण महावीर केवल जंगलमें ही नहीं रहते थे, बल्कि प्रसंग पडने पर वसतिमें भी आकर रहा करते थे। यह सूत्रकारका कहना है। अर्थात् अमुक स्थल पर ही रहनेका

उनका कोई आग्रह न था। श्मशानमें भी वे रह जाते। इस व्यवहारसे उनके निरासक्त और समभावी जीवनकी विशेष प्रतीति होती है। और यह भी सिद्ध होता है कि उनका किसी भी स्थानमें रहना या जाना केवल अपनी साधनाको पुष्ट करनेके हेतुके अनुलक्ष्य से था।

(४) आत्मार्थी जंबू ! इसप्रकार उपरोक्त स्थानों म अप्रतिबद्धरूपसे विचरकर और रहकर तपस्वी महावीर प्रमादको छोड़कर तथा समाधिमें लीन होकर लगभग तेरह वर्ष तक पवित्र ध्यान और चिन्तनमें लगे रहे।

विशेष—उनकी दृष्टिमें यह न था कि अमुक स्थान पर रहनेसे ही साधना हो सकती है, उलटा स्थानका ममत्व तो साधककी साधनामें विक्षेप डाल देता है। अर्थात् श्रमण महावीर अपने साधकजीवनमें किसी भी स्थान पर अच्छे या बुरे आरोप न करते हुए अप्रतिबद्धरूपसे तथाकथित विविध स्थानों में विचरते थे। जहां जहां गए होंगे वहां अनेक प्रकारके कष्ट और प्रलोभनोंके प्रबल निमित्त मिले होंगे। परंतु उन्हें यह दृढविश्वास था कि कसोटीके विना साधनाकी सिद्धि नहीं होती यानी समतोल वृत्ति पर स्थिर होकर तथा आत्माभिमुखता समझकर वे केवल शांतिमें निमग्न रहते थे।

इसीप्रकार श्रीमहावीरका लगभग तेरह वर्षके साधनाकालमेंसे साढे बारहवर्ष और पन्द्रह दिवसका काल तो मात्र तप-

श्चर्याकाल माना जाता है। और फिर उनकी साधनाकी सिद्धि हुई और फिर वे पूर्णज्ञानको पाते हैं। जिसे केवलज्ञान कहा जाता है। केवलज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् श्रीमहावीर साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस प्रकार चार तीर्थसंघकी स्थापना करते हैं। इसीसे इन्हें महावीर, तीर्थंकर, जिनभगवान् लोकनाथ, सर्वज्ञ और दीर्घतपस्वीके नामसे पहचानते हैं।

(५) प्रिय जंबू ! ये अप्रमत्त महावीर साधना मार्गमें थे तब भी प्रमादपूर्वक निद्राका कभी सेवन नहीं करते थे(दिनरात ध्यानसमाधिमें इतने एकाग्रचित्त रहते कि मानसिक सुख प्राप्त करनेकेलिए सामान्यतया निद्राकी जो आवश्यकता रहा करती है वह इन्हें अल्प रहती थी)कदाचित सुषुप्ति आ भी जाती तो भी वे आत्माभिमुख होकर फ़िर आत्माके अनुष्ठानमें लगने के लिए तुरंत जागृत हो जाते थे। उनका शयन भी अप्रमत्त दशा जैसा ही था।

विशेष—इसी आचारांगमें एक सूत्र आ चुका है कि "जिसका आत्मा जागृत हो गया है; उसकी निद्रा प्रमादमय नहीं होती, वह सोते हुए भी जागृत रह सकता है।" यद्यपि यह वस्तु अनुभवगोचर है। परंतु इससे आंतर जागृती होनी चाहिए, 'बाह्यजागृतीकी क्या आवश्यकता है यह मानकर शायद कोई इसवाक्यका दुरुपयोग न कर बैठे ! बाह्य जागृती भी आंतर जागृती जगानेका एक प्रबल साधन है और जिसकी आंतर जागृती हो गई है वह बाहर न जागता हो यह न समझलिया

जाय, वह तो उलटा अधिक जागृत रहता है। इसलिए बाह्य जागृतीकी आवश्यकता तो रहेगी ही। अल्पाहार, रसत्याग, आमनबद्धता, उपवास इत्यादि तपश्चर्या निद्रा घटानेमें सहकारी सिद्ध होती है; इस पद्धतिसे घटाई हुई निद्रा शरीरको हानिकारक भी नहीं होती और साधनामें भी मदद मिलती है।

श्रमण महावीरने अपनीसाधनाको अधिक सबल बनानेके लिए और ऐसी जागृती रखनेकेलिए अतिदीर्घ तपश्चर्याएँ की थीं। परंतु उनकी जागृती मात्र कुछ निद्रात्याग ही न थी, बल्कि यह जागृती आत्मभानकी जागृती थी। श्रमण महावीर भी साधक दशामें तो साधक ही थे, सिद्ध नहीं; इस बातको यहां भूल न जाना चाहिए। अर्थात् उनमें भी उस समय गफलतका होना संभव है। इसीलिए टीकाकार ने सूत्रकारके 'अप्पाणं' शब्दके ऊपर कहा है। इसपदके आशयका अनुसरण करके इस बात को स्पष्ट करते हैं कि अस्थिक × गांवके पास कायोत्सर्ग करते समय एक मुहूर्त तक उन्होंने प्रमादवश निद्रा ली थी परंतु तुरंत ही उन्होंने अपनी आत्माको जगा दिया था। सारांश यह है कि जिस प्रकार प्रमत्तसाधक चूकता है उसी प्रकार तिमित्त मिले तो अप्रमत्त साधक भी चूक सकता है। दोनोंमें अंतर इतना ही है कि अप्रमत्त साधक तुरंत ही

× राजपूतानेके एक गांवको जिसे आज लोग वढवाणके नामसे पहचानते हैं पर यह झालवाड प्रान्तमें आए हुए वढवाण को यहां वढवाण न समझ बैठें।

दूसरे 'वर्द्वान' भी हो सकता है, जोकि मगध और बंगाल के बीचका गांव G. T. रोड़ पर है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों बस्तियां २५०० वर्ष की पुरानी भी हैं ?

अपने ठिकाने पर आ जाता है, और प्रमत्त वहींका वहीं चक्कर काटकर उसमें गहरा फँस जाता है। इन दोनोंके बीच यही एक महान् तारतम्य है। "श्रमण महावीर तुरंत जागृत हो जाते थे" इस पंक्तिसे इनके आत्मभानका पता लग जाता है। इस अखंड आत्मभानके कारण वे शीघ्र पूर्वाभ्यासोंका पार न पा सके। इसमें श्रमण महावीर निद्रा न लेते थे, यह नहीं बल्कि उनके आसनस्थ शयनमें ध्यानसमाधि तथा योगवृत्ति अधिक जागृत होनेसे यह निद्रा निरर्थक निद्रा न थी, इतना आशय स्फुट होता है।

(६) अप्रमत्त जंबू ! यद्यपि ऊपरके कथनसे तू ज़ान सका होगा कि श्रमण महावीर उससमय साधनकालमें आत्मभानमें पूर्ण जागृत थे तो भी जहां तक इनकी साधनकी पूर्णसिद्धि नहीं हुई वहां तक वे बाह्यभावमें भी सविशेष ध्यानस्थ और जागृत रहते थे। इन्हें किसीसमय प्रसंगवश यदि बहुत निद्रा आने लगपड़ती तो वे उठकर ठीक तनकर बैठ जाते, और बैठनेपर नींद आतीं तो वे सीतकालकी कड़कड़ाती सर्दीकी रातमें भी मुहूर्त मात्र ज़रा अच्छीतरह फिर कर निद्राको टालनेका पुरुषार्थ करते।

विशेष—यहाँ श्रमण महावीरका संकल्प बल कितना दृढ़ था, उसका यह जीता जागता प्रमाण है। उपयोगमय दशा इसीका नाम है। स्थितप्रज्ञको एक भी क्रिया निरर्थक

नहीं होती और आत्मभानमें बाधक भी नहीं होती। जो क्रिया आत्मबाधक हो या आत्मबाधक सिद्ध होनेकी संभावना हो ऐसी किसी भी क्रियाको तोड़नेकेलिए ये अपना सारा बल खर्च कर डालते, फिर चाहे इस क्रियाका बाह्यस्वरूप सामान्य ही क्यों न दिखता हो! इससे यह सिद्ध हुआ कि साधककेलिए शारीरिक या मानसिक श्रमको उतारने जितनी निद्राकी उपयोगिता चाहे हो, इससे अधिक निद्रा लेना किसी भी दृष्टिसे योग्य नहीं है।

आज जिसप्रकार खाद्य और भोग्यपदार्थोंमें मर्यादा और व्यवस्थिति चूक गई है और 'उन पदार्थों को किसी भी तरह पाना यही ध्येय बन गया हो' जगतका अधिकांश भाग इसी ओर झुका हुआ है। इसीप्रकार निद्राके संबंधमें भी है। निद्रा पर अधिकार करना पुरुषार्थका प्रधानकार्य है और उसकेलिए उतनी ही भोजनादि क्रियाओंमें सावधानता और सादगी रखनी पड़ेगी।

(७-८-९-१०) जिज्ञासु जंबू! सुन, अब मैं इनकी समता और सहिष्णुताके संबंधमें कहता हूं। उपरोक्त निर्जनस्थानोंमें या वृक्षोंके नीचे रहकर, ध्यानाचरण करते हुए इस तरुणतपस्वी श्रमण महावीरने (अगोचर स्थानहोनेसे) कई बार साँप नौले या ऐसे विषैले जानवर तथा श्मशान जैसे स्थानके निकट रहतेहुए गिद्ध आदि पक्षी आकर उपद्रव करते, काठते या

मनोरंजन करते । या ऐसे ऐसे अनेक प्रकारके उपसर्ग (संकट) उस ध्यानस्थ मुनिवरके मार्गमें आकर नडते थे ।

इसीप्रकार मोक्षार्थी जंबू ! यह योगी जब सूने घरोंमें ध्यानमग्न हो जाता तब कई बार चोर इस एकांतस्थानको देखकर वहां उन्हें सतानेकेलिए आते । कभी लंपटजन भी इस एकांत स्थानका लाभ लेने आ जाते । (और इन्हें अडिग खड़े तपस्वीको देखकर ये अपने काममें बाधाकारक समझकर, इन्हें वहांसे दूर करनेकेलिए खूब तंग करते । कई गाँवके रक्षक (पुलिस) आदि (चोरोंकी खोज करने जाते समय "यही चोरहै, खुद पकड़ा न जाय इसलिए ध्यानका ढोंग कर रहा है) वहमी ख़यालसे अपने हथियारों द्वारा उन्हें तकलीफ़ देते और कई बार तो उनकी मनोमोहक मुद्रा देखकर बहुतसी मुग्धा स्त्रियां उनपर कामासक्त होकर उन्हें व्याकुल करनेका प्रयत्न करतीं । ऐसे ऐसे अनेक प्रलोभन और संकटोंके कांटे उनके सुकोमल पथमें बिखरे हुए थे । परन्तु फिर भी जंबू ! इस श्रमणने ऐसे ऐसे मनुष्य, देव और पशुजन्य अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकारके भयंकर संकट तथा सुवासमय या

दुर्गंधमय पदार्थों, अनेक प्रकारके शब्दोंके तथा प्रशस्त या अप्रशस्त स्पर्श आदिके उपस्थित उपसर्ग सहन किए।

आत्मार्थी शिष्य ! ऐसे प्रसंगमें भी यह आदर्श तपस्वी हर्ष और शोक इन दोनों (विभाग जन्य स्थिति) से पर रहे, इतना ही नहीं बल्कि इस महाश्रमणने उससमय वाणीका भी व्यय नहीं किया। (वे कारणके अतिरिक्त मौनका सेवन किया करते।)

विशेष—उपरोक्त चार सूत्रमें अलग अलग प्रकारके उपस्थित संकटोंकी बात की है। प्रस्तुत प्रकरण श्रमण साधक श्रीमहावीरका होनेसे, यहाँ इनकी साधनाके वीच आई हुई अनेक बाधाओंका वर्णन होना स्वाभाविक है। सामान्यरीति से साधनामार्गमें प्रत्येक साधकको ऐसी या दूसरे प्रकारकी बाधाएँ आती हैं। ये सब बाधाएँ बाहरसे आती हैं या दूसरों द्वारा होती हों ठीक ऐसा लगता है। परंतु वास्तवमें यह बात नहीं है। अधिकाँश भागमें तो ये अपनी पूर्व या वर्तमानमें की हुई क्रियाका फलरूप होता है। क्रिया करनेके बाद वृत्तिपर जो संस्कार स्थापित हुए हों वे संस्कार ही समयका परिपाक आनेपर ऐसे निमित्त मिला देते हैं या निमित्त मिलनेपर एक प्रकारका अपने साथ संबंध साध लेता है। ये दोनों बातें समान ही हैं। अर्थात् बाहरकी किसीभी क्रियासे एक व्यक्ति को अपनेसे द्वेष, ईर्ष्या, वैर, मोह किं वा राग उत्पन्न होता

हैं। इसका कारण अपनेमें रही हुई वृत्तिका आकर्षण ही है। इतना श्रमण महावीरने भलेप्रकार विचार लिया था। विचारनेके अनन्तर जीवनमें ओतप्रोत किया था। इसीकारण वे ऐसे दु:खद या सुखद दोनों प्रसंगोंमें सहिष्णु और समभावी रह सके थे।

सहन करना मात्र क्षमाकरना ही नहीं है, क्योंकि ऐसा सहन तो परतंत्र जीवोंमें भी है। पशु अपने अविवेकी मालिक का भार और मार दोनों सह लेते हैं। बहुतसे मनुष्य ऐसी स्थितिमें गुजरते देखे हैं। और प्रकृतिकी उलझनको सहन किये विना किसीका छुटकारा नहीं होता। प्रलय, जलसंकट, अकस्मात् और रोगोंको आपत्तियोंसे कोई नहीं छूट सकता। ऐसा अनुभव किसे नहीं है? परंतु जब यह सहन हो जाता हैं तब इसके सामने वृत्ति बलवा करके पुकारती है। प्रत्यक्षमें प्रतीकार करनेकी शक्ति न हो तो बाहरकी क्रियामें प्रतीकार न दीख पड़े ऐसा कई वार बन जाता है। परंतु प्रतीकारकी भावना तो रहती ही है। और इस प्रतीकारकी भावनाका जो संस्कार वृत्तिपर दृढ हो जाता है वही संस्कार जिस स्थानमें सहनकरनेसे कर्ममुक्ति हो जानी चाहिए उसी स्थानमें कष्ट सहकर भी कर्मबंधन अधिक करता है। यही ज्ञानी और अज्ञानी का तारतम्य समझा जाता है।

जब मात्र क्रिया पर लक्ष्य न जाकर उस क्रियाके मूल कारणकी ओर अर्थात् अपनी ओर लक्ष्य जाता है तब ये बाहर की क्रियाएँ अस्वाभाविक नहीं लगतीं और उन्हें सहन करते

समय भी 'यह होना ही चाहिए था' इसीलिए हुआ है, इसका अच्छेप्रकार भान रहे तब ही कर्मबंधनके बदले कर्मसे छूट सकता है। ऐसी भावना होना सत्यार्थी साधकको सुलभ होने से इस भावनामें महावीर दृढ़ रहते थे।

प्रसंगोचित यह भी कहने का समय प्राप्त हैं कि बहुतसे' साधक कष्ट सह सकते हैं। कष्ट देनेवालेपर द्वेष भी नहीं करते। तथापि 'यह कष्ट है' इतना तो उन्हें भान होता ही है। स्मरण रहे कि ऐसा भान भी जहां तक है वहां तक यह साधक शुद्ध नहीं गिना जाता। चाहे आज यह उसका प्रतीकार नहीं करता परंतु प्रतीकारकी वृत्ति जहाँ तक न बदल जाय वहां तक इस साधकमें सच्चा समभाव प्रकट न होगा। जगत में जो कुछ सुन्दर या असुन्दर देखा जाता है या बनता है वह केवल मेरी अपनी दृष्टिका ही दोष है। सबमें उत्तरदायित्व मेरा ही है। इतनी नैसर्गिक वृत्ति जिस साधककी होती है वहीं ऐसे प्रसंगमें समभाव रख सकता है।

बाकी वृत्तिमें दुष्टोंका प्रतीकार करना योग्य नहीं। "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" यह भी एक कर्तव्य धर्म है। परंतु मैं तो एक उच्चकोटिका साधक (हूं या) कहलाता हूं इसलिए 'मुझसे ऐसा न होगा' जहाँ ऐसी भावना है वहाँ भी कर्मबंधन तो है ही। इतना ही नहीं वल्कि वृत्तिमें प्रतीकारके संस्कार दृढ करनेका भी यह निमित्त है। मात्र अपने चातुर्यसे उसे उसी समय शमन करनेका प्रयास किया है, इसीलिए यह बाहरसे

दिखलाता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। यह साधक समभावभावित नहीं कहलाता। और वह समभावी रह भी नहीं सकता। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि दुष्टता व्यक्तिमें नहीं होती वृत्तिमें होती है। और सामनेवाले पात्रकी दुष्ट वृत्ति तो इसमें मात्र निमित्तरूप होती है। उसका मूलकारण तो अपनी वृत्ति ही है। अर्थात् "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" यह सूत्र बाहर अनुकूल नहीं पडता, बल्कि अपनी वृत्तियोंको लागू पडता है। इतना समझनेवाला साधक बाहर जो कुछ देखता है वह भीतरका समझकर जो लडेगा, तो वह केवल अपनी वृत्तिके साथ ही लडेगा, बहिरंगका प्रतीकार नहीं करेगा। इतना ही नहीं बल्कि बाहर प्रतीकार करनेजैसी उसे कोई वस्तु न दीखेगी।

श्रमण महावीर ऊपरके भानमें थे इसीसे उनमें समता स्थिर रही। अन्यथा यदि प्रतीकार करनेका उनका संकल्प मात्र भी होता तो भी उनके पास योग द्वारा प्राप्त होनेवाली असाधारण और सहज शक्तिओंद्वारा प्रतीकार करके इन सब प्रसंगोंका निवारण कर डालते। परंतु कर्मके अटल नियमका उन्हें भान था, इसलिए ऐसे सँकल्प उनमें कैसे संभव थे ? यह दशा स्थितप्रज्ञकी सहज साम्यावस्थाकी दशा कहलाती है। ऐसे साधकको हर्ष और शोक नहीं होता; क्योंकि निमित्तजन्य संयोगोंके आधीन होनेवाला तत्व इनमेंसे निकल गया था। इसलिए संयोगोंका इनके आधीन होना पड़े तो बात दूसरी है, परंतु ये स्वयं संयोगोंके आधीन होनेवाले नहीं।

इसप्रकार श्रमण महावीरको कायासे संयम, वाणीसे मौन और मनसे समभाव ये तीन योग सहज प्राप्त थे। ये तीनों योग इनकी साधनाका विकास करते जा रहे थे। श्रमण महावीरको यह प्रबल प्रतीति थी कि साधक चाहे जितना समर्थ हो तो भी मुक्तिके मार्गमें, कर्म खपाये विना मुक्ति मिल जाने का किसीकेलिए अपवाद नहीं होता। कर्ममुक्ति तो कर्म भोगनेके पश्चात् ही मिल सके, और कर्म काटनेके मार्गमें कष्टोंका होना स्वाभाविक ही है।

(११-१२)मोक्षाभिलाषी जंबू !'(निर्जन स्थलोंमें इस योगीश्वरको एकाकी देखकर)'रात या दिनमें (चोर, जार या ऐसे कुछ इतर)लोग आकर इनसे पूछते कि "अरे तू कौन है यहां क्यों खड़ा है ?" इसप्रकार पूछने पर भी इस ध्यानमग्न मुनिवरकी ओर से जब उत्तर न मिलता तब ये(मूर्ख)लोग चिढ़कर इन्हें खूब मारते या प्रहार करने लग पड़ते, तो भी देहभानसे पर रहनेवाले ये मुक्तयोगी समाधिमें तल्लीन रहते थे।

प्रिय जंबू ! कई बार चिंतन और मंथनमें मगन रहने वाले इस शांत और वीर श्रमण श्रीमहावीरको जब कोई यह पूछता कि "अरे यहां कौन खड़ा है ?" तब वे यदि ध्यानमें न होते तो अवश्य उत्तर देते कि

"भिक्षुक हूं" इस उत्तरको सुनकर वे लोग कहते कि "खड़ा हो, खड़ा हो, यहाँ से जल्दी बाहर निकल जा" तब तो वे मुनीश्वर तुरंत उत्तर दिए बिना उत्तमपुरुषोंकी रीतिके अनुसार निःसंकोच वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाते। परंतु यदि वे जानेकेलिए न कहकर कुपित ही हो जाते तो वे मौन रहकर (जो होनहार है वह होगा ऐसा विचार कर) ध्यानस्थ होजाते।

विशेष—पहले श्लोकमें ध्यानके समयकी स्थितिका वर्णन किया है। और उस स्थितिमें स्वयं देहभानसे पर होकर उससमय उत्तर न देसकना स्वाभाविक है। परंतु समाधि या ध्यानमें न हों और देहभानमें हों तो सुनते हुए भी उचित और सत्य उत्तर न देना वास्तविक नहीं समझा जाता, इस सूत्रमें स्पष्ट ही बताया गया है।

इसीलिए सूत्रकार दूसरे श्लोक में कहते हैं कि यदि कोई पूछे तो उसे स्वयं स्पष्ट कह देते। इससे साधकको यह सीखना है कि जिस भूमिका पर वह स्वयं होता है उस भूमिकाका धर्म उसे निभाना ही चाहिए और आचरणमें लाना चाहिए। इसीसे क्रमिक विकास होता है। और ज्यों ज्यों अनुभव होता जाता है त्यों त्यों क्रियाशुद्धि भी सहजरीतिसे होती जाती है। इससे उलटा जो साधक अपनी भूमिका न देखकर आगेकी भूमिकाके उच्चधर्मको छूनेकेलिए कल्पनाकी छलांग मारता

है उसे शक्तिविनाकी वात हो पड़नेसे पछाड़ खाकर गिरना पड़ता है। और उसके आंतरजीवनका और बाह्यजीवनका सौ सौ कोसका अंतर पड़जानेसे अधिकसे अधिक पतनको प्राप्त होता है। साधनामें जुड़नेवाले प्रत्येक साधक को ये काँटे दूर फेंककर फिर आगे कदम रखना चाहिए। तब ही उसपथके काटनेमें सफलता होती है।

आंतरिक संस्कार जैसे हों, स्वयं मानता हो, या विचारता हो, एवं बर्ताव करता हो तो इनका ऐसा निराला जीवन कुटिलमार्गमें हो तो भी सीधे मार्गपर आते देर नहीं लगती। और वह सदैव हलका फुलका बना रहता है। इससे उलटा चलनेवाला सीधे मार्ग पर हो तो भी उसके मार्गमें दंभ, पाखंड, कुटिलता और ऐसे ऐसे काँटे होनेसे इसके पथ कटने में अनेक कठिनाइयाँ नडती हैं। सारांश यह है कि जो वस्तु जिसरूपमें प्रभावित करती हो उसरूपमें इसे तात्कालिक प्रगट करना उचित है। और यदि यह प्रभाव दूषित होनेसे दूर करने योग्य लगे तो सबसे पहले वृत्तिके ऊपरसे उसका स्थान दूर करनेकेलिए प्रयत्न करे। परंतु इसप्रकार न करते हुए, वृत्तिपर अलग अलग प्रभाव हो तो भी वाणीमें या क्रियाको न देखे ऐसे दंभसे इसे गुप्तरखनेका प्रयास किया जाय तो दुगना नुकसान होता है। जो जैसा होता है वैसा सवेर या देरमें दिखाई दिए विना नहीं रहता यह प्राकृतिक नियम है। और उसे ढँकनेकेलिए की हुई झूँठी क्रियाके संस्कार साधकको उलटा अधिक पीड़ित करते हैं।

यहाँ श्रमण महावीरकी इन क्रियाओंसे उनके नैसर्गिक जीवनका पूर्ण विश्वास होता है। अपने कानमें वचन पड़ें, तथा वह प्रभाव डालकर उसका उचित उत्तर दें, इस उत्तरसे सामने वाले लोक चिढ़कर मारें तो उसे सहन करे, और वहाँ से चले जानेको कहें तो वैसा करे, पूछे विना उन्हें स्वयं बोलनेका मन न हो, और अपनी उपस्थितिमें चोर छुपकर रहे, कोई कुकर्म करे या कोई अपनेको मारे या गालियाँ दे, तो भी उनपर लेशमात्र भी प्रभावित नहीं होते थे। इसका कारण यह है कि ये महापुरुष यह जानते हैं कि यह सब होने योग्य है, और उसीप्रकार बनता है। यह दशा या भूमिका, सत्यज्ञानी और समर्थयोगीकी ही सहज हो सकती है। यहाँ भी महावीरके सहज योगकी प्रतीति है।

(१३) ओ मोक्षमार्गके महारथी जंबू! जब शिशिरऋतुमें शीतल पवन बड़े जोरसे चलता था, जब कि लोक थरथर काँपते थे, जब दूसरे बहुतसे साधु (ऐसी ठंड सहन न कर सकनेसे) निर्वात (जहां हवाका प्रवेश न हो सके ऐसे) स्थानको खोजते थे, अथवा कपड़े पहनना चाहते थे, या तापस लोग लकड़ियाँ जलाकर शीतनिवारण करते थे, जब इसप्रकार सर्दी का सहन करना अत्यन्त कठिन था, तब ऐसे समयमें भी संयमीश्वर भगवान (वीरप्रभु) निरीह (इच्छारहित) होकर खुले स्थानमें रहकर भी शीतको सहन करते

थे। कभी अत्यंत सर्दी पड़नेपर उसे सहन करनेमें देह असमर्थ होगया हो तो रातमें (मुहूर्तमात्र) बाहर घूमफिरकर समभाव रखते हुए पुनः भीतर आकर ध्यानस्थ रहकर सर्दीके प्रकोपको सहन करते थे।

विशेष—इससूत्रसे पता लगता है कि श्रमण महावीर जैसे योगीके देह पर भी ऋतुका प्रभाव तो होता ही था और होता है, और यह स्वाभाविक भी है। जहां देह है वहां देहके साथ संबंधित प्रभाव अवश्य होता ही है। योगीको सर्दी न लगना चाहिए ऐसा कुछ इनकेलिए निसर्गकी नियमावलीमें अपवाद नहीं हो सकता, एवं योगी खाता पीता भी नहीं हो, यह मान्यता भी भ्रममूलक है। जहां तक देह हैं वहां तक उसकी सांयमिक आवश्यकता तो अवश्य रहती हैं। और यह झूंठ या अवास्तविक है ऐसा मानना भूलसे भरपूर है। इतना ही नहीं, बल्कि योगीको बाहरकी क्रियाकी विशेषताएं या बाहरकी शक्तिओंसे मापनेकी रीति भी वास्तविक नहीं है।

इस साधकका हृदय कितना उच्च और उदार है? यह पतितकेलिए भी कितना प्रेमपूर्ण है? इसके विकार, माया, दंभ लोभ आदि कितने घट गए हैं? और इसने पूजा प्रतिष्ठा की वासना कितनी घटादी है? इसका देहाध्यास कितना है? इसयोग्यता पर ही योगीकी भूमिका का दारोमदार है। यहां श्रमण महावीरकी महत्ता भी इसी दृष्टिसे है।

(१४) दिव्यदृष्टिवान् जंबू! इसरीतिसे योगी

होते हुए श्रमण महावीरको देहाध्यासका लेशमात्र भी प्रभाव न हो इसकेलिए अधिकाधिक जागरूक रहकर उपरोक्त जिसविधिका पालन किया है उसविधिका प्रत्येक त्यागी साधककेलिए विवेकपूर्वक पालन करना हिता वह है।

उपसंहार—श्रमण महावीरका विहार जैसे साधना का एक महान् अंग था, इसीप्रकार विहारमें अलग अलग एकांत स्थानोंमें रहकर स्वाध्याय और ध्यानमें मग्न रहनेकी क्रिया भी साधनाकी अंगभूत थी। अल्पनिद्रा, तपश्चरण, कष्टसहन आदि सबकी सब वृत्तियोंपर विजय पानेके प्रयोग थे। उनके द्वारा सत्यकी प्राप्ति ज्यों ज्यों होती गई त्यों त्यों देहके रहते हुए वे देहाध्याससे पर रहनेमें सफल हुए थे। प्रत्येक साधककी साधना इसप्रकार सफल हो सकती है।

इस प्रकार कहता हूं

उपप्रधानश्रुत अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त।

श्रमणकी सहिष्णुता

पादविहार और भिक्षा ये दोनों श्रमणके स्वावलंबन और संयमकी प्रवृत्तिमें सुदृढ़ साधन हैं। जिसने अपना सर्वस्व जगतके पैरोंपर रखकर "वसुधैव कुटुंबकं" अर्थात् समस्त विश्वके साथ मैत्री और प्रेम साधने का प्रयोग स्वीकार किया है। ऐसे त्यागीजनों को पादविहारमें अनेक प्रकारके ठंडे गर्म प्रसंगोंका मिलना स्वाभाविक है। ऐसे अनेक उपसर्ग और परिषहोंके बीच जितने अंशमें वह समभावमें जीवित रह सके उतने अंशमें उसकी श्रमणसाधना सफल होती है और वह विकसित गिनी जाती है।

संयममार्गमें जाते हुए अकस्मात्से स्वजन्य या परजन्य संकट आनेको परिषह, और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा इरादापूर्वक या अज्ञानतासे, वैरवृत्तिसे या कौतुहलवृत्तिसे जो संकट उत्पन्न किए जाते हैं वे जैनपरिभाषामें उपसर्ग कहलाते हैं। पादविहार और भिक्षामय जीवनमें इन दोनोंका रचनात्मक अनुभव

होना अतिदुर्लभ है।

श्रमण महावीर अनार्यभूमिमें विचरे थे, क्योंकि उस निर्ग्रन्थकी दृष्टिमें आर्य और अनार्यकी विषम-बुद्धि या भेदबुद्धिको अवकाश न था। वह श्रमणवर तो सब पर समभावभावित था। तो भी अनार्यत्वके संस्कारोंके वश हुए अनेक जनोंद्वारा विविध रीतिसे इस योगी पर अनार्यत्वके नमूनेरूप उपसर्ग आकर नड़ते थे। और ये अनेक दुःसह संकटोंमें भी जिसतत्वका अवलंबन लेकर वे संयमी, स्थिर और समभावी रहे, उस प्रतीकार रहित सहिष्णुताका चित्र आलेखन करते हुए।

गुरु देव बोलेः—

(१) मोक्षार्थी जंबू ! महानिर्ग्रन्थ महावीर कर्कश स्पर्श, सर्दी, ताप तथा डांस और मच्छरके डंक आदि विविध परिषहोंको समभावपूर्वक सहन कर सकते थें।

विशेष—वे वस्त्र न रखनेके कारण उनके शरीर पर सर्दी, गर्मी, कठोर स्पर्श, और डांस तथा मच्छर आदिके डंकों का अनुभव होना स्वाभाविक था। श्रमण महावीर इन कष्टों को लीलापूर्वक सह लेते थे। इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ भी समभाव रख सकते थे। अर्थात् उनका चित्त भी उनका बचाव

करनेकेलिए प्रेरित नहीं होता था, यह कहकर सूत्रकार यहाँ श्रमण महावीरकी सतत जागृतदशा और अखंड एकात्मलीनताका दिग्दर्शन कराते हैं।

(२) साधक जंबू! फिर वे दीर्घ तपस्वी महावीर दुर्गम्य लाटदेशकी वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नामके दोनों विभागोंमें विचरे थे। वहां उनको रहनेके स्थान भी निकृष्ट, हलके (विषम) मिलनेसे और आसन (बैठनेकेस्थान) भी ऐसे ही मिलते थे।

विशेष—लाट देशमें वज्रभूमि+ और शुभ्रभूमि इन

+वज्रभूमिका विभाग, वज्र=Hard अर्थात् सख्त, और भूमि=Soil अर्थात् प्रदेश या जमीन। It means hard Soil that is such Country where religious preaching had very little effect on the minds of the audience. सारांश यह है कि जहां श्रोताओंके मन पर धार्मिक उपदेशका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता हो ऐसा प्रदेश। ऐसा अर्थ प्राचीन भारतवर्षमें स्वीकृत है। देखो पृ० १६५। यदि इस व्युत्पत्ति जन्य अर्थको स्वीकार करें तो शुभ्रभूमिका 'उज्वल संस्कार वाली प्रजा का प्रदेश' ऐसा अर्थ भी क्यों न घटाया जा सके? जब यहां सूत्रकार तो इन दोनों प्रदेशोंको लाटदेशके विभागके रूपमें वर्णन करता है, और इन दोनों विभागोंमें वसती प्रजामें अनार्यत्व अधिक था ऐसा भी परिज्ञात कराता है। फिर भूमि कठोर या नम्र हो तो प्रजाका मानस नम्र या लोहे जैसा बना हो, यह युक्तिसंगत नहीं लगता। कई बार नम्रभूमिमें रहनेवाले आदमियोंका मानस कठोर, और कठोर भूमिमें रहनेवाले मनुष्यों

दोनों भूमिका विभाग उस समय प्राय: अनार्य लोगोंकी वसतिसे व्याप्त होना चाहिए। जिसमें आर्यके गुण जैसे कि मानवता, दया, प्रेम, उदारता, परोपकार, संयम या त्याग इत्यादि न हों, बल्कि मूढ़ता, स्वार्थपरता और निर्दयता ही हो या इन्हें लेकर जो पाशवी और पैशाचिक कर्म करते हों, तथा परलोकका या स्वकृत कर्मोंके परिणामका डर न रखते हों, उन्हें अनार्य कहा जाता है। आज भी ऐसी वसति प्रायः जंगल और खानोंमें वसति पाई जाती है। उनका जीवन व्यवस्थित श्रमजीवी नहीं होता। प्राय: लूटकर या अनापशनाप खाकर वे अपना जीवन बिताते हैं। उनमें आपसमें भी कोई विशेष सामाजिक नियम नहीं होते। उनका नियम उनकी अपनी शारीरिक शक्ति है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि वे विभाग साधुजनोंके जानेकेलिए दुर्गम्य थे। ये प्रदेश जंगल, खान और पहाडोंको लेकर केवल मार्गकी दृष्टिसे ही नहीं

का मानस नम्र साक्षात् आंखों देखा विषय है। वस्तुतः मानस स्वभाव और भूमिका विशेष प्रत्यक्षमें कुछ संबंध नहीं है।

वे दोनों प्रदेश आजके उड़ीसा प्रान्तकी सरहद पर और प्राचीन सूत्रकी दृष्टिसे वंश अथवा चेदीदेशकी सरहद पर होना चाहिए। ऐसी प्राचीनभारतवर्षके लेखककी कल्पना है। जबकि दूसरे ग्रंथकार इन प्रदेशोंको श्रावस्ती नगरके उत्तरमें हिमालय की ओर के पहाड़ी प्रदेशमें होना बताते हैं। इन दोनोंमें ऐतिहासिक सत्य क्या है इसे तो इतिहासके जिज्ञासु शोध करें और विचारें। मेरी दृष्टिसे मेरा दूसरे ग्रंथकारोंका मत श्रमण महावीर के विहारस्थानोंकी अपेक्षासे प्रमाणभूत लगता है।

बल्कि वहाँ रहनेवाली मानवजातिकी दृष्टिसे भी दुर्गम्य थे फिर भी श्रमण महावोरने वहां विचरना उचित समझा। यहाँ ही उनकी सहज उदारताकी पूरी पूरी प्रतीति होती है। जहाँ आर्य हों वहां आर्योंका सन्मान होता ही है। और वहां विशेष उपसर्ग-परजन्य वाधक संकट आनेके प्रसंग भी भाग्यसे ही मिलते हैं। परंतु अनार्य भूमिमें तो ऐसे प्रसंग प्रतिपल मिलते हैं और वहाँ समभावका नमूना पूरा पाडनेसे अपनेको और परको दोनोंको लाभ होता है। परको इसलिए कि ऐसे चरित्र का अनार्यों पर भी प्रभाव होना सम्भव है। क्योंकि वे भी मनुष्य हैं। उनमें भी समभाव(फीलिंग)का तत्व है। मात्र निमित्त न मिलनेके कारण वातावरणवश उनका अनार्यत्व बढ़ता जाता है। अर्थात् अनार्योंको आर्यत्वके आंदोलन मिलें ऐसी शुभनिष्ठा भी श्रमण महावीरके अनार्यभूमिके गमनके पीछे प्रगटमें आती है। जगत्कल्याणके इच्छुक श्रमण महावीर की इस योग्यतासे हो वे विश्वकल्याणके साधक, सर्वज्ञ और भगवान् हो सके।

(३-४) विचक्षण जंबू ! लाटदेशमें विचरते समय उस महाश्रमणको अनेक कष्ट सहन करने पड़े थे। भिक्षाकेलिए जातेसमय वहांके अनार्यलोग उस वीर श्रमणको मारने और काठने दौडते थे। अथवा घरमें बैठे बैठे बहुतसे अनार्य तो अपने जंगली कुत्तोंको उस ओर छोड़ देते थें। फिर भी इन सब कष्टोंको वे समभावसे सह लेते थे। ऐसे कष्ट सहकर फिरतं फिरते

कभी किसी स्थलसे भिक्षा मिलती तो वह भोजन अतिरूक्ष और बहुत थोड़ा मिलता था।

इन अनार्य प्रदेशोंमें सामान्यरीतिसे विचरते समय भी बहुतसे जंगली पशु और कुत्ते उन्हें तकलीफ देते। परंतु यह समय देखकर अनार्योंको तो कुतूहल होता और बहुतसे मूर्ख लोग तो कुत्तोंको 'शू शू' करके उस श्रमणको काठखानेकी उलटी प्रेरणा करते उनमेंसे कोई भाग्यसे ही ऐसे मिलते कि जो ऐसा करना न चाहते हों और कोई विरले उन्हें रोकनेका प्रयत्न भी करते।

विशेष—इन दोनों सूत्रोंसे वहां की जंगली प्रजाका मानस, वहां की रहणी करणी और वहांके खानपानका परिचय होता है। और अनार्यों में भी आर्यत्वके थोड़े बहुत सुषुप्त या प्रगट संस्कार तो होते ही हैं, यह बात भी ऊपरके सूत्रमें सूत्रकारकी दी हुई अनार्योंकी विविध प्रवृत्तिओं द्वारा नितर आती है। इससे अनार्योंमें भी आर्यत्व और आर्योंमें भी अनार्यत्व हो सकता है या प्रवेशकर सकता है। एवं आर्यत्वता अनार्यत्वके किसी भी जाति, क्षेत्र या कालका बाह्यबंधन नहीं, यह निस्संदेह ठीक समझा जाता है।

(५) आत्मार्थी जंबू ! ऐसे अनार्यलोगोंकी वसति में वे भगवान मात्र एक या दो बार ही नहीं बल्कि कई बार विचरे थे। वहां की वज्रभूमिमें बसनेवाले

लोगोंको अपने लिए भी रूक्ष और तामसी भोजन बड़ी कठिनाईयों द्वारा मिलनेसे वे इतने अधिक तामसी स्वभावके हो गये थे कि साधुको भिक्षार्थ आते हुए दूरसे देखते ही द्वेषी होकर अपने कुत्तोंको 'शू शू' करके उनके ऊपर छोडकर दानवो उपद्रव करते थे। इसी लिए बौद्धादि मतके तथा दूसरे कई भिक्षुओंको यदि उस प्रदेशमें विचरनेका काम पडता तो वे लंबी लकड़ी (कुत्तोंके उपद्रवसे बचनेका पूरा साधन) हाथमें लेकर बाहर निकला करते। तो भी कुत्ते उनके पीछे लगे रहते और उन्हें काठ खाते। सुज्ञ जंबू! इस तरह लाटप्रदेश मुनिविहारकेलिए सर्वथा विकट था, तो भी भगवान्‌ने उस परिस्थितिमें रहकर, देहभान भूलकर तथा दुष्टमनोवृत्तिको दूर करके प्रत्येकप्राणीके प्रति प्रेमबताकर अनेक प्रकारके संकट और अनार्यलोगोंके कड़वे वचनोंको समभाव तथा प्रसन्न चित्तसे सहन किए।

विशेष—श्रमण महावीरका यह शोधनकाल था। और यह शोधनका मार्ग बड़ा टेढ़ा और कठिन था। तो भी शोधन का मार्ग जितना कठिन है, उतनी ही उसके गर्भमें शाश्वत शान्ति है, और पतनका मार्ग जितना सरल है, उतना ही उस के गर्भमें परिताप है। ऐसा इन्हें अटूट विश्वास होनेसे इन्होंने

यह स्वेच्छासे ही स्वीकार किया था। इस सूत्रसे यह फलित होता है कि उस समय श्रमण महावीरके साधनाकालमें बौद्ध साधु भी उस प्रदेशमें विचरते थे। भगवान महावीर और बुद्धदेव दोनों समकालीन थे। इतना ही नहीं बल्कि बौद्धभिक्षु भगवान् महावीरकी सात्विक प्रवृत्तिका अनुकरण भी करते या करनेकी ईच्छा रखते थे यह भले प्रकार स्पष्ट होता है। इन भिक्षुओंका भी लाटदेश प्रदेशका दुर्गम्य गमन, इनकी शुभप्रवृत्ति तथा शुभ अनुकरणवृत्ति बताती हैं। और यह ठीक भी है। साथ ही सूत्र यह भी कहते हैं कि उस समय बौद्ध-भिक्षु नालसे जड़ी हुई लम्बी लकड़ी भी रखते थे। इस पंक्ति से इनकी क्रियाके पीछे प्रतीकारक वृत्तिका मानस भी दीख पड़ता है। और इस मानसका मूलकारण धार्मिक संस्कृति है। वे यह साधन केवल आत्मरक्षाकेलिए ही रखना चाहते थे इतना स्मरण रहे।

परंतु शुद्धप्रेमके मार्गमें सामनेवाले व्यक्तिकी क्रियाकी ओर नहीं देखा जाता, इतना ही नहीं बल्कि सामनेवाले पात्र की सरासर अघटित क्रिया हो तो भी प्रतीकारकी भावना तक होना सम्भव नहीं, एवं विश्वमें रहनेवाले एक भी पदार्थका दुरुपयोग करना हिंसा है। परन्तु एक भी सूक्ष्म जीवजंतुके बीचमें आकर उसे हानि पहुंचानेकी इच्छा तक करना भी हिंसा है। भगवान् महावीर ऐसी पूर्ण अहिंसाकी व्याख्या मानते होनेसे निसर्ग-कर्मके अमिट सिद्धांतके अनुसार वे किसी

का भी प्रतीकार नहीं करते थे, इतना ही नहीं बल्कि प्रतीकारके साधनोंकी इच्छा भी नहीं करते थे। उपरोक्त सूत्र इसप्रकार कहता है। इनकी यह विशेषता इनके समयके पश्चात् प्रत्येक दर्शनकारने मत या पंथके संस्थापकों तथा महापुरुषोंने अनुकरणीय मानी है। इतना ही नहीं बल्कि जीवनमें आचरण भी किया है। भगवद्गीता, पातंजलयोग, धम्मपद इत्यादि माननीय ग्रन्थोंमें उनकी किरणें अच्छे प्रमाण में मिलती हैं।

जैनदृष्टिसे "**शठं प्रत्यपि सख्यं**" यह वास्तविक अहिंसा का मूलभूत सिद्धांत है। यही अहिंसा जब क्रियात्मक बनती है, तब उसे शब्दपर्यायकेरूपमें पहचानना चाहें तो अनुकंपा या दयाके नामसे पहचानी जाती है। यह सिद्धान्त जितना व्यापक होगा उतना ही व्यक्ति, समाज या राष्ट्रोंमें अधिक संस्कारिता और अधिक शान्ति दृष्टिगत होगी। परंतु यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि उपरोक्त अहिंसाकी व्याख्या जैन अर्थात् वीर विजेता और उच्चकोटिके साधककेलिए है, और ऐसा वीर ही शठके साथ सख्यता जोड़कर शठकी शठता छुड़ा सकता है। इतनी ऊंची भूमिका पर न पहुंचा हो वह यदि इसका अनुकरण करने लगे तो अनर्थ ही कर बैठेगा। जिसकी वृत्तिमें व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत वैरके अंकुर न हों वे ही उपरोक्त अहिंसा का विवेकयुक्त पालन करते हैं।

इससूत्रमें जैसे वैज्ञानिक दृष्टि है, वैसे वैद्यक दृष्टिका भी

एक वाक्य मिलता है। और वह यह हैं कि भोजन भी मानस-को घड़नेका अनुत्तर साधन है। 'जैसा अन्न वैसा मन' यह सामान्य कहावत भी बड़ी गहराईसे विचारने योग्य है। जल-वायु और भोजन पर भी मानसिक सर्जनका बड़ा आधार है यह बात ठीक ही है। जैसे अति स्वादु, रसाल और तीखे तमतमाते भोजन ज्ञानतंतुओंको तथा इंद्रियोंको उत्तेजित बना छोड़ते हैं। एवं नशीले, मादक और तामसी आहार लेनेसे भी प्रकृतिमें निर्दयता, क्रूरता और परशोषणवृत्ति बढ़ती है। यही विचार कर विकासको चाहनेवाले प्रत्येक मानव सादा और सात्विक खान पान लेनेकी ओर लक्ष्य दें।

इससे जैनदर्शनमें मांसमदिरादि अभक्ष्य खानेवालेको नरकगतिका अधिकारी कहकर इसके त्यागकेलिए अतिभार रक्खा गया है ऐसा दीख पड़ता है। केवल सात्विकता ही नहीं बल्कि सच्चा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य कायम रखनेके लिए भी यह उपयोगी है। तामसी खानपानसे मनुष्य की प्रकृति तामसी और आवेशपूर्ण(हठधर्मी)हो जाती है, यह सारासारका विवेक खो बैठता है, और धर्म या व्यवहार के नाम पर अनेक प्रकारके पैशाचिक कार्य करके उसके द्वारा अधमस्थानमें जाने लायक सब सामग्रियां भी तैयार कर डालता है;परिणामस्वरूप इसे अधम तथा दुःखके स्थानमें जाना पड़ता है। यह बात अत्यन्त स्मरणीय है। अनार्य और आर्य का भेद भी इसीप्रकारकी वृत्ति और इस वृत्ति द्वारा होनेवाले कर्मों पर ही अवलंबित है। बाकी तो, मनुष्यमात्रको फिर

यह आर्य हो या अनार्य हो, देह इंद्रिय और मन आदि तो सबको समान ही मिला है। फेर मात्र है तो वृत्तिका है, जगत् के सुखदुःखका मंडाण(पाया)भी इस वृत्तिकी ही कृपा है।

(६) मोक्षार्थी जंबू ! संग्रामके प्रमुखभागमें रहनेवाला बलवान् हाथी पराक्रमपूर्वक विजय प्राप्त करता है वैसे ही साधकपुंगव महावीर भी आंतरिक संग्राममें(अहिंसा, सत्य और संयमके शस्त्रोंसे)विजय पाकर पार हुए थे।

विशेष—पाँचवें सूत्रसे "असमर्थो भवेत्साधु" ऐसा कोई उलटा अर्थ न कर बैठे इसीकेलिए श्रमण महावीर की वीरताकी सूत्रकारने प्रशंसा की है और वह ठीक है। प्रत्येक कार्यमें वीरताकी आवश्यकता है। अहिंसाका पालन भी सच्चा वीर ही कर सकता है। कर्तव्यधर्म भी वीर ही बजा सकता है। यह भलेप्रकार अनुभवगम्य है। जो वीर नहीं होता वह किसीको क्रिया द्वारा न मारे तो भी वृत्तिका तो वह पामर और निर्माल्य होकर अनेकगुणी मानसिक हिंसा कर डालता है। अर्थात् जिसकी वृत्तिमें सच्ची वीरता है वही साधक इस संग्राममें पार उतरता है, ऐसा समझना चाहिए। श्रमण ज्ञातपुत्र बाहरका संग्राम छोड़कर उसके कारणको शोधनेके अनन्तर फिर केवल आंतरिक संग्रामके अखंड विजेता बनकर रहे थे, इसीलिए महावीरकी तरह प्रसिद्ध हो।

बाहरके संग्रामका विजेता सच्चा वीर नहीं है। जो

आंतरिक संग्रामका विजेता है वही वीर है। बाहरके संग्राम में बाहरके साधन हों, परंतु आत्मसंग्राममें तो केवल आंतरिक साधन ही होते हैं। बाहरका विजेता अपने आपको या अपने सच्चे शत्रुओंसे शायद ही पहचानकर लड़ सकता है या मारता है; परंतु यह केवल साधनरूप देहकी शत्रुताको नहीं! बल्कि देहके मरनेसे वैर बदला चुक गया यह मान्यता ही झूठी है, यह तो उलटी बढ़कर अन्य जन्ममें अधिक पीड़ा पहुंचायगी। इसे सदैव स्मृतिपथमें रखना योग्य है। सच्चा वीर इन सबके मूलको जानकर केवल शत्रुओंको अर्थात् अपने आंतरिक क्रोधादि रिपुओंका हनन करना ही पसंद करता है, और सबके सब प्रयत्न इनके पीछे ही खर्च करके विकासको साध लेता है।

(७) आत्मार्थी जंबू! किसी समय इन्हें लाट प्रदेशके (विशाल) जंगलोंमें चलते चलते सांझ हो जाती तब कई बार श्रमण वीरको रहनेकेलिए गाँव भी न मिलता (और वहां ही किसी वृक्षके नीचे उन्हें रहजाना पड़ता), और वे भोजन या रहनेका स्थान ढूंढनेके अर्थ किसी गाँवमें प्रवेश करनेका मन होता तो वहां गाँवके गोरे (बाहर) से ही अनार्यलोग सामने आकर उन्हें मारते, और यह कहते कि "यहां स्थान नहीं है। ओय! उधर जा। ("इसगाँवसे दूसरे गाँव चला जा)"

(८) प्रिय जंबू ! कई बार इस श्रमणवरको इस लाटदेशमें वसनेवाले, अनार्यलोग, लकड़ीसे, मुक्केसे, भालेके अग्रभागसे, पत्थरसे या खप्परसे मारते और फिर ऊपरसे उलटा यह कहते कि "यह भूतके समान कौन है ?" और यह कह कर केवल चिल्लाने लगपड़ते (और दूसरे लोगोंको भी एकत्र कर लेते)।

(९) प्यारे भिक्षुक जंबू ! किसी समय तो वहां के निवासी अनार्य इस महाश्रमणको पकड़कर तथा उनके देह पर अनेक उपसर्ग (पीडाएँ) दे कर मांस तक काट लेते, अथवा इनके ऊपर धूल बरसाते। कुछ तो कई बार आकाशमें ऊंचा उछालकर उन्हें नीचे पटक देते, अथवा ध्यानस्थ आसनसे बैठे होनेपर उस आसनसे डिगमिगाकर ध्यानसे चलित करनेका कौतूहल करते। परंतु ऐसे प्रत्येक प्रसंगमें देहाध्यास, देहममत्वको दूर रखकर तथा वासनारहित हो कर ये श्रमण समभावको ही धारण किये रहते।

(१०) ओ मोक्षके संपूर्ण अभिलाषी जंबू ! इस रीतिसे जिसप्रकार कवचसे सुसज्जित कोई वीर सुभट युद्धके मोरचेपर डटकर भालेसे भेदित करनेपर भी (कवच होनेसे) भेदित नहीं होता या डरता नहीं, इसीप्रकार प्रबल सत्ववाले भगवान महावीर भी इन

उपसर्गोंके सब कष्ट सहते हुए लेशमात्र भी चंचल न होते हुए भलेप्रकार अडोल तथा अचल रहे थे ।

विशेष—भाले और खप्पर आदि शस्त्रोंसे उसप्रदेशमें किसप्रकारके जंगली लोग रहते थे यह स्पष्ट होता है। जिन्हें सुनते हुए भी रोमांच हो आते हैं इसप्रकार विविध संकटोंका इन सूत्रोंमें उल्लेख है। तो भी ये सब परिषह इन्होंने समभाव से सहन किए थे यह भी सूत्रकारकी स्पष्ट साक्षी है। तब यहां इस प्रश्नका होना स्वाभाविक हो है ये सब विकल्प मनमें आए विना कैसे रहे होंगे ? इसका रहस्य भी सूत्रकार साथ ही दशवें सूत्रमें प्रगट कर देते हैं। यहाँ दो हुई वीरसुभटकी उपमा भी संपूर्णरीतिसे सुन्दर घटना है। वीरसाधक जिस तरह कवच होनेसे शस्त्र लगनेपर भी उसका साहस टूटता नहीं, ऐसे ही श्रमण महावीरकी वृत्तिपर आत्मभानसे जागृत रहनेवाली शुद्धविवेकबुद्धिका कवच था इसीलिए वे अडोल और अस्खलित समभाव रख सके थे ।

(११) मोक्षार्थी जंबू ! इसरीतिसे श्रमण भगवान् महावीरने जिसमार्गका पालन किया है उसमार्ग का अन्य साधक भी अनुसरण करें ।

उपसंहार—साधनाकी विकट वाटमें प्रलोभनकी खानें और संकटोंके टीलोंका होना स्वाभाविक है। कठिनाइयां ही महापुरुषोंका सर्जन करती हैं, यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। कठिनाइयोंसे

रहित मार्गमें सोची हुई मौज नहीं मिलती, इसीसे महापुरुष विकट पथमें जाना अधिक पसंद करते हैं और मौज मजेके साथ उसे सह भी लेते हैं। कष्टोंके सामने मानसिक, वाचिक या कायिक किसी भी प्रकार का प्रतीकार किए विना उसे सह लेनेका नाम ही सच्ची सहिष्णुता है।

आपत्तिका ठीक प्रतीकार प्रत्याघातमें नहीं है, बल्कि सहिष्णुतामें ही है। प्रत्याघात का परिणाम परस्पर हानिकारक ही सिद्ध होता है। इसलिए साधकको ऐसी आपत्तिकी योजनाकी परंपरामें आगे भविष्यमें भी न जुड़ना पड़े, उसे लक्ष्यमें रखकर व्यक्तिपर कभी प्रहार न करे। व्यक्ति तो मात्र निमित्त है। निमित्तका तिरस्कार करना या उसकी शुद्धि करनेकी अपेक्षा उपादानकी शुद्धि करनेका प्रधान, सरल और सच्चा मार्ग है।

इस प्रकार कहता हूं

उपधानश्रुत अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।

चौथा उद्देशक

वीरप्रभुकी तपश्चर्या

साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, अर्थार्जन; या ऐसी ही दूसरी सर्जनात्मक बाह्य प्रवृत्तिओंमें कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें तपश्चरणको अवकाश न हो! परंतु यहां तो जिस तपश्चरणका विधान है वह मुख्यतया आध्यात्मिक विकासका अनुलक्ष्य करके है।

बहिर्भूत–परभावसे होनेवाली क्रियाओंमें चैतन्य की जो शक्तियां बँटकर बिखर जाती हैं उन्हें एकत्रित करना अर्थात् चैतन्यकी बिखरी हुई शक्तिओंको संग्रहीत करके इनका एक प्रखर संचय करनेका नाम तप है। अलग अलग रीतिसे प्रवाहित अनेक नदियोंके जल का संग्रह करनेसे जैसे स्थायी संचय होता है, और बड़ा काम दे सकता है, ऐसे ही चैतन्यकी संग्रहीत शक्ति भी अनन्तगुना काम दे सकती है। अलग अलग

किरणें कुछ काम नहीं कर सकतीं। परंतु जब ये एकत्रित होती हैं तो ज्वलंत शक्ति प्रगट होती है। ऐसे ही चैतन्यकी शक्तिओंके संग्रहसे भी एक अद्वितीय नवचेतन प्रकट होता है। इसलिए किसी भी धर्मकी खोज करोगे तो प्रत्येक धर्मसंस्थापकने तपःशक्तिकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की है यह जाने विना न रहेगा।

परंतु यह संगृहीत शक्ति खोटे मार्गमें बर्बाद न हो जाय–उस बंधे हुए पुश्तेमें छेद या दरार पड़कर पानी न चला जाय किं वा उस विशुद्ध प्रवाहमें दूसरा कोई ऊपरसे, किसी ओर से या नीचेसे अनिष्टतत्व शामिल न हो जाय उसकी संभाल रखनेकी भी आवश्यकता पडती है। इसीसे श्रमण महावीरने अपनी साधनामें तपका स्थान ज्ञान और ध्यान के बाद रक्खा।

जहाँ तक मोहनीयकर्मका जोर है, परपदार्थोंसे दूर रहनेकी क्रिया करते हुए ममता या अहंताका आरोपण हो जाता है 'इसमें सुख है', ऐसी गहरी प्रवृत्ति रहे वहाँ तक आत्मशांतिकी सांधमें लगना केवल मिथ्याप्रयत्न मात्र है। यही समझकर संयम और त्यागसाधन करनेके पश्चात् श्रमण महावीर साढे

बारह वर्ष पंद्रह दिन तक दीर्घतपश्चर्यामें प्रयत्नशील रहे और वे दीर्घतपस्वी कहलाए।+

ज्ञान अर्थात् विवेकबुद्धि अथवा समझशक्ति। संग्रहमें कहीं छेद न पड़े इसकी यह शक्तिकी पूर्ति जितनी सार संभाल रखता है। अर्थात् तपश्चर्या केवल निर्व्याज और निष्काम रहे इसका ये दिन रात ध्यान रक्खा करते हैं; क्योंकि किसी भी क्रियाके करनेके बाद उसके

तपके नाम,+	उनकी संख्या,	उनके कितने दिन	दिनकी संख्या-	तीस दिनके एक महीने के हिसाबसे कितना समय
१. छ मासिक	१		६+३०×१=१८०	
२. छ मासिक पांच दिन कम,	१		६×३०—५=१७५	

×तपका नाम	उनकी संख्या	उनके कितने दिन		३० दिनके एक महीनेकी गिनती से कितना समय रुका		
				वर्ष	मास	दिन
१. छ मासिक	एक	दिवस	६+३१×१=१८०	०	६	०
२. छ मासिक ५ दिन कम	,,		६×३०—५=१७५	०	५	२५
३. ४ मासिक	नौ		४×३०×६=१०८०	३	०	०
४. ३ मासिक	दो		३×३०×२=१८०	०	६	०

फलकी इच्छा मनुष्यमात्रमें रहती है। इतना ही नहीं बल्कि कुछ भी नया देखना चाहेगा अर्थात् मुझे इतना मिले तो ठीक हो ऐसी इसे गहरी स्पृहा—या जिसे जैनपरिभाषामें 'निदान' कहा जाता है—रहा करती है। सामान्यरीतिसे जीवमात्रमें और प्रगटसे मनुष्य मात्रमें यह लालसा अतिस्पष्ट देखी जाती है यह एक वासनाका ही स्वरूप है अथवा इसका दूसरा पहलु पक्ष है, यह कहा जा सकता है। इस स्पृहाके संगसे शक्तिओंके संग्रहमें दरार पड़ता है, अर्थात् यह तपश्चर्या

५. २॥ मासिक	दो	२॥×३०×२=१५०	०	५	०
६. २ मासिक	छ	२×३०×६=३६०	१	०	०
७. १॥ मासिक	दो	१॥+३०×२=९०,	०	३	०
८. मास चमण	बारह	१×३०×१२=३६०,	१	०	०
९. पत्त चमण	बहत्तर	०॥×३०×७२=१०८०,	३	०	०
१०. सर्वतोभद्रप्रतिमा	१	१०दिनकी=१०	०	०	१०
११. महाभद्रप्रतिमा	एक	४ दिनकी=४	०	०	४
१२. अष्टमभक्त	बारह	३×१२=३६	०	१	६
१३. छटभक्त	२२९	२×२२९=४५८,	१	३	८
१४. भद्रप्रतिमा	एक	२ दिनकी=२	०	०	२
१५. दीचाका दिन	एक	१ दिनकी=१	०	०	१
१६. पारणक	३४९	३४९दिवस=३४९	०	११	१९

दिन ४५१५, वर्ष १२ मास ६ दिन १५

"'जैनप्रकाश" 'उत्थान' 'महावीरांकसे', त्रिभुवनदास महता के लेखसे।

अशुद्ध बन जाती है। परंतु ऐसी तुच्छ वृत्ति या जो शल्य–घावकी तरह जीवनके पद पद पर उलझा करते हैं, उन कांटोंको सच्चा ज्ञान निकालकर फेंक देता है, और आत्मविश्वासमें लेशमात्र भी दरार-छेद नहीं पड़ने देता। इस दृष्टिसे ज्ञानकी सर्व प्रथम आवश्यकता है। ज्ञानी साधकको जगतके अभिप्रायकी क्या पड़ी। मात्र उसे तो आत्माकी पर्वाह होती है। इसकी तपश्चर्या अहंताकी वृद्धिकेलिए, गर्वकेलिए, महत्वाकांक्षाकेलिए अथवा लोकपूजा या लोकप्रतिष्ठा के लिए नहीं होती, इसीलिए यह तपश्चर्या आदर्श और सफल मानी जाती है।

तपश्चर्यामें ज्ञानके साथ ध्यानका भी स्थान आवश्यक है। क्योंकि बाहरसे घुसनेवाले विकल्पोंके अनिष्टका चोकी पहरा तो ध्यान ही रख सकता है। सब इंद्रियां, मन, वाणी और कर्मको सत्यपर एकाग्र कर रखनेकी अद्भुत शक्ति भी ध्यान द्वारा ही मिलती है। इसलिए इसढंगसे ज्ञान और ध्यान ये दोनों तपस्वीकेलिए अनिवार्य एवं आवश्यक हैं। जो इन दोनोंको पा लेता है उन्हें इन सब शक्तियोंमें छेद भी नहीं दीखता एवं दुर्व्यय भी नहीं होता और

ध्यानपूर्वक की गई तपश्चर्या केवल आत्मविकासमें सांगोपांग उपयोगी बनी रहती है।

ऐसी तपश्चर्या यानी वह एकप्रकारसे ज्वलंत भट्ठी है। इसमें अनेक जन्मोंके संचित कर्मकाष्ठ क्षणवारमें जलबलकर भस्मीभूत हो जाते हैं। और चैतन्यका अप्रतिहत प्रकाश जीवनके सारे भागमें फैल जानेसे अंधकार दूर होता है।

इसीसे श्रमण महावीरके आयुष्यकालका छठवेंसे भी अधिक विभाग केवल तपश्चर्याकी क्रियाके गोदमें आ जाता है, और इनको साधनाकालका तो यह मुख्य केन्द्र रहा है।

दीर्घतपस्वी महावीर की तपश्चर्याका संबंध सीधी तरह आंतरिक वृत्तिओंके साथ है, यह हेतु बराबर सुरक्षित रहे इसकेलिए तपश्चरणके मुख्य-आंतरिक और बाह्य दो+भेद, और इसके छोटे छोटे अंतर्विभाग सब मिलकर बारहभेद वर्णित हैं।

इन सब भेदोंको इन्होंने अपने जीवनमें किसप्रकार उतारे थे इसका वर्णन करते हुए

गुरुदेव बोले:—

(१) तपस्वी जंबू ! श्रमण भगवान महावीर

+अधिक जानकारीकेलिए श्रीउत्तराध्ययनका ३० वाँ अ० देखें।

रोगोंसे अस्पृश्य और नीरोगी होते हुए अल्पभोजन (मिताहार)करते । प्यारे जंबू ! (वे नैसर्गिक जीवनसे जीवित होनेसे) उनका शरीर नित्यनिरोगी था और रहता था । फिर भी कोई अकस्मात् व्याधि रोग आ पड़े तो भी वे उसका प्रतीकार (दूर करनेके उपाय) करनेकी इच्छा तक नहीं करते थे ।

विशेष—इससूत्रके द्वारा सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि आदमी नीरोग हो तो शरीरका स्वास्थ्य भलेप्रकार टिकाकर रख सके यह इसका कर्तव्य है, और यह भी एक प्रकारकी तपश्चर्या है । यहां यह कहनेका अवसर भी प्राप्त होता है कि कई प्रज्ञसाधकोंको भी पूर्वाध्यासवश स्वादमें रस खोजनेकी और उपभोग करनेकी आदत पड़ी हुई होती है । इन्हें "रसके स्वादमें नहीं परंतु भूख और उपयोगितासे होने वाली चबानेकी क्रियामें है" इतना सतत चिंतन करना चाहिए अन्यथा स्वादसे इंद्रियां उत्तेजित होती है, इतना ही नहीं बल्कि देहको रोगिष्ट भी बनाया जा सकता है । अर्थात् शरीर आत्मसाधनामें मुख्यसाधन होनेसे उसका उसे स्वस्थ रखना, जिसने कर्तव्यधर्म समझा हो उसे स्वादजय और इंद्रियजय इन दो प्रधान अंगोंको सबसे पहले श्रवण करने अवशिष्ट हैं ।

उपरोक्त सूत्रमें सादा और सात्विक भोजन हो उसे भी परिमित या थोड़ा लेना बताया है । अल्प भोजनसे भूख रहती

है, और निर्बलता बढ़ती है, बहुतसे आदमियोंको यह भ्रम है, 'यह वास्तविक नहीं है' इस प्रकार सहज समझमें आ जायगा।

अनुभव भी यही कहता है और शरीरशास्त्रके निष्णात भी ठीक इतिहाससे यही बोलते आए हैं कि जगतकी जितनी प्रजा अधिक खानेसे या स्वादलोलुपतासे रोगिष्ठ होकर असमय मृत्यु पाते हैं उतनी प्रजा आहार न मिलनेसे नहीं मरती। इसबातका न्यून अधिक अनुभव सबको होना स्वाभाविक है। तथापि आजके आदमीने अपने जीवनकी अनेक आवश्यकताएँ और निरर्थक खर्च बढ़ाकर अपनी ही बुद्धिसे अपनेलिए दुःखको निमंत्रित किया है। सूत्रकारके आशयके अनुसार पूर्वाध्यासोंको बदल डालनेसे व्यर्थ व्यय सहज घट जाते हैं। यह भी एक प्रकारकी तपश्चर्या ही गिनी गई है।

कोई यह प्रश्न करे कि अल्पहारसे कभी रोग ही नहीं जाता ? इसका उत्तर वह अपने आप दे देता है और कहता है कि ऐसा कुछ एकांत नहीं है। क्योंकि जीव और कर्मका संबंध केवल वर्तमान क्रियाके साथ नहीं है। परापूर्वसे चली आने वाली भूलें कर्मोंसे भी रोगोंका उत्पन्न होना सम्भव ही है। यह स्मृतिपथमें रखना चाहिए। इससे हमारे यहाँ कर्मके सिद्धांतका जो दुरुपयोग होता है इसका निवारण मिल रहा है। फिर कई बार ऐसा भी होता है, कि आदमीको बुद्धि तथा पुरुषार्थ जैसे उसे उत्तम तत्त्व मिलनेपर भी वह आलसी

हो जाता है और अपनी इस प्रत्यक्ष भूलको न देखकर पूर्व कर्मोंपर दोषारोपण करता है, यह भी अवास्तविक है। सारांश यह है कि वर्तमान क्रियाकी पूर्ण शुद्धि करना आदमी की शक्तिका काम हैं। यह अपनी विवेकबुद्धिसे गले उतारकर सब क्रियाएँ संयमपूर्वक करे। इतनेपर भी यदि कोई आकस्मिक आपत्ति, पीड़ा या रोग आ पड़े तो वहां इसे पूर्वकर्मों का परिणाम मानकर अपनी भूमिकाकेलिए उचित शुद्ध पुरुषार्थ करे। आशय यह है कि उस समय भी अपनी शांतिको न गवाँकर और उसे अखंड रखनेका प्रयत्न करे।

कर्मोका परिणाम भोगना सबकेलिए अनिवार्य है, ऐसा उन्हें सतत भान रहनेसे श्रमण महावीर प्रत्येक क्रियामें सहज-भावमें रहते थे। इनकी तपश्चर्यामें भी यही भाव था। इस आशयको अधिक स्पष्ट करते हुए अगले सूत्रमें कहते है।

(२) मोक्षार्थी जंबू ! वे तपस्वी प्रतीकारवृत्तिसे पर हो कर रहनेसे उन्हें रोगोंकी चिकित्सारूप विरेचन, वमन तथा तेलमर्दन या शरीरशुश्रूषाकेलिए स्नान, पगचंपी या दांतनकी आवश्यकता नहीं रहती थी।

विशेष—इन दोनों सूत्रोंसे यह सिद्ध हुआ कि जहां प्रतीकारवृत्ति है वहीं प्रतीकारके उपायोंकी आवश्यकता है और इस दशामें उपायोंको योजना करना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु जैनदर्शन तो निसर्गदर्शन होनेसे यह कहता है, कि किसी भी क्रियाका प्रतीकार करनेका या निवारण करनेका उपाय ही नहीं है।

चिकित्सक भी यही कहते हैं कि—औषधकी योजना रोग के मिटानेकेलिए एक प्रतीकारकके रूपमें की गई है यह सामान्यतया ठीक है, परन्तु वास्तविकरीतिसे इस प्रकार नहीं है। बढ़ते हुए रोगको रोक देना ही औषधका कार्य है, रोगके मिटानेकी शक्ति तो (निसर्गके हाथ ही हैं,) रोगीके हाथमें ही है। रोगीको पथ्य पालनेकेलिए कहा जाता है इसके भीतर यही हेतु है। पथ्यका पालन करना अर्थात् निसर्गशक्तिको काम करने देनेको अवकाश देना। इससे इतना तो स्पष्ट समझा जायगा कि जिसकी क्रियामें सहजता बरती जाती है उसके लिए प्रतीकारके उपायोंकी लेशमात्र आवश्यकता नहीं है। परंतु जिसकी वृत्तिमें प्रतीकारक भावना है और वह भावना वृत्तिसे दूर कर डालने जितनी जिसने अब तक शक्ति भी ठीक नहीं प्राप्त की उसे तो विवेकबुद्धिपूर्वक शुद्ध उपचारके अर्थ पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।

इस सूत्रमें तो सूत्रकारने श्रमण महावीरकी वृत्ति देहरोग के प्रतीकारसे और देहशुश्रूषाके भानसे पर कैसे रहती थी इस के रहस्यको खोलकर बता दिया है। जैसे कि खाना, पीना, यह देहधारीका सहजप्राप्त धर्म है, इसी तरह इन्द्रियोंका विषयोंमें लगना भी इन्द्रियोंका धर्म है, ऐसे भ्रमका इसमें निराकरण किया गया है।

इन्द्रियां यही चाहती हैं, परन्तु इनकी यह इच्छा स्वस्वभावजन्य नहीं है। यह तो मात्र टेवको लेकर उत्पन्न हुई है। वृत्तिके पूर्वाध्यासोंके लिए निमित्त मिलते ही उनका आवेश

भी होता देखा गया है। परन्तु यह आवेग या विलासकी अपेक्षा इन्द्रियसंयमका मार्ग विकट लगता है और इस मार्गमें अल्पसंख्यक ही लग सकते हैं। परन्तु फिर भी वह अशक्य नहीं है, और सवेर या देरसे उसमार्गमें लगे विना चिरंतन शांति भी नहीं, इस प्रकार श्रमण महावीरका जीवन भारपूर्वक कहता है।

(३) आत्मलक्ष्मी जंबू! वे श्रमण इंद्रियोंके धर्मोंसे—विषयोंसे विरक्त रहते और अल्पभाषी होकर विचरते थे।

विशेष—इस सूत्रमें मौनका भी अधिक महत्व अंकित किया है, और वह वास्तविक है। मौनका व्यापक अर्थ तो सीधा मनके संयम तक पहुंचता है। परन्तु यहां इसकी मर्यादा वाणीसंयम तक है। साधककी शक्तिका अधिकांश भाग केवल वाणी द्वारा ही व्यर्थ नष्ट हो जाता है, अर्थात् विना कारण भी चाहे जब चाहे जहाँ बोलना ही चाहिए ऐसी टेव डालना योग्य नहीं है। वाचामें जो अलौकिक शक्ति और अद्भुत चमत्कार है वह वाणीके दुर्व्ययसे शीघ्र नष्ट हो जाता है। परन्तु वाणीका संयम रखना 'केवल मीठा बन जाना' कोई यह उलटा अर्थ न ले डाले! विशेष प्रसङ्ग पड़े तब ही मृदु, मिष्ट, परिमित और सत्य बोलनेका प्रयत्न करे, यही कथिताशय है। परंतु जिसे बाचालताका अधिक अभ्यास हो जाता है, उसमें इतनी विवेकबुद्धि होना अशक्य है। इसलिए इन्हें वाणी का मौन भी हितावह है।

(४) प्रिय जंबू ! उस तपस्वीने अपना देह इतना अधिक ऋतुसहिष्णु बना दिया था कि वे शरदऋतुमें शीतल छायाके नीचे, और गर्मीकी ऋतुमें खुले तापमें भी उत्कटुक (उकडु रखकर) आसनसे बैठकर ध्यान कर सकते थे ।

विशेष—उकडु आसन अर्थात् दोनों पैरों पर दो हाथकी कुहनीओंको टेककर इन दोनों हाथकी अंजलि मस्तकके पास लेकर जोड़े रखना है । इस आसनका गुरुके पास बैठते समय विशेष उपयोग होता है । यह सूत्र कहता है, कि ध्यानमें भी आसनोंकी आवश्यकता महत्त्वकी वस्तु है । आसनोंसे देहकी अडोलता ठीक प्रकारसे टिक सकती है और देह तथा इन्द्रियाँ दोनों चित्तको एकाग्रतामें सहायक होते हैं । इसीसे आसनको भी योगका अंग गिना गया है ।

पहले तीन सूत्रोंमें इन्द्रियोंका संयम और वृत्तिनिरोधकी बात कहकर यमनियमका प्रतिपादन किया है । यहां आसनों की आवश्यकता समझाई है । परन्तु यहाँ इतना स्मरण रहे कि जो आसन शरीरको अतिकष्ट देता हो ऐसे आसनकी ध्यान-केलिए जरा भी आवश्यकता नहीं है । उकडुआसन बहुत ही सरल और सुसाध्य होनेसे उसे यहां उत्कृष्ट स्थान है । इसी रीतिसे पद्मासन, सुखासन, गोदोहिकासन, आदि आसन भी जैनदर्शनके व्यापक आसन हैं । इतना ही नहीं बल्कि इसको बाह्यतपश्चर्यामें भी स्थान प्राप्त है ।

(५) अप्रमत्त जंबू ! यह तपस्वी महावीर जब क्षुधा लगती तब, या जब तपश्चर्याका पारणक होता तब, मात्र शरीरके निर्वाहकेअर्थ भिक्षाकेलिए जाते, और कईबार तो मात्र रूखा भात, कुटे हुए बेरोंका चूर्ण और उडदका आहार पाकर उसमें निर्वाह कर लेते। इसप्रकार भगवान्ने इन तीनों वस्तुओं पर ही निरंतर आठ महीने बिता दिए।

विशेष—भूखको मिटानेकेलिए भोजन उपयोगी है, और जीवनकेलिए पदार्थ है। पदार्थकेलिए जीवन नहीं है। जिस साधकको सतत इतना उपयोग होता है वह स्वाद पर विजय अवश्य प्राप्त कर सकता है। इस सूत्रमें श्रमण महावीर ने स्वाद पर कितना प्रबल विजय पा लिया था इसका अनुभव-पूर्ण प्रमाण है। वे आठ आठ मास तक रूखा भात, बेरोंका चूर्ण या बेरकुट तथा उडदकी बाकलियों पर जीवननिर्वाह करते रहे। और यह भी कड़ाकेकी भूख लगने पर ही। यह घटना इनके शरीरस्थितिकी सहजता और निर्मोहकताको भी स्पष्ट करती है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन करते हुए उस समय लोगों में भात, बेरकुट और उडदकी बाकलियोंका रिवाज अधिक प्रमाणमें प्रचलित रहा लगता है। इससे यह सहज प्राप्त होना शक्य होनेसे श्रमण महावीरको यही वस्तु मिले, और इसीसे

क्षुधातृप्ति कर लें, यह उस समय इनकेलिए बिल्कुल स्वाभाविक था।

यहाँ जीवनपोषकतत्वका प्रश्न उपस्थित होता है। परंतु यह स्मरण रहे कि ऊपर दिखाए हुए रसाल पदार्थोंके साथ ही जीवनपोषकतत्वोंका सम्बन्ध नहीं है। बहुतसे पदार्थ खाने में नीरस लगते हैं तो भी उनमें जीवनपोषकतत्व अधिक प्रमाणमें होता है। उपरोक्त तीनों वस्तुओंके संबंधमें भी यही बात है। इन तीनोंमें रसमाधुर्य न दिखता हो तो भी जीवनपोषकतत्व तो पर्याप्त प्रमाणमें है ही। और रसके सम्बन्धमें तो ऐसा है कि जिसे सच्चे रसकी प्रतीति हो गई है वह रूखे सूखे दिखने वाले पदार्थोंमें भी रस ले सकता है। यही नहीं बल्कि इसे तो रसाल पदार्थ भी नीरस सिद्ध होता है। जीभकी अमीके साथ मिला हुआ रूखा आहार भी जो रसानंद उत्पन्न करता है और रसार्पण करता है, वह रस कृत्रिम स्वाद या कृत्रिम रससे तर किया हुआ भोजन नहीं उत्पन्न कर सकता या अर्पण कर सकता, ऐसा अनुभव किसे न होगा?

फिर भी पीछेसे इससूत्रके अंतके अंशमें जो कालमर्यादा है उसके आधार पर सूत्रकार यह भी कह देते हैं कि इसप्रकार का आहार ही लेनेका इनका कोई ऐसा आग्रह न था। जहाँ आग्रह है; वहाँ सहजताका लोप हो जाता है। इसलिए आठ महीने तक और वह भी ऐसे प्रसंगका अनुसरण करके ही यह प्रयोग उनके जीवनमें हुआ था। बाकी उनकी साधनाका बहुभाग निरंतर तपश्चर्याका ही रहा है। इनकी तपश्चर्या भी

सहजतपश्चर्या थी। सहजतपश्चर्या वह है जिसका स्वयं त्याग किया है ऐसे आहारमें मन तक न जा पाता हो और स्वाध्याय या ध्यानमें अडोल एकतार रहता हो। ये उपवास, ऊनोदर, स्वादत्याग इत्यादि बाहरकी तपश्चर्याएँ ही हैं। ये स्वयं तपश्चर्या नहीं, बल्कि तपश्चर्याके साधन मात्र हैं। और ये साधन भी इसीलिए आवश्यक हैं कि देहकी नित्य नैमित्तिक क्रिया जितनी अल्प होती है उतनी वृत्तिनिरोधके प्रयोगमें अनुकूलता होती है। यह सदैव सब स्मृत्तिपथमें रक्खें ।

(६) मोक्षार्थी जंबू : दीर्घतपस्वी महावीर कईबार एक दम पंद्रहपंद्रह उपवास, मासक्षमण (महीनों तकके उपवास) तथा दोदो महीने और छछ महीने तक अन्न पानी दोनोंका त्याग करके (अर्थात् चोविहार उपवास करके) दिनरात निरीह (भोजनादिकी इच्छारहित) तथा अप्रमत्त होकर विचरते थे। एवं दो दो, तीन तीन, चारचार उपवासके पारणक पर भी जब अन्न-पानी लेते, तब ये केवल निरासक्तभावसे शरीर, समाधि टिकाए रखनेकेलिए (ही लेते रहनेसे मध्यम और) सादा ही आहार लेते ।

विशेष—पहलेके सूत्रमें मिताहार, ऊनोदर यानी अल्पाहार और स्वादपर विजय पानेकी बात थी। अब यहाँ उपवासकी बात है। और सार यह है कि उपवास आकस्मिक वस्तु नहीं है, बल्कि प्रयोगसाध्य सहजतपश्चर्या है। उपवास

किया जाय तब ही तपश्चर्या कहलाती है ऐसी मान्यता सर्वांगसत्य नहीं है। इतने मात्रसे यह स्पष्ट समझा जायगा।

फिर वे छ छ महीनेके लंबे काल तकके उपवासके पश्चात् भी पारणकमें नित्यनियमके अनुसार सहज, सात्विक और सादा आहार लेते यह कहकर यहां सूत्रकार यह भी कह देते हैं कि उनके इतने लंबे समयके उपवास भी सहजरूप थे। इतने लंबे कालतक उपवास करनेका क्या कारण? ऐसे प्रश्नका उत्तर भी यही है कि जहाँ सहजता होती है वहां करना न हो तब भी हो जाता है। हम जब अपनी इष्टवस्तुको पानेका प्रयत्न करते हों तब क्षुधा, तृषा तो क्या शारीरिक आवश्यकताएँ भी कई बार विस्मृत कर देते हैं। और जहां क्रियामें चित्त ओतप्रोत हो गया कि वहां समयका भी भान नहीं रहता। यह अनुभव किसे नहीं है?

सहज तपश्चर्याका फल कर्मकी निर्जराके रूपमें परिणमित होता है। तपश्चर्याका हेतु भौतिक हेतु नहीं होता, और भौतिकहेतुपूर्वक जो तपश्चर्या की जाती है वह सहज या सफल तपश्चर्या नहीं गिनी जाती। सारांश यह है कि सहज-तपश्चर्या द्वारा ही आत्मशुद्धि आत्मसंतोष दोनों प्राप्त होते हैं। और श्रमण महावीरने इसका अनुभव किया था।

(७) आत्मलक्ष्मी जंबू! इसतरह देहादि संयोग तथा कर्मका यथार्थ स्वरूप जाननेके पश्चात् वे महावीर स्वयं पाप कर्म न करते थे, न करवाते थे और करनेवालेको अनुमोदन तक नहीं देते थे।

विशेष—परंतु जहां तक सहज तपश्चर्या न हो वहाँ तक कुछ न करे शायद ऐसा कोई उलटा अर्थ न ले बैठे ? इसलिए यहां सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि जिसे यथार्थज्ञान हो गया है या यथार्थज्ञान संपादन करनेकी सच्ची जिज्ञासा है, उसके लिए आध्यात्मिकतप अनिवार्य है। इतना ही नहीं बल्कि उसे वह प्रिय भी लगता है। इसलिए आदमी स्वयं चाहे या नहीं तो भी उसके द्वारा तप किये बिना रहा नहीं जाता। फिर चाहे वह तप बाह्य हो, व्यवस्थित न दीख पड़ता हो, तब भी वह तप तो है ही।

सारांश यह है कि यथार्थ भान पहले होनेपर भी तप होता है, और पीछे भी होता है। पहले तो तप होता है वह कृतिसाध्य और प्रेरणाजन्य होता है। फिर वह आगे चलकर सहजसाध्य और स्वभावजन्य हो जाता है। पहले तपको संयम और बादके तपको आध्यात्मिक तपके रूपमें पहचाना जाता है।

(८) आत्मरसके रसिक शिष्य ! श्रमण महावीर गाँवमें या नगरमें जा कर दूसरेकेलिए तैयार किया गया आहार (यदि उस दाताको संयमी भावनापूर्वक देनेकी इच्छा हो तब हो) ग्रहण करते और इसरीतिसे विशुद्ध भिक्षा प्राप्त करके नीराग वृत्तिसे (संयमके हेतुपूर्वक) उसका उपयोग करते थे।

विशेष—विशुद्ध भोजनका मन पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है और श्रमण महावीर जैसोंको भी साधकदशामें उसकी

अनिवार्य आवश्यकता हो, इस बातसे इतना समझा जाता है कि विशुद्धभिक्षा प्राप्त करनेमें जिननियमोंकी जरूरत है, उसे हेतुपूर्वक समझकर उसका विवेकपूर्वक आचरणकरना उचित है।

यद्यपि यहाँ आठवें सूत्रसे तो मात्र इतना ही जाननेको मिलता है कि भिक्षा(गोचरवृत्ति)वही कहलाती है कि जो अन्न पानी गृहस्थने अपनेलिए तैयार किया है फिर उसमेंसे स्वयं अमुक संयम करके भावनापूर्वक भिक्षुको दे। ऐसा संयम और भावना प्रत्येक गृहस्थके लिए सुलभ नहीं है। और इसीकारण भिक्षा प्राप्त करना दुर्लभ है यह अनुभवी जनोंका अनुभव यथार्थ है। भिक्षा पानेकेलिए भिक्षुको इतना देखना तो मुख्य है। बाकी अपनेलिए उसमें पथ्य क्या है ? देनेवाला संयम-भावनासे देता है या उसके पीछे कोई, दूसरा आशय है ? देनेवालेको भिक्षा दे चुकनेके पश्चात् कष्ट तो न होगा ? यदि देनेवाला भिक्षा देते हुए दूसरे किसी सूक्ष्मजीवोंको पीड़ित तो नहीं कर रहा है ? इत्यादि विषयोंको भी भिक्षा ग्रहण करते समय ज्ञातव्य आचरण करने योग्य समझना चाहिए।×

(९) प्रिय अप्रमत्तशिष्य ! वे भगवान भिक्षाके अर्थ जाते समय मार्गमें भूखे कव्वे या कबूतर आदि पक्षीचुग्गा चुगते हों या दूसरे प्राणी कुछ खातेपीते हों तो उनके काममें भंग न पड़े इसप्रकार शनैः शनैः

×विशेष बातें जाननेकेलिए दशवैकालिकसूत्रका पाँचवाँ अध्ययन देखें।

चलते अथवा उसमार्गको छोड़कर या वह घर छोड़कर दूसरे स्थलपर चले जाते ।

विशेष—नौवें सूत्रमें भिक्षाके लिए जाते हुए या वापस आतेसमय मार्गमें भी ये श्रमण कितने सावचेत रहते थे इसका स्वरूप दर्शाया है; और यह प्रत्येक साधकके लिए विचारणीय है। अप्रमत्त साधकको प्रत्येक क्रियामें इतना जागृत होना चाहिए ।

(१०) विवेकी जंबू ! ये श्रमण महावीर भिक्षा-केलिए किसी गृहस्थके घर प्रवेश करते समय यदि वहां कोई दूसरे ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चंडाल, बिल्लो, या कुत्तेको आगे या पीछे आया हुआ देखते अथवा उसे खाना पीना पाते हुए देखते, तो वे उसकी क्रियामें लेशमात्र भी विक्षेप न होने देते या उस पर द्वेष भी न करते, बल्कि उसी समय किसी को थोड़ी सी भी अन्तराय न हो इस विचारसे वहां से वे दूर चले जाते इसरीतिसे वे छोटे बड़े किसी जीवको अपने निमित्त लेशमात्र भी दुःख उत्पन्न न हो ऐसा लक्ष्य रखते ।

विशेष—जब दूसरे भिक्षार्थी भिक्षा लेते हों तब उनकी दृष्टि या दाता की दृष्टि पड़नेसे इन भिक्षार्थियोंको दुःख हो अथवा दाता जिसे दे रहा हो उसे कम दे आदि अनेक दोषोंका

संभव होनेसे वहां ऐसे प्रसंगमें भिक्षुको भिक्षाके लिए खड़ा रहना या पानेका प्रयत्न करना इष्ट नहीं यहां सूत्रकारका आशय यही कहने का है ।

इससूत्रमें जीवनव्यापी अहिंसाका सुन्दर चित्रण किया है । किसीका प्रत्यक्ष या परोक्षतासे मन दुखाना या किसीका मन दुख पावे ऐसा निमित्त बनना भी हिंसा है । फिर चाहे यह अज्ञानतासे हो या लापर्वाहीसे हो ! कई वार कर्मवादके अजाड़ सिद्धांतको बहुतसे साधक विकृत स्वरूपमें प्रस्तुत करते हैं । अपने उपेक्षाभावसे-अपने निमित्तसे दूसरेको हानि पहुंची हो, पहुंचती हो, या पहुंचनेवाली हो यह जानते हुए "यह जाने इसका कर्म जाने" यह कहकर अपने कर्तव्यको चूक जाते हैं । प्रज्ञ और विवेकी साधक ऐसा कभी नहीं करता यह श्रमण महारथीकी उपरोक्त प्रदर्शित साधुतासे स्पष्ट हो जाता है ।

(११) मुमुक्षु जंबू ! सुन, प्राप्त भिक्षाका आहार भीगा हुआ हो, सूखा हो, ठंडा हो, बहुत दिनके उड़दोंका, पुराने अनाजक या जौं आदि नोरस धान्यका हो तो भी श्रीश्रमण महावीर, उसे समभावसे (प्रेम-पूर्वक) उपयोगमें लेते और शायद कभी भिक्षाकेलिए अधिक भ्रमण करते हुए कुछ न मिलता तो भी वे उसे सहजतपश्चर्या मानकर मस्त रहते । सारांश यह है कि इस श्रमणकी मोक्षमार्गाभिमुखप्रवृत्ति रहा करती ।

विशेष—बहुतसे साधकोंको अपने जीवनमें प्रतिपल यह प्रश्न विस्मित करता रहता हो उसको इसमें सुलझाया गया है।

कई आदमी केवल पुरुषार्थको माननेवाले और कई केवल प्रारब्धको माननेवाले इसप्रकार मानवसमुदायके दो वर्ग विश्व में बहुधा देखे जाते हैं। श्रमण महावीरके जीवनमें एकान्त-पुरुषार्थ या एकान्तप्रारब्धको भी स्थान न था, बल्कि इनदोनों का साहचर्यसे भरा पूरा स्थान मिला रहता है।

नैसर्गिक जीवन बिताना अर्थात् केवल प्रारब्ध पर निर्भर रहनेका बहुतसे लोगोंको भ्रम होता है। यह भ्रम मिटाना ही उचित है। नैसर्गिक जीवन वितानेवाला तो प्रबल पुरुषार्थी होता है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि पुरुषार्थ प्रबल होते हुए वस्तुके प्राप्त होनेका योग न मिले तो भी उसे सकारण मानकर औरोंकी भांति अपनी चित्तशांतिको नहीं गवां बैठता।

(१२) प्रिय साधक शिष्य! फिर वे श्रमण महावीर उत्कटुक-उकडुआसन, गोदोहिक आसन (गाय-को दुहने के समयका आसन) तथा वीरासन आदि आसनों को साधकर उन आसनों पर स्थिर होकर तथा समाधिवान बनकर (अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक) ध्यानमें लीन हो जाते और उस अवस्थामें ऊर्ध्वलोक,

अधोलोक और तिर्छेलोक अर्थात् तीनों लोकका स्वरूप विचारने लगते ।

विशेष—यहाँ ध्यानस्थ साधककेलिए आसनोंकी जरूरत तथा ध्यानका हेतु चित्तसमाधिको सुरक्षित रखनेका स्वरूप बताया है । और चित्तशुद्धिके विना चित्तसमाधि या ध्यानका स्थिर होना असंभव है यह भी दर्शाया है । चित्तकी शुद्धि कैसे हो इसके आकार तथा प्र कार आगेसे ही बताए हैं इसलिए इतना विचारनेके पश्चात् ही ध्याता बननेवाले साधकको योग्यमार्गमें प्रवेश करना उचित होगा ।

पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानमें से यहाँ उच्चकोटिके ध्यानकी बात है । जैनदर्शनमें ऐसे ध्यानको धर्म-ध्यान कहा है और वहीं से इस ध्यानका प्रारंभ माना है । परंतु ये ध्यान मानवता, श्रवण,विचार,ज्ञान,चिंतन और मंथन करने के बाद ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इतनी योग्यता सबसे पहले प्राप्त करनी चाहिए । इस योग्यताको पाये विना धारण किया हुआ ध्यान विकासका साधक सिद्ध नहीं होता ।

जहाँ संयम नहीं है वहां ज्ञान नहीं तब वहां ध्यान कैसा ? प्रत्येक क्रियाके पीछे सबसे पहले आंतरिक विकास होना चाहिए यह जैनदर्शनका मंतव्य है । बाहरका साधन विकास होनेके पश्चात् स्वयं आंतरिक विकास हो सकता है ऐसा कई दर्शन, मत या पंथोंका मत है, उन्हें यह स्वीकार्य

नहीं मानता। जैन दर्शनमें* योगका प्रारंभ इसरीतिकी विकासमय दृष्टिसे होता है।

जैनदर्शन मन, वाणी और कायाकी एकवाक्यताको योग मानता है। मन, वाणी और कर्ममें एकवाक्यता आनेसे धीरे धीरे चित्तके संस्कार वक्रतासे हटकर सरल होते हैं। ऐसी सरलतासे चित्तशुद्धि सहज हो जाती है। और चित्तशुद्ध होने के पश्चात् चित्तशान्ति पानेकी जिज्ञासाका प्रयोग आरंभ होता है। इस स्थिति या इस भूमिकाको जैनपरिभाषाके अनुसार उपयोगमय जीवनदशा कहा जाता है। इसप्रकार क्रमिकविकास होनेपर जब ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीन केवल आत्मभाव में एकाग्र हो जाते हैं, तब इसे आदर्शके रूपमें पहचाना जाता है। यह ध्यान ही धर्मध्यान है।

अप्रमत्तदशाके बादका सहजध्यान ही शुक्लध्यान और उसका आलंबन धर्मध्यान है। परंतु धर्मध्यान स्वयं किसीका अवलंबन नहीं लेता। रूपातीत परमात्माका या उनके उच्च-

---

*यहां किसीको जैनदर्शनमें योगका समावेश है या नहीं ऐसी शंका करनेका कारण नहीं है, क्योंकि जैनदर्शनने तो योग के ऊपर यहीं तक भार दिया है या किसी भी मुमुक्षुओंकी प्रवृत्ति आत्मचिंतन-योगके सिवाय होती ही नहीं। यहां इतना और स्मरण रहे कि जैनदर्शनमें इसका निर्देश योग शब्दसे नहीं बल्कि ध्यान शब्दसे किया है।

देखो:—ठाणांग, समवायांग, भगवती, तत्वार्थाधिगम, इत्यादि सूत्र तथा श्रीहरिभद्रसूरि तथा श्रीमान हेमचद्राचार्यकृत योग विषयक स्वतंत्र ग्रन्थ।

गुणोंका ध्यान करना ही धर्मध्यान है ।+ और यही विकास में उपयोगी है। ध्यानस्थ महावीर लोकस्वरूपका विचार करते थे, ऐसा जो यहाँ भाव प्रदर्शित किया है, उसके पीछे भी यही आशय है। यहां ध्यान और प्रचलित योगके संबंधमें कुछ विचार करना प्रसंगोचित लगता है।

महर्षि पतंजलिप्रणीत पातंजलयोगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ऐसी अष्टांगयोग प्रणालिका दृष्टिगत होती है। और चित्तवृत्ति का निरोध इस योगप्रणालिकाका ध्येय है।

इसके पश्चात् यह योग दो भागोंमें विभक्त हो गया है। (१) हठयोग और (२) राजयोग। हठयोगमें आसन और शरीरकी आंतरशुद्धिकी क्रियाओंको बड़े ही महत्वका स्थान प्राप्त है। बात तो यह है कि शरीरकी आंतरशुद्धि पर, नाडीशुद्धि पर शुद्धवायुसंचार और प्राणवायुकी शुद्धिपर मनःशुद्धि होनेके पश्चात् ही चित्तवृत्तिका निरोध होता है जो कि योगकी प्रणालिकाका प्रधान ध्येय है। परंतु पीछेसे इनकी साधनभूत क्रियाओं पर मात्र महत्व ही नहीं बल्कि हठसे पकड़ाया गया है। जितने अंशमें यह हठयोग हुआ है उतने ही अंशमें इसका ध्येय भी बदला है, और हठका प्रयोग मानो केवल भौतिक हेतुके लिए ही बन गया है।

+धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लगाकर ठेठ बारहवें गुणस्थान तक होता है और शुक्लध्यान आठवें गुणस्थानसे लगाकर चौदहवें गुणस्थान तक पायाजाता है।

हिप्नोटीज्म, मेसमेरीज्म और ऐसे ही वाह्य मानसशक्ति के प्रयोग या उच्चाटन,मारण,मोहन और ऐसी हल्की शक्तियोंका विकास तथा तंत्र, मंत्र और यंत्रोंको उपासना आदि ये सब योगकी विकृतिके अंग हैं।

राजयोग विकृतिसे दूर रहता है। आंतरिक शक्तियोंके विकासकी ओर उसका प्रधान झुकाव है। चित्तवृत्तिके निरोध से आंतरिक शक्तियां विकासको पाती हैं। अणिमा, लघिमा, गरिमादि आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं। तथा ऋद्धि और समृद्धि भी पैरोंमें लोटती हैं। तो भी वह प्रलोभनमें न आकर केवल आत्मलक्ष्यी रहनेकी सिफारिश राजयोग ही करता है। और जिस योगीकी वृत्ति भौतिकप्रलोभनमें प्रेरित नहीं होती उसे युक्तयोगी तथा जिस योगीकी वृत्ति प्रेर्यमाण होतेहुए उसकी प्रवृत्तिमें पड़नेसे पहले जो तुरंत सावधान हो जाता है अर्थात् केवल आत्मलक्ष्यो रहता है उसे युंजानयोगी कहते हैं।+

जैनदर्शनकी योगप्रणालिका इससे कुछ अलग तरहकी है। इसका आधार केवल आंतरिक विकास पर है। इसने बाहरके साधनोंको तो अत्यन्त गौण स्वरूप दिया है। प्राण शुद्धिकेलिए शरीरकी आंतरिक शुद्धि आवश्यक ही है, इसका

+इस प्रणालिकाके अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रको युक्तयोगी और श्रीरामचन्द्रजीको युंजानयोगीके रूपमें वर्णन किया है। देखो नव्यन्यायकी कारिकावली।

ऐसा आग्रह नहीं है। परंतु तत्वको वह स्वतंत्रतत्व मानता है; यह भी नहीं मानता। प्राणोंको तो मात्र चेतनके शरीरमें अभिव्यक्त होनेवाली शक्तिरूप मानता है, और वह शक्ति मन, वचन, क्रिया, इंद्रियाँ, आयुष्य और श्वासोच्छ्वासमें भी काम करती हैं ऐसा कहते हैं। जैनदर्शन जैसे प्राणको स्वतंत्र तत्व नहीं मानता वैसे मन और चित्त अलग हैं; अंत:करणके दो विभाग हैं ऐसा भी नहीं मानता। जैनदर्शन मन, चित्त और अंत:करणको मात्र एक ही शक्तिसूचक पर्यायवाचक शब्द स्वीकार करता है। अर्थात् प्राणका आयाम तथा मनका प्राणों के साथ नियमन ऐसे जो प्राणायाम और प्रत्याहार नामके दो अंग योगदर्शनप्रणालिकामें नजर आते हैं वे जैनदृष्टिसे अलग होकर विरम जाते हैं। +और इसीलिए नवली या ऐसी

+वेदधर्ममें भी प्राचीनताकी दृष्टिसे खोज करें तो "प्राणायाम और प्रत्याहार ये अंग नहीं मिलते हैं। प्राचीन उपनिषद् जैसे कि तैत्तिरीय, श्वेतेश्वतर, छांदोग्य इत्यादिमें योग और ध्यान शब्द दृष्टिपथमें आते हैं। प्राणायाम और प्रत्याहार शब्द नहीं देखे गये। और उपनिषदोंसे भी अधिक प्राचीन साहित्यमें देखा जाय तो योग शब्दका निर्देश भी क्वचित ही दीख पड़ेगा। ऋग्वेदकी ऋचाओंमें ध्यानशब्दका निर्देश है, योगका नहीं। बौद्धदर्शनमें तो योगशब्दका निर्देश ही नहीं है। ध्यान और समाधि शब्द अलबत्ता देखे जाते हैं। और उनकी प्रणालिका भी अधिकांश जैनदर्शनकी प्राच्य प्रणालिकाके अनुरूप है। यहां विस्तारभयसे नहीं बताये जा रहे। जिज्ञासुवर्ग मज्झिमनिकाय, बुद्धलीलासारसंग्रह तथा दीघनिकाय, सामञ्ञफल इत्यादि स्थलों पर यह प्रकरण देखें।"

ही एक भी हठयोगकी प्रक्रियाको यहाँ स्थान नहीं दिया है। इस स्थलपर तो इतना ही कहना चाहिए कि जैनदर्शन आंतरिक और वाह्य मनके भी दो भागों की कल्पना करता है। ये चारों नाम इस प्रकार हैं। (१) निवृत, (२)उपकरण (३) लब्धी,(४)उपयोग। परंतु ये सब विभाग मात्र कार्यकेलिए हैं, पृथक्तत्वकेरूपसे नहीं। जैनदर्शनके ध्यान और योगदर्शन के योगके बीच मात्र इतना ही प्रेणालिका भेद है यहो, नहीं बल्कि इन दोनोंमें ध्येयका अंतर भी है। योगदर्शनके योगका ध्येय चित्त और वृत्तिके निरोध(की पूर्ति करने)जितना ही है। परंतु जैनदर्शनकी योगप्रणालिकाका ध्येय मात्र चित्तवृत्ति का निरोध करके ही चैन नहीं लेता। चित्तवृत्तिका निरोध होनेके बाद भी ठेठ चित्तवृत्तिके मूलभूत कारण और उनका नाश करके आत्मस्वरूपी पूर्णता और वीतरागभावको पराकाष्ठा तक पहुंचना इसका अंतिम ध्येय है। इससे जैनदर्शन को सहजयोग मान्य है। वह दूसरे बाह्य झगड़ोंमें अधिक माथा नहीं मारता। बाह्य शक्तियां चाहे जितनी ऊँची, उपकारक या जगत्कल्याणके हेतुरूप लगती हों तो भो उनका आदर नहीं किया जाता। ये तो आध्यात्मिक विकासमें जगत शांतिका मूल देखते हैं, और निखिलविश्वका संपूर्ण ज्ञान भी आध्यात्मिकज्ञानके अनन्तर अपनेमेंसे ही उत्पन्न होता है ऐसा इनका दृढ़ विश्वास है। इसलिए जैनदृष्टिके योगमें केवल आत्मलक्ष्य अभीप्सित है। किसी भी प्रकारके यंत्र, मंत्र, तंत्र, ऋद्धि, संपत्ति, सिद्धि या समृद्धिके जालमें वह जीवनकी

साधना बिगाड़ना या फँसाना नहीं चाहता। और जो कर्मकांड आंतरिक विकासमें उपयोगी नहीं होते उन्हें यह केवल ढोंग, पाखंड और नरक परिणामी मानता है। इससूत्रमें श्रमण महावीरके जिस ध्यानका निर्देश है, यह ध्यानका ध्येय और इसकी साधनप्रणालिका संबंधी इतना सारभूत कथन है।

(१३) मोक्षार्थी जंबू! इसरीतिसे ये दीर्घतपस्वी और महायोगी कषायरहित तथा आसक्तिरहित बनने से शब्दादि (इंद्रियभोग्य) विषय इन्हें सहज भी भुलावें में या प्रलोभनके चक्करमें नहीं डाल सकते थे। ये श्रमण सदैव आत्मध्यानमें मगन रहते थे और इसप्रकार छद्मस्थ-अवस्थामें (अर्थात् साधकस्थितिमें), भी कर्म स्तर दूर करनेकेलिए उन्होंने अतिप्रबल पुरुषार्थ कर बताया था। वे किसी भी समय प्रमादके जालमें न फँसते थे।

विशेष—साधकको मूल पायेसे लगाकर अंत तक सावधान रहना चाहिए। पाया सुदृढ और सुस्थिर हो, तो सारा मंडाण निर्भय होता है।

(१४) ब्रह्मप्रयासु जंबू! इसप्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वयं (अपने आप ही) आत्मयोगमें लगकर आत्मशुद्धिको प्राप्त हुए और इसीसे साधनाके अंततक सत्प्रवृत्तिवान होते हुए अमायावी रह सके,

और अंतमें साधनासिद्ध होकर कर्मो से सदा केलिए सर्वथा निवृत्त हो गए, तथा सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ और भगवान् बन गये। साधनाका यह क्रमिकविधिविधान उन भगवान्ने किसी भी प्रकारकी ऐहिक(इसलोक-संबंधी)या पारलौकिक(परलोकसंबंधी)लालसा रक्खे विना निस्पृह भावसे जिसरीतिसे आचरणमें लिया था उसहेतुको लक्ष्यमें रखकर दूसरे साधक भी उसमार्गमें विचरें और उसीप्रकारका बर्ताव करें।

विशेष—श्रमण भगवानकी साधक दशाकी सच्ची विशेषताका यह अंतिम सूत्रमें निदर्शन है। एक ही सूत्रमें सूत्रकारने संपूर्ण साधनाका सार कह डाला है। प्रत्येक साधक को जितना मिलना चाहिए उतना सारे कथनका सारभूत यह इतना सारा मक्खन है।

साधनामें प्रवेश करनेवाला साधक प्राय: दूसरेके अनुभव को अपना अनुभव मानकर आचरण करने मँड जाता है। अर्थात् विकासके पथमें जुड़ते हुए विकासके बदले पतनको नौतने लगता है। सतत शुभाशुभ सांसारिक वृत्तिमें मशगूल रहनेवाले आदमीकी अपेक्षा साधककी कई वार शोचनीय दशा देखी जाती है इसका कारण भी यही है।

बाहरी वाचन, बाहरसे मिलनेवाले विचार या अनुभवोंको अपनेमें उनकी कल्पना करके आगे बढ़ता चला जाता है।

और इसीसे ऐसी कल्पनाके गगनमें घूमनेवाले साधकका आंतरिक विकास बहुत पीछे रह जाता है। अर्थात् अपने अनुभवसे ही साधकको आगे बढ़ना जो रहा। बाहरका यह सब तो निमित्त भूत है। बाहर रेतका मैदान हो या सागर, तो भी उसमें साधकको क्या ?वह तो मात्र निमित्तको अपने उपादान(अंतःकरणके संस्कारों)के साथ अधिकाधिक संतुलन करके उपादान का विकास करने चल पड़े।

श्रमण महावीर जैनधर्मके तेईसवें तीर्थोद्धारकके रूपमें होनेवाले श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी अपत्ययी गिने जानेवाले कुल में उत्पन्न होनेसे तत्कालीन प्रचलित जैनत्वके संस्कारोंका उन्हें गाढ परिचय होना स्वाभाविक है। तो भी श्रीमहावीर की यह विशेषता थी कि उन्होंने जैनदर्शनके सत्यको देख और जानकर भी बाहरके मत, पंथ, दर्शन या धर्म तथा उनके मौलिक सिद्धांतों और आचरणोंको देखनेकेलिए अवकाश रक्खा, इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक आदमीके पृथक् पृथक् वाद, मान्यता और मानसों का भी अनुभव किया। श्रमण महावीर की सच्ची सत्यनिष्ठा और सच्ची जिज्ञासाका यह सुन्दर प्रतीक है। सत्यार्थी परम सत्यको देखता हैं तो भी इसके जीवनमें इस सत्यकी पूर्ण पराकाष्ठा जहां तक न सधी हो वहां तक इसकी जिज्ञासा कायम रहे और इसकी शोधकबुद्धि जहां जहां सत्यकी देखे वहां वहां से उसे ले। इस दृष्टिसे श्रीमहावीरने बहिरंगवातावरण भी सब देखा और वह भी आंतरदृष्टिको साथमें रखकर। अपने आपको दूर रखकर नहीं। और इससे

बाहरके साधनोंको साधनोंका स्वरूप देकर सत्यके अनुभव अपने जीवनमेंसे ही ऊंचा उठानेके विविध प्रयोग स्वीकार किये। तथा इस मार्गमें इन्होंने सत्यको देखा, पचाया और संपूर्ण विकसित किया।

जितना अपना अनुभव होता है उतना ही साधक माने, कहे और वर्तावमें लावे तब ही उसके बाह्य और आंतरिक जीवनतुलाके दोनों पलडे समान रहेंगे, और शांति या आनंद का अनुभव होगा। बाकी कल्पनाके क्षेत्रमें तो अनासक्त या सिद्ध बनना तनिक भी कठिन नहीं, बिल्कुल सरल है; परंतु ऐसीदशामें मिलनेवाला सुख भी उतना ही कल्पनाके क्षेत्र जैसा अर्थात् मृगजलके दिखावे के समान होता है, यह सदैव स्मरण रहे।

जैसा भीतर है ऐसा ही बाहर देखनेकी इच्छा, निरभिमानिता और वासनाकी विजयशक्ति आदि अनुभवसे स्वयं अनुभव उत्पन्न होता है। साराँश यह है कि अपने अनुभवका मार्ग ही साधनाका मार्ग है। जिसे अपना निजका लेशमात्र भी अनुभव नहीं ऐसे केवल कल्पनाके मार्गके विकासमें उड़ना यह मात्र इंद्रजाल है। कोई भी साधक इसमें न फँस जाय।

उपसंहार—यह तपश्चर्या कर्मवर्गणाओंको जलानेकी प्रचंड भट्ठी है। वर्तमान कर्मोंकी शुद्धि और भावी कर्मोंसे बचनेके दूसरे अनेक उपाय होंगे परंतु पूर्वा-

ध्यास तथा पूर्वकर्मोंके वेगको दबानेका तो पूर्वसंस्कारोंकी शुद्धि करनेका मात्र यह एक ही उपाय है। आध्यात्मिक रोगोंको मिटानेका यह एक अद्वितीय रसायन है। परंतु उस रसायनका उपयोग पथ्यपूर्वक होना चाहिए तब वह पचे।

तपश्चर्याका लाभ भी वीरपुरुष ही ले सकते हैं। बाहरसे दिखनेवाला इंद्रियदमन और देहदमन तपश्चर्या भी आवश्यक तो है ही, परन्तु उसकी आवश्यकता आंतरशुद्धि और आंतरविकासकी अपेक्षासे है बाह्य तपश्चर्यासे चिंतन, चित्तप्रसाद और ध्यानलक्षिताको सहारा मिलता है, और आत्मस्वरूप तथा जगतस्वरूपको समझनेका अवसर पाता है। जो तपश्चर्या इसरीतिसे वृत्तिके संस्कार बदलकर चित्तकी खिन्नताके स्थानपर चिदानन्दकी स्फुरणा करादे, उस तपश्चर्याको जीवनमें ओतप्रोत करनेका सब कोई प्रयास करें। तपश्चर्यासे काया कुम्हलाती है, यह भ्रम मात्र है। तपश्चर्या तो नैसर्गिकऔषध है। पाश्चात्य वैद्यकमें भी अब तपश्चर्याका महामूल्य आंका गया है। और

अनुभव भी किया गया। इसलिए इसरीतिसे तपश्चर्या शरीर मन और आत्मा इन तीनोंको स्वस्थ करनेवाली सफल संजीवनी बूटी है; और वैराग्यवृत्ति तथा अभ्याससे यह सहज और सुसाध्य बनती है अधिक क्या कहा जाय ! योगमात्रका समावेश तपश्चर्यामें है। श्रमण महावीरको बदलकर सर्वज्ञ तथा भगवान महावीर बनानेवाली साधनामें तपश्चर्याका प्रधान भाग है।

इस प्रकार कहता हूं

उपधानश्रुत नामक नौवां अध्ययन समाप्त।

———

ब्रह्मचर्य श्रुतस्कन्ध

श्रीआचारांग सूत्रका पहला श्रुतस्कंध ब्रह्मचर्य श्रुतस्कंधके नामसे पहचाना जाता है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा और आत्माकी ओर प्रगति करानेवाला साधन ब्रह्मचर्य है।

वीर्यका जितना संग्रह और सदुपयोग होता है उतना ही ब्रह्मचर्यका पालन और इसका जितना व्यय तथा दुरुपयोग, उतना ही ब्रह्मचर्यका स्खलन। इस तरह विकासकेलिए मिला हुआ देह, इंद्रियाँ और अंतःकरण इत्यादि प्रत्येक साधनका सदुपयोग करना और उसके द्वारा पूर्वग्रहोंका परिहार, अध्यासोंका निग्रह, काया, मन तथा वाणीका संयम, और वासना पर विजय पाना, इसप्रकार संपूर्ण ब्रह्मचर्यकी साधना का मुख्य लक्ष्य है।

आचारांगसूत्रका
ब्रह्मचर्य श्रुतस्कन्ध नामक
प्रथम श्रुतस्कन्ध
समाप्त

परिशिष्ट

श्रीआचारांग और भगवद्गीतामें

तुलनात्मक विचार

विषयक्रम

श्रीआचारांगका उपसंहार

———

श्रीआचारांगका उपसंहार

श्रीआचारांगका विस्तृत विवेचन समाप्त होनेके बाद इसका सार या निष्कर्ष क्या है, ऐसे प्रश्नका होना स्वाभाविक है। श्रीआचारांगसूत्रका सार या नवनीत थोड़े वाक्योंमें इसप्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

नवीनताकी शोध

"श्रीआचारांगकी ध्वनि जीवनमें नवीनताका संभार भरनेकी सूचना करता है।"

नवीनता सबको पसंद है। बालक नये नये खिलौनोंकी खोजमें रहता है, किशोर विद्या और कलादिके वैविध्यकी शिक्षा पानेकी चेष्टा करता है, यौवनका उत्साह प्रवृत्तिके रस क्षेत्रको ढूंढता है; प्रौढत्व जीवनके अनेक प्रयोगोंका नवनीत संतुलन करता है, और वृद्धत्व तो मानो बालत्व, या इसे तो सब कुछ नया ही नया पसंद है। इसप्रकार वयकी दृष्टिसे देखो, रुचि, प्रीतिकी दृष्टिसे देखो, सबको एक मतसे सदैव सब क्षेत्रोंमें या सब क्रियाओंमें एक मात्र नवीनता अभीष्ट है।

श्री आचारांग कहता है कि:—नवीनताकी शोधमें तो सब समान आशा करते हैं और अधिकार भी है।

मुमुक्षु, सत्यार्थी या जिज्ञासु ही इसे चाहते हैं, या ये ही इसमार्गपर जा सकें ऐसा कुछ नहीं है; और अनुभव भी यही कहता है, कि सबको भूख तो है ही फिर चाहे इसके क्षेत्र निराले ही क्यों न हों, किसीको धनमें ही यह नवीनता दीखती है, तब वह केवल विविध व्यापारोंके द्वारा धन ही एकत्र किया करते हैं। उसे ही देखकर मुस्कुराते रहते हैं। फिर इसका क्या होता है, इसकी इसे चिंता नहीं। किसीको भोग में ही प्यार है, तो वह इसी के वैविध्यको खोजते फिरते हैं। धन जाय, मन मैला हो पड़े या तन तपने लगे, यह देखनेके लिए ठहरनेकी इसे क्या पड़ी ? इसी तरह किसीको कला, तो किसीको सौंदर्य, किसीको सत्ता, या किसीको प्रज्ञता जिसे जो कुछ पसंद है उसमें वे मगन और मस्त रहते हैं, और उसकेलिए सर्वस्व व्यय कर देनेको प्रतिपल तैयार रहते हैं। परंतु नवीनता की आशा रखनेवाले और उसके अधिकारी होते हुए नवीनताकी रसानुभूति सबको समान क्यों नहीं मिलती ? नवीनताका पात्र होनेके बाद उसमें स्थिरता क्यों नहीं होती ? सच्ची नवीनता किसमें है ? जीवनमें है या जीवनके बाहर है ? इन प्रश्नोंसे श्रीआचारांगका प्रारंभ होता है। × × ×

नित्यनूतन आत्माकी शोध

अध्यात्मशास्त्री कहते हैं कि- नवीनताकी आतुरता ही जिज्ञासा है, और यह नवीनताकी प्राप्ति पुरानेको छोड़देनेसे ही हो सकती है। जीर्ण कृत्रिम और नया सहज होता है। वे कहते हैं कि आत्माको कोई देख

नहीं सकता तो भी इसकी सुन्दरता (Beauty)ऐसी है कि उस ओर सब आकर्षित होते हैं, इसका कारण यही है, कि वह सहज होनेपर भी नवीन है।

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः'

नूतनोऽयमात्मा।

भावार्थ—आत्मामें ऐसी रमणीयता है कि जो प्रतिक्षण अभिनवताको पाता है।

पुरानेको छोड़देनेका नाम ही त्याग है। नएपनमें जाने से जो रोककर पुरानेपनमें भटका मारे उसको मोह कहते हैं।

× × +

जगतका सर्जन पुराना प्रश्न

परंतु जगतका प्रश्न यह है कि:—"हमें तो भोग चाहिए त्याग नहीं। सौन्दर्यलिप्सा और रसोपभोग जीवनमें ये दो मौलिकतत्व हैं। अध्यात्मशास्त्र इन्हींका त्याग करनेकी प्रेरणा देते हैं। जगतको साधु बना छोड़ना इनका प्रधान स्वर है। जगत में बजने वाली इस बंसरीके मृदु और मंजुल स्वरको छोड़कर इस बेसुरे स्वरको सुननेकेलिए हमारे कान तैयार नहीं हैं, क्षमा करें।

त्यागसे न भड़कें

अध्यात्मरसज्ञ कहते हैं कि:—"त्यागसे न भड़कें" त्याग सर्वत्र पाया जाता है। स्वार्पण और आत्म-बलिके विना जगतमें एक कदम भी कहीं चला जा सकता है? भोगमें ही त्याग है। और त्यागमें ही त्याग है। एकमें शक्तिका त्याग है, तब

दूसरेमें वृत्तिका त्याग है। एकमें स्वच्छंदता प्रधान है, दूसरेमें स्वेच्छा प्रधान है।

जड़ संस्कृति और चेतन संस्कृति

एक साधक रसोपभोग और सौंदर्यलिप्साकी पूर्ति शक्तिके संग्रहमें देखता है, इससे वृत्तिका संयम करता है; और दूसरा वृत्तिके ताण्डवनृत्यमें नाचकर कृत्रिम विलासका भरणपोषण करता है। एक जीवनकी चंचलताको जानकर अप्रमत्त हो जाता है; दूसरा जीवनकी चंचलताको समझकर माने हुए भोगोंमें लोलुप बन जाता है। इसप्रकार जड़ संस्कृति और अध्यात्मसंस्कृतिका अविराम युद्ध चल रहा है। दोनोंको एक ही चाहिए, और दोनों प्रवृत्तिकर हैं; तो भी इनके मार्ग इतने अलग हो गए हैं कि इनका संधान नहीं होता। और दोनों कहते हैं कि "हमारा मार्ग न्यारा है।" × ×

नवसंस्कृतिका निर्माण

प्राचीन युगमें ये मार्ग आकाश पाताल जितने अलग माने जाते थे। जगतसे आकुल होकर अरण्यवासी बनते, आरण्यकोंकी संस्कृति और परलोकमें स्वर्गकी मीठी और मधुर कल्पना देनेवाले ब्राह्मणोंकी सत्तामयी संस्कृतिके पथ ही निराले बने हुए थे। इन दोनोंके बीच अन्यवर्ग टकरा पड़ता था। उस समय एक नवसंस्कृतिके जो आंदोलन आए इसके श्री आचारांग और श्रीभगवद्गीता दोनों प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाण हैं। × × ×

जैनसंस्कृति गीताका आत्मा

श्रीआचारांग जैनधर्मका ग्रन्थ माना जाता है, और श्री-गीता वैदिकग्रन्थ गिना जाता है। परंतु दोनोंका आत्मा तो एक ही है। गीताका शरीर सांख्य है, गीताका वस्त्र वेदान्त है, गीताका आभूषण योग है, और अन्यदर्शनोंका संदर्भ इसका सौंदर्य है। परंतु गीताका आत्मा पूछो, तो इसका उत्तर इतना ही मिलता है कि जैनसंस्कृति गीताका आत्मा है।

दोनों संस्कृतिओं का समन्वय

गीताका समय पहला है या आचारांगका समय पहला, है, आचारांग तो जैनधर्मका ग्रन्थ है, और गीता वेदधर्मका ग्रन्थ है, ऐसे प्रश्नोंको हम एक ओर रख देंगे। क्योंकि जो साधक साधना के मार्गमें प्रविष्ट हुआ है और इसे इसप्रश्नका महत्व जिज्ञासाकी दृष्टिसे चाहे हो, परंतु कर्तव्यकी दृष्टिसे तो है ही नहीं। इसलिए ऐसे समभावी साधक यदि मुझे पूछें तो श्रीआचारांगके पाठकोंको यही कहूंगा कि आचारांगको चाहो तो खूब पढ़ो परंतु इस वाचनका पाचन तो गीता के चूर्णके बाद ही होता है, और गीताके साधकको भी में सादर यही निवेदन करता हूं कि गीताका रहस्य श्रीआचारांगको पढ़नेके अनन्तर ही अधिक स्पष्ट सुलझाया जा सकता है। इन दोनोंको मैं थोड़ेसे शब्दोंमें इतना ही कहूंगा कि जैनसंस्कृति और वैदिकसंस्कृति ये दोनों अलग नहीं हैं, और भिन्न हों तो भी मात्र भूमिकाके भेदसे, वस्तुके भेदसे नहीं!

यह बात पहले नई अवश्य लगेगी! नई इसलिए कि वह

अनुभवगम्य है। श्रीआचारांगके वाचनके बाद जिज्ञासा और गीता और गीताके वाचनके पश्चात् आचारांग विजिगिषा- पढें तो यह सहज समझमें आजायगा। परंतु मुझे जो अनुभव हुआ है इससे मैं इतना कह सकता हूं कि:—

'वेदका अर्थ ज्ञान होता हैं, जैनका अर्थ विजेता होता है।' जानना और जीतना दोनों क्रियाएँ अलग हैं; परन्तु प्रवाहकी दृष्टिसे मात्र क्रमभेद हैं। पहले जाना जाता है और बादमें जीता जाता है। आद्यब्रह्मसूत्र पहले सूत्रमें यह कहता है कि:—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यतः।'

अर्थात् नवीनताका आकर्षण और पूर्वाध्यासोंकी पकड़ के बीच एकाएक विचारश्रेणी जाग उठते ही जिज्ञासा प्रगट होती हैं। और इस विचारश्रेणीका पहला प्रश्न है, कि जन्म, जरा, मरण यह सब किस लिए ? मैं कहाँसे आया ? यह जगत् क्या है ? और मैं क्या हूं ?

श्रीआचारांगसूत्र जैनागमोंका अग्रिम और पहला अंग गिना जाता है। इसका सूत्र भी इसी रीतिसे यही बात कहता है कि:—

"इहमेगेसिं नो सन्ना होइ कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि, अत्थि मे आया उववाइए वा नत्थि ? के वा अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि"—आ० १-१-१

कई जीवोंको ऐसा ज्ञान ही नहीं होता कि मैं कहां से आया ? मेरा आत्मा पुनर्जन्मको पानेवाला है या नहीं ? इन दोनों प्रश्नोंको उठाकर फिर कहा है कि मैं कौन हूं ? कहांसे आया हूं ? और अब आगे यहां और पुनर्जन्ममें मेरी क्या स्थिति होगी ?

इतना ज्ञान होनेके पश्चात् जहाँ युद्ध आरंभ होता है वहाँ से ही जैनसंस्कृतिकी आधारशिलाका आरंभ होता है। वेदधर्मके साहित्यपाकके कालके मापसे मापा जाय तो भी पहले पूर्वमीमांसा का कर्मकांड, फिर उपनिषदोंका ज्ञान और फिर महाभारतका युद्ध। वेदांत, उपनिषद् या भागवतका ज्ञान और महाभारतके युद्धसे ही भगवद्गीताका जन्म हुआ यह क्या सूचना करता है ? इतना पूर्वरंग कहकर अब हम गीता और श्रीआचारांगके मौलिक प्रमाणभूत समन्वयकी ओर मुडें।

सृजन पुरानी संस्कृति-

× × ×

संस्कृतिके सूत्रधार-

भगवद्गीताके चित्रकारने गीतामें भौतिकयुद्धको पीछी (कलम)का आधार लेकर आध्यात्मिक युद्धको चित्रित किया है। गीताके मुख्य सूत्रधार बनते हैं श्रीकृष्ण और उनके परमसखा वीर अर्जुन।

श्रीआचारांगमें भी श्रीसुधर्मास्वामी अपने सुशिष्य जंबूको अपेक्षा रखकर आध्यात्मयुद्धका उसी तरह वर्णन करते हैं।

श्री आचारांगके पहले अध्ययनका नाम भी शस्त्रपरिज्ञा है और इसमें शस्त्रोंका विवेक समझाया गया है। शस्त्रोंकी आजमाइश किसप्रकार करनेसे जयपराजय मिलता है इसका रहस्य उद्घाटित किया गया है।

परंतु गीतामें तो युद्धकी तैयारी भी हो चुकी थी। पांडव और कौरवोंकी महारथी सेना दोनों ओरसे सजकर तैयार थीं। वयोवृद्ध, चाचा, ताऊ, पितामह, स्वजन, सखा, मित्र और बहुतसे स्वजन सम्मुखीय विपक्षमें थे। किसे मारू ? किसे न मारू ? ऐसे विचारोंमें अर्जुन बेचैन था। शस्त्र तो इसके पास तैयार ही थे। स्वयं भी जन्मका क्षत्रिय, अर्थात् युद्धक्रीडा तो इसकी पैतृक सम्पत्ति थी या धर्म था। इस धर्म की मर्यादाको रखकर मात्र चिनगारी फेंकना ही आवश्यक था, और इसकी पूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रने की थी।

अर्जुन क्षत्रिय था, इसके बोधक भी क्षत्रिय क्षत्रधारी थे। फिर भी विकासकी भूमिकामें जायँ तो अर्जुन एक जिज्ञासु था। यद्यपि जंबूके बोधक सुधर्मास्वामी ब्राह्मण थे परंतु जंबूस्वामी क्षत्रिय थे।

अर्जुन सद्गृहस्थ थे, यद्यपि इसके बोधक तो भोगी होते हुए भी युक्तयोगी ही थे। जंबू त्यागी थे, और सुधर्मा त्याग चूडामणी थे। इस प्रकार आचारांगकार और जिज्ञासु दोनों त्यागी थे।

इतने आकारभेदसे श्रीआचारांगमें मुख्यतया झलकता है

त्यागमार्ग और अनासक्तियोग

त्याग, और श्रीगीतामें झलकता है अनासक्तियोग। परंतु त्याग और अनासक्ति तो मात्र नामके भेद हैं। कदाचित किसी अंश में वाह्यक्रियाका भेद होगा। असलमें इन दोनोंका हृदय तो एकरूप ही है।

जिस अनासक्तिमें त्याग नहीं, वह अनासक्ति पूर्ण नहीं है; और जिस त्यागमें अनासक्ति नहीं, वह त्याग भी संपूर्ण नहीं है। अनासक्तिका साधन त्याग और त्यागका फल अनासक्ति। इसीसे श्रीआचारांगमें मिलनेवाले मुख्य मुख्य सब तत्व गीताजीमें मिलते हैं। जैसे गीताजी चेतावनी देती है, कि भोग में भी त्याग होना चाहिए, कर्म करते हुए कर्मफलका त्याग करना चाहिए, ऐसे ही श्रीआचारांग त्यागमें ही भोगापत्ति आ पडना सभव है, यह कहकर त्यागीसाधकको सावधान करता है।

गीताका सूत्रधार अर्जुन धर्नुविद्या सीख चुका था। वह

त्याग वीर

यह जानता था कि किस प्रकार युद्ध किया जाता है। मात्र कहाँ लड़ना न लड़ना इस युक्तिके अनुभवकी ही कमी थी; अर्थात् इसे सांख्य पचता था। यह सबकेलिए साध्य नहीं है। विषयोंमें रहना और अनासक्त बनना तो काजलके कोठेमें रहना किसी पारंगतका ही काम है। वैदिक धर्म देखो या जैनधर्म; दोनोंमें विरल दृष्टांत पाए जाते हैं। जनकविदेही जीवन्मुक्त और यहां भरत चक्रवर्ती और माता मरुदेवी। एकको सीसमहलमें आत्मभान,

दूसरेको हाथोके होद्दे पर केवलज्ञान, और बाकी तो दूसरे सब को त्यागमार्गसे ही इच्छित मिला है। कपिलको देखो या कणादको, व्यासको देखो या वशिष्ठको, भर्तृहरिको देखो या गोपीचन्दको, कुमारिल भट्टको देखो यो शंकराचार्यको, महात्मा बुद्धको देखो या भगवान महावीरको; सबको त्यागमार्ग ही स्वीकार करना पडा है। आखिर त्याग है क्या वस्तु? इसे ही आगेके पृष्टपटों पर स्पष्ट किया है।

अब हम श्रीआचारांग और गीताके सैद्धान्तिक, साधनात्मक और समानार्थसूचक शब्दात्मक समन्वयके विषयमें कुछ विचार करेंगे।

परिच्छेद

१

सैद्धान्तिक··· ··· ··· ···समन्वय

तत्वज्ञानका साम्य

इस प्रकरणमें जैनसंस्कृतिका आत्मा श्रीगीतामें किस रीतिसे प्रतिबिंबित हुआ है, यह इन्हींके चुने हुए श्लोकरत्नों द्वारा खोजनेसे पहले जैन संस्कृतिके मुख्य मुख्य सिद्धान्त देख जायँ ।

जैनसंस्कृतिके मौलिक सिद्धान्त—

(१) जैनदर्शन देह, इंद्रियां, मन, बुद्धिसे भी पर जो एक अव्यक्त तत्व है, वह आत्मा है इसप्रकार आत्माका अस्तित्व स्वीकार करता है ।

(२) परन्तु उन वैदिकदर्शनोंकी भाँति आत्मा विभुत्व-वादी नहीं अर्थात् संख्यात्मकदृष्टिसे आत्मा एक ही है ऐसे नहीं, वल्कि अनेक हैं । और इन अनेक आत्माओंका

अपना व्यक्तित्व भी अलग अलग हैं, अर्थात् आत्माका **अनेकत्व** अथवा **स्वतन्त्र आत्मतत्ववाद** ऐसा मानता है।

(३) आत्मा स्वयं अपने मूलरूपसे नित्य है, अर्थात् **आत्माका नित्यत्व** जैनदर्शन स्वीकार करता है।

(४) तथापि सांख्यकी तरह आत्मा 'कूटस्थ नित्य' नहीं वल्कि **'परिणामी नित्य'** नित्य' है।

(५) क्योंकि **कर्मका यही कर्ता है। और यही उसका परिणाम भोक्ता है।**

(६) भगवान या ईश्वर किसी भी कार्यका या कर्मका कर्ता या फलदाता नहीं। जीवात्मा स्वयं ही अपने अज्ञानसे रागद्वेषादि दोषयुक्त क्रिया द्वारा कर्मबंधन करता है, और यहीं इसका फल भोगता हैं, अर्थात् जैनदर्शनको **'ईश्वर का अकर्तृत्व'** मान्य है।

(७) आत्मा स्वयं अपने किए कर्म और संस्कारोंको लेकर नित्य होनेपर भी इसे देहके साथ दूधपानी की भाँति मिला रहनेसे उसे जन्ममरण करने पड़ते हैं। अर्थात् कर्मको जो कर्तृत्वभोक्तृत्वकी संकलना स्वीकार करनी पड़ती है, तो इसी अपेक्षासे पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है। यानी जैनदर्शन **'पुनर्जन्मको स्वीकार'** करता है।

(८) आत्मा और कर्मका संबंध अनादि होते हुए इस सम्बन्धका अंत आ सकता है। और जो कामादि षड्रिपुओंसे

सर्वथा मुक्त होते हैं वे सर्वज्ञत्वको पा सकते हैं। वहाँ स्त्री, पुरुष, या जातिपांति ऊंच या नीचका भेद नहीं है। अर्थात् 'सर्वज्ञत्व' का सबको समान अधिकार है, जैनदर्शनका यह मानना हैं।

(९) मुक्तिधाम पानेके पश्चात् उन सिद्धपुरुषोंके सिर पर फिर संसारमें आकर जन्मादि धारण करनेकी बेगार नहीं रहती। अर्थात **'मुक्तात्माओंका अपुनरागमन'** इनका नौ वां सिद्धान्त है।

×जैनसंस्कृतिके इन नौं मौलिक सिद्धांतोंमें इसका संपूर्ण आत्मा समा जाता है। अब श्रीगीताजीमें ये सिद्धांत एक या दूसरे ढंगसे किसप्रकार व्यवस्थित हैं, इसे श्रीगीताके प्रमाणभूत श्लोक देकर अधिक स्पष्टरीतिसे समझाया जायगाः—

'स वै अयमात्मा ज्ञानमयः।'

अर्थ—जिससे जाना जा सके और जो जानता है वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है। (बृ० आ० उपनिषद्।)

आत्माका अस्तित्व—

इसकी पूर्तिमें जगतका नियम व्यक्त करते हुए गीताजी में कहा है किः—

नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सतः।२-१६।

× जैनसंस्कृतिका आत्मा खोजनेकेलिए आगे देखो "षड्दर्शन-की संक्षिप्त मीमांसा" नामक लेख।

अर्थ—जो वस्तु नहीं है, उसका कभी किसी भी स्थितिमें भान नहीं होता। बल्कि आत्मा चर्मचक्षुसे अदृश्य होते हुए यदि उसका भान होता है तो उसका अस्तित्व है ही। सारांश यह है कि जो सत् है उसका अस्तित्व भी है, और जो असत् है उसका अस्तित्व ही नहीं है।

आत्माका नित्यत्व—

×अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो । न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।२-२० उत्तरार्ध ।

विनाशमव्ययस्याऽस्य, न कश्चित्कर्तुमर्हति ।
२-१७ उत्तरार्ध।

अर्थ—यह आत्मा स्वयं अज, नित्य, सनातन होनेसे शरीरका नाश होनेपर भी इसका हनन नहीं होता। इसका शरीर सर्वावस्थाओंमें अखंड अनाहत रहता है। आत्मा अविनाशी होनेसे कोई भी आघात इसका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है।

+अजोऽपि सन्नव्ययात्मा, भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय, संभवाम्यात्ममायया ।।४-६।।

आत्माका परिणामी नित्यत्व—

यह आत्मा स्वयं अज, सत्य, अविनाशी और ईश्वरत्वका

×'आत्माके स्वतन्त्र व्यक्तित्व' के विषयमें ६ वें प्रमाण के आगे विचार किया गया है, वहां से देख लेने का प्रयत्न करें।

×गीताजीमें प्रथम पुरुषका प्रयोग बहुत किया गया है

अधिकारी होतेहुए अपने ही कृतकर्मको लेकर अपने ही अज्ञानसे अपने ही कर्मजालके द्वारा जन्मधारण करता है। अर्थात् कूटस्थ आत्मा नित्य नहीं बल्कि परिणामी नित्य है (अ० ४-६)

और इसीकारण श्रीगीताजी पुनः कहती है कि:–

'अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ता शरीरिणः।'

आत्मा प्रकृतिके कारण देहधारी बना हुआ होनेपर भी इसका निर्माण किया हुआ देह सचमुच विनश्वर है (अ० २-१८ का पूर्वार्ध)

आत्माका कर्तृत्व-भोक्तृत्व—

फिर कहा है कि:—

शरीरं यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति, वायुर्गंधानिवाशयात्॥ (१५-८)
पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा।

यह आत्मा पुण्यकर्मसे पुण्यका संचय करता है और पापकर्मसे पापका संचय करता है। (बृ० आ० उपनिषद्)

इसीकी अधिक स्पष्टता करते हुए भगवती गीताजी कहती हैं कि:—

और इस कथनका संवादरूपमें होना अधिकांश सहेतुक है। परन्तु इस प्रथम पुरुषके स्थानपर शुद्धात्माकी दृष्टिसे उत्तमपुरुषका प्रयोग करना अवास्तविक नहीं है, इस छूटका लाभ लेकर यहां 'संभवामि' क्रियापदका अर्थ उत्तमपुरुषकी अपेक्षा रखकर लिया गया है।

नादत्ते कस्यचित्पापं, न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।अ० ५-१५।।

किसी भी पाप और पुण्यका कर्ता 'कोई दूसरा है' ऐसा न मान । बल्कि जीवात्माओंका ज्ञान उसके अपने अज्ञानसे अथवा ज्ञानचक्षु मुंदजानेसे ढँक जाता है और इसीकारण जीव मोह को पाते हैं ।

ईश्वरका अकर्तृत्व—

यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि कर्मका कर्ता और भोक्ता जीव रहो, परन्तु इस कर्मके फलकी यथार्थ रूपसे योजना बना कर देनेवाला और इस अखिल जगतमें जो भी नियमबद्धता और तालबद्धता देखते हैं उसे जोड़नेवाली कोई और ही सत्ता होनी चाहिए, और उस सत्ताको ईश्वरके रूपमें स्वीकार करना योग्य है । इसके उत्तरमें श्रीगीताजी ने यह कहा है, कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।५-१४।।

जगतका कर्तृत्व या जीवोंके कर्मोंका सर्जन करना ईश्वर का काम नहीं है । इसी प्रकार किसी भी कर्म या किसी जीव के कर्मोंके फल इसे दिलानेमें भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है । जगतमें जो कुछ दीख पड़ रहा है यह सब योग्य सामग्री मिलने पर अपने अपने स्वभावानुसार ही परिवर्त्तन पाया करते हैं । इसीलिए बार बार कहा गया है कि—

स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः ।
नाऽहं कर्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ।।

अपने कर्मवशात् स्वतोनिवृत्त और स्वतःप्रवृत्त रहनेवाले जीवोंका मैं कुछ भी नहीं कर सकता । अर्थात् यह सब रचना नियमके वश होकर हुआ ही करती है । जो इस प्रकार जानते हैं वे ही पंडित पुरुष हैं ।

प्रत्येक आत्माका स्वतन्त्र व्यक्तित्व—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं, सर्गे यांति परंतपः ।।७-२७।।

राग और द्वेषसे समुत्पन्न द्वंद्वमोहसे संसारके सब जीव फँसे पड़े हैं, और इसीसे संसार परम्पराको प्राप्त किया करते हैं ।

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

जीवात्मा अनेक अनंत हैं और वे अवश्य जन्म लेते रहते हैं, तब फिर जहां तक मुक्तिधाम न पा जाय वहां तक कर्मकी संकलनाके अनिवार्य नियमके आधीन होकर मरना भी अनिवार्य है । (अ० २, २७ का पूर्वार्ध)

परन्तु यहां कोई यह शंका करे उससे पहले ही जन्ममरण के चक्रमें रहते हुए स्वयं अपने स्वरूपमें किस प्रकार अखंड रह सकता है इसकी आदर्श उपमा देते हुए गीताजी कहती हैं कि–

वासाँसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृण्हाति
नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति
नवानि देही ॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य अपने कपड़े पुराने होने पर दूसरे नए कपड़े सजाता है, ऐसे ही शरीरके जीर्ण होनेपर, आयुष्यकी अवधि पूरी होनेपर, उस शरीरको छोड़कर नया शरीर धारण करता है, और ऐसे ही कर्मवशात् उसकी जन्म परम्परा बढ़ती जाती है ।×

यह उपमा इतनी उत्तम और सब प्रकारसे जीवके परिणामी नित्यत्व पर घट सकती है कि इस उपमा के द्वारा प्रत्येक जिज्ञासु और बुद्धिमान साधक तर्कका समाधान यथार्थ रूपमें पा सकता है । (१) वस्त्र और देह संयोगी होते हुए एक दूसरे से अलग हैं, ऐसे ही जीवात्मा कर्मसंगी होनेपर भी कर्मसे

×श्रीजिनभद्रकृत आवश्यक नियुक्ति पर कियेहुए भाष्य [विशेषावश्यक] में गणधरवादके जो अवतरण लिए हैं उनमें एक श्लोक इसी ढंगका है ।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराण्यपराऽपराणि, जहाति गृण्हाति च पार्थ ! जीवः ॥
प्रिय प्रथाके पुत्र ! जैसे पुराने कपड़े छोड़कर आदमी दूसरे नए ग्रहण करता है ऐसे ही यह जीव भी परम्परासे पुराने देहको छोड़ता है और नया देह ग्रहण करता है ।

समवेत नहीं बल्कि अलग हैं। (२) वस्त्र शरीररक्षण तथा शरीरधारणका साधन हैं, ऐसे ही देह भी आत्माके विकासका साधन है। और इसी रीतिसे **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।** शरीर साधनाका सर्वोत्तम साधन है। (३) वस्त्र जब निरुपयोगी होता है तब दूसरा वस्त्र पाने या धारण करनेकी आवश्यकता उद्भव होती है, और आवश्यकता पूर्ण भी होती है, ऐसे ही शरीर जीर्ण होनेपर और निरुपयोगी सिद्ध होनेपर कर्म-सूक्ष्मशरीर दूसरा ही अपने योग्य शरीर धारण करनेकी योजना तैयार करता है। और इस प्रकार होना स्वाभाविक है। जिस तरह सब वस्त्रोंके परिवर्तनों के बीच देह मूलस्वरूपमें ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही आत्मा भी अपने स्वरूपमें ज्यों का त्यों ही रहता है। (अ० २-२२)

फिर परिवर्तनकी शक्यताको अधिक स्पष्ट करते हुए गीताजी कहती हैं कि:—

पुनर्जन्मका स्वीकार—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२-१३॥

जिस प्रकार देहकी उपस्थितिमें हो संस्कार, काल और देशके लिए परिवर्तन हुआ करते हैं, एक ही देही उसी देहमें कुमारवयमें सरलता, सौकुमार्य, वात्सल्य और चेष्टावैविध्य आदिका अनुभव करता है; यौवनअवस्थामें ओज, उत्साह, औदार्य, विद्या और नई नई आशांके मैदानमें डोलता है, और

फिर जरावस्थामें यही मदोन्मत्त शरीर और चपल इंद्रियाँ शिथिल और पुरानी हो जाती हैं यह स्पष्ट अनुभव होता है।

ऐसे ही फिर इसी देहके जीर्ण होने पर अन्य देहकी प्राप्ति होनेमें क्या शंका है ? इन परिवर्तनोंके पीछे जो कुछ कारण है वही कारण संकलनाबद्धताके अनिवार्य नियमको मान देकर अन्यदेहके निर्माणकार्यमें संभव होना कैसे न गिना जा सके ? गीताका श्लोकार्ध कहता है कि:—यह देहान्तरप्राप्ति स्वाभाविक होनेसे ही जो धीर पुरुष होते हैं उन्हें विसंवाद नहीं होता।

परंतु यहां प्रश्न यह है कि जैसे इस देहमें होनेवाले कौमारादि अवस्था या शरीरके स्थौल्यदौर्बल्यादि विविधताका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होने लगे तब इन दोनों शरीरमें साक्षीरूप और अपने स्वरूपमें स्थित रहे हुए आत्मा या चैतन्यको इसका स्पष्ट भान क्यों नहीं होता ? ऐसा ही प्रश्न पृथानंदनको भी हुआ था। श्रीकृष्णचन्द्रने इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है कि:—

> अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत !
> अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिवेदना ॥२-२८॥

प्रिय भारत ! जीवमात्रकी पूर्वस्थिति और पश्चात्स्थिति अज्ञानका आवरण हो वहां तक उसे स्वयं देखा या जाना नहीं जा सकता, परंतु मेरे उपरोक्त कथनानुसार परिवर्तनोंको जाना

जा सकता है तो इसकारणके सिवाय कार्य होना संभव ही नहीं है। अर्थात् इससे पहले देह न हो तो इस देहका होना कैसे संभव हो सके ? ऐसे नियमको मान देकर यह स्वीकार करना ही चाहिए, इसमें खेद या आश्चर्य जैसी क्या बात है ? जिसका पिता, पितामह या प्रपितामह न हो ऐसे पुत्रको भी अपने देह-सर्जनका निमित्तरूप इसकारणका प्रत्यक्ष न हो तो भी अनुमान से स्वीकार करना ही पड़ता है। तब फिर इसी देहका उपादान कारणरूप कर्मसंकलनका और इसकर्मका भाजनरूप पूर्व देहको स्वीकार करनेमें क्या रुकावट है ?

श्रीकिशोरलालभाई अपने गीतामंथनमें इस श्लोकका अर्थ निम्नोक्त उपमासे घटाते हैं:—

"भारत ! पानीकी बूंदोंको हम एक, दो, तीन, ऐसे गिन सकते हैं, अलग कर सकते हैं, और जहां-तक यह पानी रहे वहां तक यह तालाबका पानी, वह नदीका पानी, आदि भेद कर सकते हैं। परंतु अर्जुन ! जो पानीकी बूंद बाष्प बनकर उड़ जाती है, वह बूंद विश्वमेंसे नाश नहीं हो पाती यों(वैज्ञानिक नियमके अनुसार)जानने पर उसका तत्पश्चात् क्या होता है, उसे हम ठीक तरह देख या शोध नहीं सकते।

कौन्तेय ! पानी की बूंदके उड़ जानेके बाद जैसे उसका इतिहास अदृष्ट या अज्ञात बन जाता है, ऐसे ही आकाशमेंसे बूंद बनकर टपकगई उससे पहले यह कहां थी, उसका बाष्प

कैसे बना ? इत्यादि भी कुछ नहीं जानते । पार्थ ! भूतमात्रके जीवन विषयक घटनाएँ भी इसी स्थितिमें हैं ।"

मैं तो इसे चित्रपटकी चित्रसंकलनाके साथ तुलना करता हूं । जहां तक पर्दा और दर्शक सामग्रीकी स्पष्ट अनुकूलता या धीरता न हो वहां तक देखनेवाला दृश्योंके चित्रोंको ही देख सकता है और इससे अनुमान बाँधने लग पड़े तब ही स्पष्ट बांधे तो भी यह कहना ही चाहिए कि इसकी अटूट संकलनामें पूर्व और पश्चात् चित्र हैं और इसके संकलनाकार या ज्ञाताको इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी है इतना ही नहीं, बल्कि यह दृष्टा भी यदि धीरज रखकर और गहराईकी संकलनात्मक दृष्टिसे देखे तो यह भी जान सके । मात्र पर्दा टूट जाना चाहिए । इसी प्रकार अज्ञातका पर्दा टूट जानेपर अपने पूर्वजन्मोंकी और पश्चात् जन्मोंकी ही मात्र नहीं बल्कि सब जीवोंकी, सब अवस्थाओंकी कुंजी-मूलज्ञान भी हो सकता है । वैज्ञानिक पानीके पूर्वरूपको तथा पश्चात् रूपको नियमरूपसे जान सकते हैं तो भी इन्हें प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । परंतु जीवनकी संकलनाके संबंधमें ऐसा नहीं है । वह तो ज्ञान होनेपर स्पष्टतया जान सकता है ।

इसी भावको व्यक्त करते हुए गीतामें श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं-कि:—

सर्वज्ञत्वका सबको समान अधिकार—

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन !
तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतप ॥४-५॥

मेरे और तेरे और ऐसे ही अनेक जीवोंके जन्म और इसके साथकी (मिलती जुलती) अनेक क्रियाएँ हो चुकी हैं उन सबको तू आज (आवरण होनेसे) नहीं जान सकता, परंतु मैं जानता हूं।

यस्तु स सर्वज्ञः सर्वविद्-सर्वमेवाविवेशं। (प्रश्नोपनिषद्)

उपरोक्त कथनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है।

योगीश्वर श्रीकृष्णचंद्र कहते हैं कि मैं जानता हूं, इससे तू यह न समझ कि दूसरे नहीं जान सकते। यदि कोई प्रयत्न करे तो वह सर्वज्ञत्वका अधिकारी है मात्र योग्यता चाहिए।

योग्यताके संबंधमें कहा है कि:—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

मान, मोह और आसक्ति आदि दोषोंसे निवृत्त होनेवाले, आत्मदशामें लीन रहनेवाले, रागादि रिपुद्वन्द्वोंसे सर्वथा अलग, सुख तथा दुःखकी संज्ञासे भी पर रहनेवाले ज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ

पदको प्राप्त होते हैं; या जिसे पानेके वाद फिर पतन संभव नहीं है (१५-५)

गीता कहती है कि:—

प्रकृति पुरुषं चैव, विद्ध्यनादी उभावपि ।

प्रकृति और पुरुषका सम्वन्ध(गीताजीकी दृष्टिसे प्रकृति और पुरुषका संबंध अर्थात् जैनसंस्कृतिकी दृष्टिसे आत्मा और कर्म का सम्बन्ध समझें) अनादि हैं इसीसे **लोकोऽयं कर्मबंधनः** यह सारा संसार कर्मसे बंधा हुआ है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। (३-९)

परंतु इसपर भी उपरोक्त कथनानुसार सब जीवात्मा सर्वथा निर्दोष होकर मुक्ति पा सकते हैं। मुक्ति पानेमें किसी भी जाति-पांति या ऊंचनीचके बंधन नहीं होते। वहाँ तो योग्यतानुसार सबको समान अधिकार है। इसीसे कहा है कि:—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्॥९-३२॥

हे पार्थ ! मुझे (परमात्माको) अवलंबनभूत मानकर जो प्रयत्न करते हैं वे जीव चाहे पापयोनिमें उत्पन्न हुए हों या लौकिकदृष्टिसे स्त्रीलिंग, शूद्ररूप या वैश्य रहे हों तो भी वे

सब योग्यताको पाकर × परमात्कृष्ट पदको पाते हैं।

मुक्तात्माओंका अपुनरागमन—

वह स्थान कैसा है इसकी शब्द द्वारा पहचान नहीं होती तथापि समाधानकेलिए कहा है कि:—उस स्थानको सूर्य, चांद या अग्नि प्रकाशवान नहीं कर सकते।

न तद्भासयते सूर्यो, न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ॥१५-६॥

अर्थ—यह स्थान लोकसे पर है और इसीकारण वहां गई हुई मुक्तात्माएँ फिर संसारमें लौटकर नहीं आतीं।

इसी भावको व्यक्त करनेवाले दूसरे अनेक श्लोक हैं।

× जहां वेदधर्मकी श्रुतिके नामसे, 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेयाताम्' स्त्री-शूद्रके पाससे अध्ययनका अधिकार छीन लें वहां तप या मुक्तिके अधिकारकी बात ही क्या ? गीता जी इसीका नामोल्लेख करके प्रगटरूपसे स्पष्ट विरोध बताकर स्त्री शूद्रके केवल अध्ययनके विषयमें ही नहीं बल्कि मोक्षका भी सर्वोत्कृष्ट अधिकार देते हैं फिर भी यह ग्रंथ वेदधर्मका समझा जाय और सबसे पहले जिसने मोक्षका अधिकार स्त्रीको सौंपा इतना ही नहीं बल्कि मुक्ति भी अर्पण की; भगवान ऋषभदेवकी माता मरुदेवीको मोक्ष और मल्ली को सर्वोत्कृष्ट तीर्थंङ्करपद सौंपा (यद्यपि यह मान्यता श्वेतांबरमतानुसार है) यह देखकर भी कोई यह माने कि गीता सर्वधर्मका ग्रन्थ नहीं है यह कितना आश्चर्य !

१ मामुपेत्य पुनर्जन्म, दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मानः, संसिद्धिं परमां गताः॥८-१५॥

परमात्म या परमपद-सिद्धिपदको पाए हुए महाजनोंको विनश्वर और दुःखपूर्ण संसार संबंधी जन्ममरणके चक्रमें जुड़ना नहीं पड़ता ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम
॥८-२१ का उत्तरार्ध ॥

जिस स्थानको पानेके बाद फिर पुनरागमन नहीं होता वही परमात्मपद है ।

दार्शनिक या सैद्धान्तिक दृष्टिके गहरे अभ्यासी इतने सिद्धान्तोंका साम्य देखनेके अनन्तर गीताका आत्मा क्या है, इसे अवश्य समझ सकेंगे । परंतु गीताके साथ जैनसंस्कृतिका केवल सैद्धान्तिक साम्य ही नहीं बल्कि साधनाप्रणालिकाका

---

१ मैं कई बार यह कहता आया हूं कि गीतामें अर्जुनको दृढश्रद्धा या भक्तिके अवलंबनकी आवश्यकता थी अर्थात् अनासक्तियोगके मूर्तिमान् दृष्टांतकी यहां अपेक्षा होनेसे श्रीकृष्ण-संवादमें पहले पुरुषके प्रयोग खूब हुए हैं और इन दृष्टि-कोणोंसे आवश्यक भी है । परन्तु वहां मैं शुद्धात्मा या परमात्मा-का अर्थ घटाता हूं ।

भी अधिक साम्य है। इसके उपरांत सूत्र सम्बन्धमें शब्द साम्य भी विरल विरल स्थलोंपर इतना ठोस है कि उसमेंसे भगवद्-गीता जैनशब्दका यौगिक अर्थ मान्य हो ऐसा निष्पक्ष और तटस्थ शाखा जैनधर्मका ग्रन्थ गिन सके। अब आगे साधनाके साम्यकी ओर मुड़ें।१

---

१ गीतामें सांख्य या वेदान्त या दूसरे दर्शनोंका आत्मा किसलिए न कहा गया? इसके कारण पीछे आनेवाली 'षड्दर्शन मीमांसा' से सरलतापूर्वक भलेप्रकार समझा जा सकेगा। यहां संक्षेपमें इतना समझा दूं कि सांख्य और योग, आत्माको कर्ता नहीं बल्कि द्रष्टाके रूपमें स्वीकार करते हैं। उत्तरमीमांसा विभूति-एकत्व और आत्माको कूटस्थ नित्यत्व मानते हैं। गीताजी आत्माका स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित करती है।

गीताजी कहती हैं कि:—

ह्रियते ह्यवशोऽपि सः बलादिव नियोक्ष्यति।

पूर्वमीमांसा बाह्य कर्मकाण्डोंको प्राधान्य सौंपता है। तब गीता इसका परिहार करता है।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप!
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४-३॥

परिच्छेद

२

श्रीभगवद्गीता और श्रीआचारांगका

साधनात्मक समन्वय

इसीभाँति न्याय और वैशेषिक आरंभवादमें मानता है। गीता-परिणामवादको स्वीकार करती है। इसके सिवाय और कई मत हैं। न्याय (वै० सां०) में चरित्रमीमांसा को स्थान नहीं है। वह गीतामें मुख्यतासे है। बौद्धने आत्मतत्वको नहीं माना। तब गीतामें यह स्पष्ट है और दूसरा कोई भी ऐसा दर्शन नहीं जो जैनदर्शनके सिवाय इसका आत्मा हो सके।

परिच्छेद

२

साधनात्मक—समन्वयका

संक्षिप्त परिचय

वेदधर्म	जैनधर्म
ध्येय—मोक्ष	ध्येय—मोक्ष
अनासक्ति	त्याग
समता	समभाव
स्याद्वाद	स्याद्वाद
श्रद्धा	श्रद्धा
वीरता-सत्याराधना	वीरता-सत्याराधना
ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य
विवेक, सहिष्णुता, अहिंसा।	विवेक, सहिष्णुता अहिंसा
संयम, तप	संयम, तप

वेदधर्म और जैनधर्मके इन प्रत्येक अंगोंकी समतुलना आगेके पृष्ठपटोंमें सप्रमाण की गई है, जिससे दोनों धर्मोंकी एकवाक्यता स्पष्ट जानी जा सकेगी।

साधनात्मक-

यहां मैं आचारांग और श्रीगीताजीके वचन आमने सामने समझनेकी तालिका देकर दोनोंके श्लोक प्रस्तुत करनेसे यह गंभीर

श्रीभगवद्गीता

श्रीगीताजी भी मोक्षको ही प्राधान्य देती है। स्वर्गादि सुखकी अपेक्षा जहांसे पुनरागमन न हो सके ऐसा मुक्ति धाम इसका ध्येय है।

(१)
ध्येय-मोक्ष

जरामरणमोक्षाय, मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२-२९॥

जरा और मरणसे मुक्त होनेकेलिए मुझे (सत्यको) अवलंब कर ज़ो प्रयत्नशील होता है वह संपूर्ण ब्रह्म आत्म-स्वरूप और आध्यात्मिकताको पहुँच सकता है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति, मामेभ्यः परमव्ययम् ॥७-१३॥

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे युक्त संस्कारों से यह सारा जगत् मोहमुग्ध हो रहा है और इसीसे अज्ञानी होकर मुझे (निरीश्वर आत्मस्वरूपको) जान नहीं सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत !
सर्वभूतानि संमोहं, सर्गे यान्ति परन्तप ! (७-२७)

हे परन्तप ! इच्छा, द्वेष और मोहसे सब जीव मूढ़ होकर संसारके जालमें बार बार फँसते हैं।

रखकर तुलनात्मक चित्र रखता हूं। इस चित्ररूप सत्तासे इसके विषय स्पष्टतासे पाठकोंकी समझमें आ सकेगा।

श्रीआचारांग

श्री आचारांगका परमध्येय पूछो तो यही उत्तर मिलेगा कि मोक्ष। मोक्षके सिवाय इसे भौतिक या स्वर्गीय सुख एक भी अभीप्सित नहीं, बल्कि मोक्ष अर्थात् नैयायिक दर्शनकी तरह शून्य या अभावात्मक नहीं। वहाँ भी आत्मा और उसकी स्वरूप-मग्नता तो है ही। आत्मा पर लगे हुए कर्म या रागोंकी सर्वथा मुक्ति। जैनदर्शन कर्मोकी मुक्ति, दुःखका आत्यन्तिक क्षय, परम सुख, समतायोगकी पराकाष्ठा या वीरताभावकी पराकाष्ठाको मोक्षका स्वरूप कहता है।

(१)

ध्येय-मोक्ष

से वन्ता कोहं च माणं च मायं च
लोहं च एयं पासगस्स दंसणं ॥३-४-५॥

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे मुक्ति पाना ही जैनदर्शनका ध्येय है परंतु संसार या कर्मबंधन किस से? यह प्रश्न होता है। इसके कारणमें मोह और अज्ञानको प्रधान बताया है।

अट्टे लोए परिजुण्णे. दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ पुढो पास आउएपरियावेति ॥१-२-१॥

आर्तता और आतुरतासे पीड़ित यह लोक अज्ञानसे दुःखी हो रहा है फिर भी खेदका विषय है कि इसे बोध नहीं होता।

से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे ॥२-३-२॥ मोहमूढा हि माणवा ॥२-१-४॥

यह जीव अज्ञानसे मारा जा कर जन्म-मरणादि चक्रमें घूमता फिरता है। जीव मोहमें मूढ़ हो रहे हैं।

ध्येयकी सिद्धिके साधन

मोक्षकी ध्येयसिद्धिकेलिए साधनोंके रूपमें गीताजी मुख्य-तया लोकसंगमें रहकर अथवा दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो जिस स्थितिमें है उसी स्थितिमें रहकर-गृहाश्रमकी साधन-संपत्तिमें वसकर भी विकासकी साध पूरो कर सकता है ऐसा कहती है। और इसीसे इसमें अनासक्ति योगकी प्रधान ध्वनि है।

अब अनासक्ति और त्याग क्या है ? मैंने पहले कहा है का मात्र शब्दभेद है। मेरी इस मान्यताको श्रीगीता-तं योगं विद्धि पाण्डव !' इस शब्दभेदको दूर कर दें त्यागके बीचमें प्रत्यक्ष साम्यता जान पड़ेगी

(२) अनासक्ति

श्रीगीताजी कहती हैं कि:—

न हि देहभृता शक्यं, त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।१८-११
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सात्विको मतः॥१८-१६

प्रत्येक देहधारियोंको कुछ न कुछ कर्म तो करना ही पड़ता हैं, अर्थात् आसक्ति और फलका त्याग करना ही सच्चा त्याग है। इसलिए

तस्मादसक्तः सततं, कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पूरुषः ॥३-१९॥

इसलिए अनासक्त रहकर निरन्तर कार्यपरायण रहना चाहिए। अनासक्त पुरुष कर्म आचरण करते हुए परतत्वविकास पानेका अधिकारी है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां, संन्यासेनाधिगच्छति ॥१८।४९॥

आत्मजित, निस्पृह और अनासक्त साधक संन्यास द्वारा अर्थात् मुनिपद द्वारा निष्कर्मा होकर परमसिद्धिको पाता है और संसारके बंधनोंसे मुक्त होता है।

ध्येय की सिद्धिके साधन

श्रीआचारांगसूत्र मोक्षके ध्येयकी सिद्धिके लिए साधनों को बताते हुए कहता है कि—साधनसम्पत्तिमें रहकर अनासक्त रहना कठिन है। इन्द्रियोंका झुकाव पूर्वाध्यासकी ओर खिंच जाता है अर्थात् लोकसंगका छोड़ना और पदार्थों पर भी संयम करना यानी इसमें त्यागकी प्रधान ध्वनि है।

और मैं दृढतापूर्वक यह मानता हूं कि त्याग और अनासक्ति जीका यह सूक्त सहारा देता है। 'यं संन्यासमित्याहुः, तो गीताजी और आचारांगके कथनमें अनासक्ति और

(२) त्याग

श्रीआचारांग कहता है कि:—

उड्ढं सोता अहो सोता तिरियं सोता वियाहिया।
एते सोता वियाहिया जेहिं संगंति पासह ॥६-६-७॥

ऊंचे जाओ, नीचे जाओ या तिर्छीदिशामें जाओ, चाहे जहां जाओ कर्मका प्रवाह तो सब जगह है, परन्तु इस कर्मके प्रवाहका प्रभाव तो उस पर ही पड़ता है जिसमें आसक्ति है।

इसलिए

आसं च छन्दं च विगिं च धीरे।२-४-६।
सव्वं गिद्धिं परिण्णाय एस वण्णते महामुणी अइअच्च सव्वतो संगं परिच्छिन्दिय बाहिरंगं च सोयं निकम्म-
दंसी इह मच्चिएहिं।४ ४ ८।

आसक्तिकी दो बाजू-लालसा और वासनाको धीर पुरुष दूर करे

आसक्ति ही बंधन (है ऐसा) जानकर जो इससे पर रहने का प्रयत्न करते हैं वे ही महामुनि हैं। और वे ही बाह्य और आन्तरिक बंधन छोड़कर लोगोंके साथ रहते हुए कर्म करते हुए निष्काम रहते हैं।

एस मरणा पमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी।
लोगंसि परमदंसि, विवित्तजीवी उवसन्ते;
समिए सहिए सया जए कालकंखी परिव्वए॥

और वही मुनि निर्भय होकर लोकमेंसे परमार्थ शोधकर एकान्तप्रिय, शान्त, विवेकी, अप्रमत्त और समयज्ञ होकर क्रमशः जन्म-मरणकी परम्परासे मुक्त हो जाता है।

त्याग और अनासक्ति

निष्कामवृत्ति—वासनात्याग

अनासक्तिके संबंधमें सामान्यरीतिसे लोगोंका यह खयाल है कि प्रत्येक कर्म निष्काम किए जायँ। यदि निष्कामका इच्छा रहित अर्थ किया जाय तो इच्छा विना प्रवृत्ति ही शक्य नहीं। कर्मयोगी भी निष्कामी तो होता है। अर्थात् इच्छाको स्वीकार करके वासना रहित रहना ही निष्काम कर्मका अर्थ सम्यक्तया घटता है।

यदि हम वासनाकी मीमांसामें उतर पड़ें तो यह चर्चा अनन्त हो जाती है। परंतु सामान्यरीतिसे देखें तो भी इतना तो मालूम देगा कि वासनाका बीज सहित भस्मसात् हो जाना बहुत ही ऊँची भूमिकाकी बात है। जैन दर्शनकी अपेक्षासे देखा जाय तो बारहवें गुणस्थान पर ही कषायोंकी सर्वथा क्षीणता हो सके ऐसा प्रतिपादन किया है। यद्यपि वासनामें ही गाढ या शिथिल संस्कारोंकी अपेक्षासे तारतम्यता तो है ही।

इतना विचारनेके बाद दो मान्यताएँ उपस्थित होती हैं (१)वासनाको रोकनेकेलिए निमित्तोंसे दूर रहना आवश्यक है।

(२)निमित्तोंके सामने जीवित रहते हुये मानव सुलभ प्रज्ञा-शक्ति और पुरुषार्थसे वृत्तिओंके आधीन हुए विना स्थिर रहे।

आसक्तित्याग—एक आदर्श

पहली मान्यतासे त्यागका आदर्श खड़ा होता है और दूसरी मान्यतासे अनासक्तिका आदर्श उपस्थित होता है। इन दोनोंमें सरल मार्ग कौन सा है ? इसप्रकार पूछा जाय तो यही उत्तर मिलेगा कि पहले तो कारण या निमित्तोंसे पर रहकर वृत्तिको जीतनेमें जो वीरता चाहिए उसकी अपेक्षा निमित्तोंके सामने रहकर वृत्तिको जीतनेमें अनंतगुणी वीरताकी आवश्य-कता पड़ती है। जंगल या वसतिसे दूर रहकर ब्रह्मचारी रहना नम्र, नियमित और निर्मोही रहना सरल है। धन या अधिकार न मिला हो उसकी करकसर और सहिष्णुता सुलभ है।

परन्तु यहां त्यागका ध्येय जिसने प्रस्तुत किया है यह चमकाकर कहता है कि तू त्यागका अर्थ पदार्थोंका त्याग या कुटुंब कबीलेका त्याग करके जंगलमें भाग जाना न समझ बैठ ! इसीलिए श्रीआचारांगका सूत्र कहता है कि:—**'नेवगामे नेव रण्णे'** त्याग ग्राम्यवास या जंगलवासमें नहीं है बल्कि **'संगतिं पासह'** अर्थात् यह समझ कि त्याग आसक्तिके त्याग में है।

त्यागको मर्यादा

इतना अवलोकन करनेके बाद निष्कामकर्म और त्याग इन दोनोंका गौण ध्येय तो अनासक्ति ही है, ऐसा निश्चित हुआ मात्र उसकी साधनाप्रणालिकामें जो भेद रह गया है वह

यह है कि एक मान्यतासे यह फलित हुआ कि जहां तक पूर्वाभ्यासोंका जोर है,वहाँ तक तुम्हें पदार्थों या निमित्तोंसे दूर रहना उचित है,और दूसरी मान्यतासे यह परिणाम निकला कि पदार्थ चाहे तुम्हारे पास ही क्यों न पड़े हों तो भी तुम्हें संयमी रहना अनिवार्य है, आकर पड़नेवाले कर्मोंको केवल स्व स्वामित्व रक्खे विना भी आपद्धर्म समझकर भोग ले, अथवा सत्कर्मोंको करके उनका बल घटा डाले तथा उन्हें पराजित कर दे।

परन्तु जिसके पास नवयौवना सुन्दरी, एक क्षत्रधारी सत्ता, सर्वाङ्ग स्वामित्व, तनबल, मनोबल और साधनसंपत्ति आंखोंके सामने होते हुए निर्विकार, निर्मोह, नम्र, निष्परिग्रही, नियमित और क्षमाशील रहना करोड़ गुना कठिन है, यह ऐसी स्पष्ट बात है कि इसे सहज समझा जा सकता है।

इन दोनों मान्यताओंमें दोनों कोटिके साधकोंका समावेश है। एक स्वधर्मजीवी और दूसरा योगी। श्रीआचारांगमें इसका "अणुवसु" और वसु अर्थात् मर्यादित त्यागी और सम्पूर्ण त्यागीके रूपमें उल्लेख हुआ है।

त्यागकी विकृति-पाखंडकी पुष्टि

यदि इन दोनों मान्यताओंका समन्वय साध लिया जाय तो एक सर्वाङ्ग दृष्टि उपस्थित हो और सब प्रकारसे सबको आश्वासन मिले। प्रस्तुत प्रयास भी इसीलिए है। यदि इस उद्देशको भुला दिया जाय तो अनासक्तिके नाम स्वच्छंद और त्यागके नाम पर पाषण्डकी पोषणा होगी। जब से त्यागके नामका 'हांउ' भयंकर बना और रोनेवाले बच्चोंकी मां किसी

तरह उसे चुप न रख सके तव "चुप रह हाउ आया ! बावा आया ! कान काट ले जायगा !" यह कहती हुई उसे डराकर चुप कर देती है ऐसी लोकमानस पर गहरी छाप पड़ी हैं, तव से निष्काम कर्मयोगकी दृष्टि प्रजाकेलिए आश्वासनदायक आकर्षक और आदरणीय बन गई है। परन्तु जब तक भारत वर्षका जीवन श्रमजीवी और सहज संयमी था, यन्त्रवादके आन्दोलन नहीं पहुंचे थे, विलासी संस्कृति अथवा विलासी साधन नहीं मिल पाए थे तब तक इस दृष्टिको पकड़कर रखनेमें भी कोई वाधा न थी, पर अब युग बदल गया है।

त्यागमय जीवन-विश्वशांतिका कारण

जीवनके नियम, वृत्ति और आवश्यकताएं भी बदल गई हैं। विज्ञानका आदर्श विकृत होगया है। धर्मके नाम पर या राष्ट्रोन्नतिके नाम पर भौतिकवादके अंकुर फूटते हैं। इसलिए इन दोनों सिद्धान्तोंका आदर किए विना भी काम नहीं चल सकता। भारतवर्षके इतने सद्भाग्य हैं कि आज यह एक ऐसी जीवितमूर्ति समझा जाता है कि जिसके जीवनमें त्याग और निष्काम कर्मयोगका अविरोध सहचार दर्शानेवाली उषा झलक रही है। जगतको इस उषाका पान अमृतमय हो !

× × ×

इतना कहनेके अनन्तर अब आसक्तिके विषय पर विचार करते हैं। रसोपभोगेच्छा और सौन्दर्यलिप्सा ये दो इसके स्तंभ या मूल हैं,इसे चाहे जो गिनें वह यही है। आसक्तिका वृक्ष

इन्हींको लेकर टिका है। अज्ञानका जल और मोहका आवरण (बाड)इसे धारण-पोषण दे रहे हैं।

दोनोंकी मर्यादा और वास्तविकता

रसोपभोगमें खाद्य पदार्थोंसे उसका आरम्भ होता है। कीडी, भोंरे, मक्खी, पशु आदि सबमें देखो, इनके परिग्रहकी मर्यादा इनकी खुराक जितनी ही दीखेगी। क्योंकि स्वशरीर और अधिक से अधिक इनका छोटासा कुटुम्बशरीर इनका क्षेत्र है। सौन्दर्य लिप्सामें भी इनकी मर्यादा विकारतृप्तिके लिए ही होगी।

मनोद्रव्यके विकासके बाद मानससृष्टिको देखेंगे तो उसमें रसोपभोगका भी विकास हुआ नजर पड़ेगा। आदमीका मन शृङ्गारसे क्रमशः आगे बढ़ते हुए ठेठ शान्तरस तक विकास होता देखा जाता है, आदमीकी सौंदर्यलिप्सा केवल विकारको शमानेसे ही तृप्त न होकर आगेका क्षेत्र शोधना चाहता है।

चित्रकला, शिल्पशास्त्र, स्थापत्य, विज्ञान, साहित्यशास्त्र, नाट्य, वाद्य, इत्यादि साधनसम्पत्तिका मूल सौंदर्यलिप्साके विकासको आभारी है। आज दिखनेवाले साधनोंकी विपुल और व्यवस्थित सामग्री रसोपभोगकी भूखका परिणाम है। तो भी अब तक तृप्ति नहीं आई इसीलिए यह विकासकी ओर गतिमान है और इस विकासकी प्राकृतिक सृष्टिमें आवश्यकता

भी अनिवार्य हैं। फिर अन्तमें विकास पाते पाते जहां पर विराम पाता है या पानेवाला है इसको शोधके लिए ही अना-सक्ति या त्यागके साधन आध्यात्मिक वैज्ञानिकोंने प्रजाको अर्पण किए हैं।

१-आध्यात्मिक विज्ञान रस और स्वादको अलग मानता है। सौन्दर्य और आकार-रूपको अलग मानता है। स्वाद तो जीभका विषय है। जीभ रही मनके आधीन और मन रहा आत्माके आधीन अर्थात् आत्माका स्वास्थ्य हो तब ही स्वाद रस दे सकता है। सारांश यह है कि रस आत्मानुभवजन्य है, पदार्थजन्य नहीं। इसी रीतिसे सौन्दर्य भी आत्मवेद्य है-२ शरीरवेद्य नहीं इसीके अनुसार एक आंग्ल तत्वज्ञने भी यही कहा है कि "Beauty is to see not to touch" सौंदर्य

---

१ इस रसको जैनपरिभाषाके अनुसार कोई अजीवके गुण की कल्पना न कर बैठे ! गीताजीमें कहा है कि—

"विषया विनिवर्तन्ते,निराहारस्य देहिनः। रसवर्ज्यं०" २-५६

स्वादेन्द्रियादिके विषय स्वाद न लेनेसे निवृत्त हो जाते हैं परन्तु इस तरह इनके ऊपरसे रसवृत्ति नहीं जाती।

२ विषयजन्य सौन्दर्यलिप्सासे होनेवाले पतनका क्रम देखो २-६-२ से आचारांगसूत्र ५-१-१ से। इसे देखनेसे स्थितप्रज्ञके लक्षणोंकी भी दोनोंके बीचकी समताका भान होगा।

निरीक्षण-वेद-अनुभवका ही विषय है। इसे भोगना या छूना न चाहिए।

इससे यह फलित हुआ कि रसोपभोगेच्छा या सौन्दर्य-लिप्साको विकृति हो आसक्ति और इसको संस्कृति ही अनासक्ति अर्थात् रसोपभोगेच्छा या सौन्दर्यलिप्साको अनासक्ति या त्याग झटका देकर तिरस्कृत नहीं करता, अन्तर में झोंक नहीं देता। मात्र वास्तविक रूपसे देखनेका आवाहन करता है। इतना समझनेके बाद त्यागका 'हाउ' भयंकर नहीं लगेगा बल्कि माता की गोदके समान मीठा लगेगा। × ×

एक मान्यता ऐसी है कि कर्मोंमें पाप है इसलिए कर्मोंका-

दोनों मान्यताओंमें सत्यका अंश तो है परन्तु उसे सर्वाङ्ग समझने-

अनासक्तिकी दृष्टि (३) श्रीभगवद्गीता

नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो× नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।१८-७।।

नियत× किए हुए कर्मोंका त्याग नहीं हो सकता,और जो कर्मसे व्याकुल होकर इसका त्याग करता है तो वह त्याग तामस त्याग गिना जाता है ।

×नियत कर्म और अनियतकर्म किसे कहते हैं ? यह एक गम्भीर प्रश्न है । और साधककी बुद्धि इसमें कईबार अनियत-कर्मको नियतकर्म ठहराकर या नियतको अनियत ठहराकर ठगती है, परन्तु सामान्य रीतिसे निःस्वार्थभावसे कर्म करनेकी आदत डाली जाय तो उसका अन्तःकरण सत्यको जाननेमें कभी न चूकेगा । फिर यह नाद सुनना या न सुनना उसकी इच्छाकी बात है ।

-त्याग करना और अनासक्ति अर्थात् सत्कर्म करना। इन -केलिए दोनोंकी दृष्टिओंका समन्वय करना आवश्यक है।

त्याग की दृष्टि (३) श्रीआचारांग

कम्मुणा सफलं द-ट्ठुं तओ णिज्जाइ पुव्ववी ॥४-४-६॥

नियत कर्म सफल ही है इसे देखकर उसके प्रति जो विरागभाव धारण करता है वही सच्चा पूर्वविद्-ज्ञानी है।

तं परिण्णाय मेहावी विदित्ता लोगं,
वंता लोगसन्नं×से मइमं परक्कमेज्जासि ॥३-१-१४॥

+श्री आचारांगकी परिभाषामें लोकसंज्ञा और लोकैषणा शब्दका प्रयोग अधिक प्रमाणमें हुआ है, और इसका अर्थ आगे दिया गया है। सामान्यरीतिसे प्रत्येकके पीछे स्वार्थ, मान, प्रशंसा पूजा या प्रतिष्ठादिके गर्भित हेतु प्रत्येक कार्यमें होते हैं। इसका त्याग ही लोकैषणाका त्याग है। फलत्यागमें भी यही दृष्टिकोण प्रधानतया होना चाहिए।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलं प्रेप्सुना कर्म, यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥१८-२३॥

नियत और सात्विक कर्म भी वह कहलाता है कि जिसमें आसक्ति रागद्वेष या फलकी इच्छाका समावेश नहीं है।

परन्तु यदि कोई कर्म से ही डरे तो उसकेलिए कहा है कि:—भाई! कर्मसे न डर। 'आरंभजं दुःखं' संसार और दुःख कर्मसे नहीं बल्कि आरंभसे होता है। इसलिए आरंभसे निवृत्त हो।

युक्तं कर्मफलं त्यक्त्वा, शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ॥५-१२॥

जो कर्मफलका त्यागी, कर्ममें उद्यमवान होता है।

मेधावी पुरुष विवेकपूर्वक समझकर लोकरुचिकी ओर न लुढ़कते हुए आत्माभिमुख होकर बर्ताव करे, क्योंकि आत्माभि-मुखता पूर्वक होता हुआ कर्म कर्मबंधनका कारण नहीं बनता।

'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं' अर्थात् जो सत्यदर्शी साधक होते हैं वे पापकर्मका समाचरण नहीं करते, इससे ऊपरकी बातको बहुत बड़ा सहारा (बल) मिलता है। ज्ञानीजनोंके लिए तो **'जे आसवा ते परिसवा** (४-२-१) जो अज्ञानियों को कर्मबंधका स्थान होता है, वही संवरका स्थान बन जाता है।

इसीलिए कर्मोंके दो भेद हैं; मूलकर्म और अग्रकर्म अथवा गाढ़ कर्मबंधन और शिथिल कर्मबंधन, कहा है कि:—

अग्गं च मूलं च विगिञ्च धीरे।
पलिच्छिन्दियाणं णिकम्मदंसी ॥३-२-५॥

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदका विवेक करके कर्म कर।

वह कर्म करते हुए नैष्ठिक शान्तिको पाता है। परन्तु जिसे फलमें आसक्ति है वह साधक कर्म न करते हुए; निवृत्त रहता हुआ भी कर्म से बंध जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥५-७॥

आत्मविजेता, इन्द्रियजित और सर्वभूतोंपर समभाव रखनेवाला पुरुष, कर्म करते हुए निष्कर्मा गिना जाता है, और वह कर्मलेपसे लिप्त नहीं होता।

अब हम गीताके निष्काम कर्मयोगका और श्रीआचा-

समता समभाव या सम्यक्त्वके रूपसे और भगवती गीतामें-

इसप्रकार कर्म करते हुए भी वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

परन्तु निष्कर्म शब्दका कोई दुरुपयोग न कर बैठे 'इसीलिए कहा है, कि जो पुरुष निष्कर्मा होता है वह नियत अथवा सहज कर्मका कर्ता होता है।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ
कम्मुणा उवाही जायइ ॥३-१३॥

निष्कर्माके जीवनमें उपाधि की धमाचोकडी नहीं होती एवं उनमें लौकिक देखाव-टीपटाप भी नहीं होती। इसका शरीर मात्र योगक्षेत्रका वाहन होता है।

——

-रांगमें बताए हुए त्यागका पाया कि जिसका जैनदर्शनमें
-समत्वके रूपसे निर्देश है उसकी तुलना करते हैं।

(४) समभाव

'समत्वं योग उच्यते' २-४८

समत्व ही योग कहलाता है।

इहैव तैर्जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥५-१९॥

जिसका समतामें मन है उसका सब संसार जीता हुआ है।

× श्रीगीताजी की आराधना भी यहींसे आरम्भ होती है। श्रीकृष्णचन्द्र पार्थसे कहते हैं कि "योगस्थः कुरु कर्माणि"। परन्तु योग क्या है? इसके उत्तरमें कहा है कि "समत्वं योग उच्यते" समत्व ही योग है। साधनाके प्रारम्भसे लगाकर उसकी सिद्धि तक उत्तरोत्तर भूमिकामें भी समत्वके लिए स्थान रहा ही है।

(४)+ समता

'समियाए धम्मे आयरिएहिं पवेइए' ॥५-३-२॥

समतामें ही धर्म है इस प्रकार आर्यों ने कहा है।

जं सम्मं ति पासइ, तं मोणं ति पासइ।

जहाँ सम्यक्त्व है वहीं मुनिपन है।

+श्रीआचारांगमें भी सम्यक्त्वसे ही जैनसाधककी दीक्षाका प्रारम्भ होता है और इसकी पराकाष्ठासे ही सिद्धि मानी गई है।

श्रीभगवद्गीता

समभाव

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुनः ।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥६-३२॥

प्रिय पार्थ ! आत्मसमानभावसे जो सब भूतोंके प्रति वर्ताव करता है तथा स्व या परके सुख या दुःखमें भी समभावी रहता है वह श्रेष्ठ योगी माना गया है ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु, समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६-९॥

मित्र, सखा, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, अबांधव, साधुसन्त या पापी इन सब पर जो समान बुद्धि रख सकता है वही सर्वश्रेष्ठ साधक है ।

समभावका बर्ताव जीवनमें दो प्रकारसे उतारा-
विचारात्मकरूपसे । समभावी पुरुष नोकर,चाकर,भाई-
इतना ही नहीं बल्कि अपनी तरह ही उनकी ओर-
जाता है और किसींके धर्मविचारों या मान्यताओंका
सहिष्णुता रखना विचारात्मक समभाव कहलाता है ।

श्रीआचारांग

समता

तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुज्जे भूएहिं
जाण पडिलेह सायं समिए एयाणुपस्सी ॥२-८-२॥

पंडित साधक प्रत्येक जीवोंके सुख-दु:खका विवेक जानकर सब भूतोंके ऊपर समभाव रखता हैं। किसीको दु:खी देखकर वह हर्षित नहीं होता एवं किसीको सुखो देखकर कुपित भी नहीं होता।

का अरइ के आणन्दे ? ३-३-९

समभावीको हर्ष शोक कैसा ?

नारइं सहए वीरे, वीरे नो सहए रइं।
जम्हा अविमणे वोरे, तम्हा वीरेण रज्जई ॥२-६-६॥

ऐसा समभावी साधक वीर और स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ) होता है इससे इसका चित्त किसी भी संयोगोंमें आसक्त नहीं होता। और आसक्ति ही हर्ष और शोकका कारण है।

जा सकता है। (१) क्रियात्मकरूप और (२) मान्यता या
वांधवादि किसी पर भी क्रोध,द्वेष इत्यादि नहीं करता,
व्यवहार करता है। यह क्रियात्मक समभाव गिना
भो द्रोह न करता हुआ उनके प्रति मध्यस्थता या

स्याद्वाद जैनदर्शनका तो सर्वोत्तम अंग है, यह-
अपेक्षावादके रूपमें भी पहचाना जाता है। बहुतसे-
कई स्थानोंपर विकृत रीतिसे उल्लेख किया है-
इनके अपने दृष्टिकोण देखकर उन उन मार्गोंका निद-
उनको विकासके पानेका अवसर देना अनेकान्तवादका-
इस ध्येयको अनुलक्ष्यमें रखकर गीताको संन्यासका मा-
भूमिका देखकर निष्काम कर्मयोगको ऊंचे स्वरसे-

अर्जुनके पहले ही प्रश्नमें श्रीकृष्णचन्द्रने स्याद्वादके द्वार खोलकर कहा है कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयसकरावुभौ ॥५-६
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥५-४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः, संसिद्धि लभते नरः ॥१८-४५

संन्यास और कर्मयोग दोनों उत्तम हैं, तब लौकिक कहावत के अनुसार दूध और दही में पैर रखने जैसी बात कहकर अर्जुनको विस्मयमें डाल दिया इसीलिए इसने फिरसे पूछा कि भगवन्! सच्चा निश्चित कहिए न? कि दोनोंमें उत्तम कौन है? इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि, भाई! घबराने की क्या बात है, सांख्य और योग अर्थात् निष्काम कर्मयोग और संन्यास ये दोनों वस्तु बालकोंको ही अलग लगती हैं, पंडितोंको नहीं क्योंकि इन दोनोंका ध्येय एक ही है। योग्यतानुसार मनुष्य योग्य मार्ग पकड़ लेता है और संसिद्धिको पा सकता हैं।

-सुविदित ही है। और इसे अनेकान्तवाद अथवा
-विद्वानोंने स्याद्वदका रहस्य न समझकर उन्होंने इसका
-पदार्थोंकी अलग अलग भूमिकाओंमें रहे हुए साधकोंको
-र्शन कराना और मान्यता भेद होते हुए अविरोधरीतिसे
-ध्येय है।
-हात्म्यसर्वथा मान्य होते हुए श्रीकृष्णचंद्रने अर्जुनको
-पुकारा है।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है। इस बातकी स्पष्टता द्वारा श्रीआचारांग स्याद्वादका सिद्धान्त समझाते हुए कहता है कि—

इह एगे वायाओ विप्पउञ्जन्ति तंजहा:—अत्थि लोए, णत्थि लोए; धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए; सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडे त्ति वा दुक्कडे त्ति वा; कल्लाणे त्ति वा, पावे त्ति वा; साहु त्ति वा, असाहु त्ति वा; सिद्धि त्ति वा, असिद्धित्ति वा; णिरए त्ति वा, अणिरए त्ति वा, ८-१-३
समियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया वा होइ उवेहाए। (५-५-६)

इस विश्वमें लोकरुचिकी विचित्रताके अनुसार अलग अलग वाद, मत तथा मान्यताएँ प्रवर्तित हैं। और उनमेंसे कई तो उपलक दृष्टिसे परस्पर विरुद्ध भी देखे जाते हैं। जैसें कि लोकका अस्तित्व और नास्तित्व, लोकका नित्यत्व और अनित्यत्व, लोकका अंत और अनंत आदि। कोई सत्कर्ममें, कोई दुष्कर्ममें, कोई कल्याणमें, कोई पापमें प्रवृत्ति करते हुए नजर

(६)

+श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेंद्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४-३६॥

संयमी और व्याकुल साधक भी श्रद्धासे ही ज्ञान और ज्ञान पानेके बाद तुरन्त ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। सारांश यह है कि सम्यग्ज्ञानका मूल श्रद्धा है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति ।
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ॥४-४०॥

अज्ञानी या अश्रद्धालु प्रायः सर्व क्षेत्रोंमें सदैव संशयशील रहता है अर्थात् चित्तकी डावाँडोल स्थितिमें सुख नहीं पा-सकता एवं इस लोक या परलोकमें कुछ भी जान नहीं सकता।

(७)

वीरता

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! ॥२-३॥

प्रिय अर्जुन ! कायर न हो। वीर बन।

+श्रद्धाके दो अंग (१)वीरता और (२)अर्पणता हैं। क्योंकि निर्बल, स्वार्थी, अविवेकी, अभिमानी या दंभी पुरुष श्रद्धा नहीं कर सकते और कर बैठें तो टिक नहीं सकती।

आते हैं। कोई साधुजन तो कोई पापी, कोई सिद्धि(मोक्ष)को मानने वाला, कोई न माननेवाला, कोई कर्मजन्य फलसे नरकादि गतिका माननेवाला, कोई न माननेवाला भी नजर पड़ रहा है।

ये सब मान्यताएँ दृष्टिभेदमें से उत्पन्न हुई हैं। यह मत सच्चा या वह मत सच्चा, यह उत्तम या वह उत्तम, यह मात्र-दृष्टिभेद है। जिसकी सम्यग्दृष्टि है उसको सर्वथा सम्यग मिलता है। स्याद्वादकी कुञ्जीसे दृष्टिभेदकी भिन्नताका भेदन किया जा सकता है, और सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो सकती है।

निश्चल श्रद्धा

(६)

जाए*सद्धाए निक्खन्ते तमेव अणुपालिया, वियहित्ता विसोत्तियं ॥१-३-१॥

साधक जिस श्रद्धासे साधनामार्गमें प्रविष्ट होता है उसे दूसरी शंकाएं छोड़कर उसीका निश्चय पूर्वक पालन करना चाहिए, क्योंकि साधनाकी स्थिरता श्रद्धासे ही होती है।

वितिगिच्छं समावण्णेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं ॥५-५-२॥

संशयात्मा समाधि(शांति)नहीं पा सकता।

(७)

वीरता

पणया वीरा महावीहिं ॥१-३-२॥

साधनाके इस मार्गमें वीरपुरुष ही आगे बढ़ सकते हैं। अर्थात् वीरताकी पहले आवश्यकता है।

---

*सम्यक्त्व या समत्वका मूल श्रद्धा है। श्रद्धा विना साधक साधनामें प्रवेश नहीं कर सकता। यह मान्यता दोनों जगह समान स्थान प्राप्त है।

सत्याराधना

यहां साधकका प्रश्न होता है कि श्रद्धा किसपर-मिलता है कि श्रद्धेय स्वावलंबन दो हैं(१)सत्य और-सत्यका आराधन सुलभ नहीं ।

मामेकं शरणं व्रज १८-६६

मेरे शरण में आ ।

चेतसा सर्वकर्माणि, मयि१ संन्यस्य मत्परः ।।१८-५७।।

चित्त और सब कर्मोंको मुझमें अर्पण कर दे ।

क्योंकि

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात्तरिष्यति ।।१८-५८।।

मुझमें लीन होकर मेरे प्रसादसे तू कष्टोंसे पार हो जायगा ।

अहं त्वाँ सर्वपापेभ्यो;मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।१८-६६।

प्रिय अर्जुन ! तू मुझमय हो जा । मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ाकर मुक्त कर दूंगा ।

सत्यकी आज्ञामें रहना अर्थात् ब्रह्मचर्यप्रिय, अप्रमत्त, सहिष्णु, अहिंसक, संयमी, एकान्तप्रिय और तपस्वी बनना ।

१श्रीआचारांगमें जहाँ सत्यका प्रयोग है वहाँ गीताजी में 'अहं' वाची शब्दका प्रयोग है 'अहं' में प्रभुत्वका आरोपण है अर्थात् वहाँ सत्यका साकार स्वरूप है ।

सत्याराधना

—की जाय ? श्रद्धाका अवलंबन क्या है ? तब उत्तर
—सत्यका जीवन्त स्वरूप सद्गुरु, इनमें पूर्ण अर्पणता बिना

आणाए मामग धम्मं ॥६-२॥

मेरा जैनधर्म आज्ञाके ऊपर ही निर्भर है ।

सड्ढी आणाहि[1] मेहावी ॥३-४-७॥

बुद्धिमान और श्रद्धार्थी पुरुषका सदैव आज्ञापरायण रहना चाहिए । क्योंकि

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ! सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ, सहिए धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ ॥३-३-१३॥

साधक ! तू सत्य पर पूर्ण प्रतीति रख । सत्यको आज्ञामें उत्साहवान् रहनेवाला धीमान् साधक श्रद्धाविहित धर्मका अवलंबन लेकर सत्यको पाकर संसार से तर जाता है ।

सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेइ ॥२-१-७॥

सत्यमें धैर्य रखकर जो बुद्धिमान साधक सत्यमें स्थिर होता है वह सब पापोंको दूर कर सकता है ।

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं ॥३-४-५॥

जो सत्यकी आज्ञामें है उसे जगतमें किसीका भी भय नहीं रहता वह सर्वथा सनाथ और निर्भय है ।

१—आराधना, अर्पणता या भक्तिके नामसे कोई अनिष्ट तत्व न घुस जाय अर्थात् श्रीआचारांगकार 'सत्यकी आराधना' करके व्यक्तिपूजा नहीं बल्कि गुणपूजाका मार्गदर्शन कराते हैं ।

ब्रह्मचर्य

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा,रागद्वेषौ व्युदस्य च।।१८-५१।।

साधक पवित्र भावनासे और धीरजसे युक्त होकर आत्म-संयमी बने और शब्दादि विषयोंको छोड़कर रागद्वेषको घटावे।

विषयसंयम ही साधनाका जलसिंचन करता है। इसके विना साधनाका वृक्ष सूख जायगा, कुम्हला जायगा और अन्त में पड़ जायगा।

विषयनिरोधके ऊपर इतना अधिक महत्व किसलिए? इसके उत्तरमें श्रीगीताजीकी सूचना है कि:—

ध्यायतो विषययान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।२-६२।।
क्रोधाद्भवति संमोहः, संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो,बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।२-६३।।

विषयचिंतनसे आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्तिसे कामविकार पैदा होता है। विकारसे आवेशका उद्भव होता है। आवेशसे संमोह और संमोहसे स्मृति नष्ट होती है। सद्वुद्धिका नाश हुआ कि वास्तविक जीवन जैसा कुछ नहीं रहता, अर्थात् भावमरण हो जाता है।

(६)

ब्रह्मचर्य

जस्सिमे सद्दा य, रूवा य, गंधा य, रसा य, फासा य, अहिसमन्नागया भवन्ति, से आयवं, णाणवं, वेयवं, धम्मवं, बंभवं ॥३-१-३॥

जिसने शब्दादि विषयोंको विवेकपूर्वक जानकर छोडा है वही आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मज्ञ कहलाता है।

जं गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे ॥२-१॥

विषय ही संसारके मूलकारणभूत हैं यह कैसे ? इसके उत्तरमें कहा है कि:—

गुरू से कामा, तओ से मारस्स अन्तो, तओ से दूरे ॥५-१-१॥

यह अब्रह्मचर्य भयंकर है। क्रमशः इसके द्वारा आध्यात्मिक मृत्यु होती है। और आध्यात्मिक मृत्यु होते ही साधक को साधनासे पतित हुआ ही समझो।

(१०)

विवेक-जागृति

अप्रमत्तता

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ।।२-६९।।

जहाँ जगतके सब जीवोंकी रात है, वहां संयमी पुरुष जाग्रत रहता है, और जहां जीव जागते हैं वहाँ विवेकी मुनि उदासीन रहता है । इस सूत्रका भाव यह है कि संसारके जीव जागें ।

पूर्वाध्यास वृत्तिको विषयोंकी ओर बार बार खींचते हैं, इसलिए सदा अप्रमत्त-जाग्रत रहना चाहिए ।

(११)

सहिष्णुता -

समदुःखसुखः स्वस्थः, समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी, गुणातीतः स उच्यते ।।१४-२४-२५।।

सुख आवे या दुःख परंतु यदि आत्मलक्षी रहकर प्रिय, अप्रिय, निन्दा, स्तुति, मान, अपमान, तथा मित्र या शत्रुके प्रसंगमें समभाव वेदी संरंभसे मुक्त रहता है वही गुणातीत कहलाता है ।

(१०)

विवेक-जागृति

अप्रमत्तता

अप्पमत्तो कामेहिं उवरता पावकम्मेहिं ॥३-१-६॥
सव्वतो पमत्तस्स भयं,अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ॥३-४-३॥

जो अप्रमत्त पुरुष हैं उन्हें विकार पीडित नहीं करते। और वे पुरुष पापकर्मों से विरत होते हैं। प्रमादीको सर्वत्र भय है। अप्रमादी सर्वत्र निर्भय है।

अणन्न-परम-णाणी नो पमाए कयाइ वि।
आयगुत्ते सया धीरे, जाया-मायाए जावए ॥३-३-४॥

मोक्षध्येयी ज्ञानीपुरुष कभी प्रमाद नहीं करता। आत्मगुप्त धीर होकर देहको मोक्षका साधनरूप मानकर निर्वाह करता है।

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सययं जागरन्ति ॥३-१-१॥

अज्ञानी जन सदा ही सोए पड़े रहते हैं, ज्ञानीजन निरंतर जागते रहते हैं।

(११)

सहिष्णुता

जावज्जीवं परीसहा उवसग्गा य संखाय।
संवुडे देहभेयाए इति पन्नेऽहियासए ॥
सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए आउ-कालस्स पारए।
तिइक्खं परमं नच्चा,विमाहण्णयरं हियं॥८-८-२४-२५॥

आत्मसंयम रखकर देहकी पर्वाह न करते हुए जीवन पर्यन्त संकट सहन करना चाहिए।

तितिक्षामें ही सर्वोत्तम आत्महित समाया हुआ है।

अहिंसा

वास्तविक रीतिसे तो जैनदर्शनकी व्याख्याके अनुसार
दश प्राणोंमेंसे किसी भी प्राणका नाश करना, कराना
मनसे हो, वाणीसे हो, या कर्मसे हो परंतु वह हिंसा
क्रिश्चियानीटी व्यक्त ज्ञानमयी चेतनावाले प्राणोंकी
और त्रस दोनों प्रकारके जीवोंकी हिंसामें हिंसा मानती
संस्कृतिकी गहरी छाप तर कर ऊपर आ जाती है।

* * *

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च। १२-१३॥

किसी भी जीव पर द्वेष न करो। सर्वभूतोंके—१ प्रति मित्रभाव और अनुकम्पाभाव रक्खो।

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन!
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥६-३२॥

जैसे अपनेको जीवन! सुख, सन्मानादि प्रिय है वैसे ही सबको प्रिय है इसलिए हे अर्जुन! जो सर्वत्र समभावसे देखता हैं वही योगी है।

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥६-२९॥

सब जीवोंको अपने समान मानकर जो योगप्रयुक्त होता हैं वह सर्वत्र समदृष्टि भाव रख सकता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां, भजत्येकत्वमास्थितः॥६-३१॥

सब जीवोंमें मैं(सत्-स्वरूप)एक रूपमें रहा हुआ हूं, ऐसा जानो।

१—भूत अर्थात् वनस्पतिके जीव, प्राण-विकलेंद्रिय जाव, जीव अर्थात् पंचेन्द्रिय प्राणी और सत्व-पृथ्वी, पानी, वायु और अग्निके जीव।

अहिंसा

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमत्तयोगसे
या जानते-अजानते हुए अनुमोदन करना, फिर वह
हिंसा ही है।
हिंसामें हिंसा मानता है। परन्तु श्रीगीताजी स्थावर
है। अहिंसाकी यह विस्तृत व्याख्या है। इसमें जैन-

निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं सव्वेसिं
पाणोणं सव्वेसिं भूयाणं,सव्वेसिं जोवाणं सव्वेसिं सत्ताणं
असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ॥१-६-२॥

प्रत्येक जीवोंकी शान्तिका लक्ष्य रक्खो, अशान्ति सबको
दुःखकर और भयंकर है।

सव्वेपाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा, पियजोविणो, जोविउं कामा, सव्वेसिं
जीवियं पियं ॥२-१०-११॥

सब जीवोंको जीवन और सुख प्रिय होता है और दुःख
और वध अप्रिय होता है। क्योंकि सब जीवोंको जोना अच्छा
लगता है, मरना कोई नहीं चाहता। वास्तव में—
तुमंसि नाम तं चेवं जं हन्तव्वं ति मन्नसि।

जिसे तू मारने योग्य मानता है वह तू स्वयं ही है।
सारांश यह है कि दूसरोंकी हिंसा करनेसे पहले तू अपने आत्मा
को मार कर फिर ही दूसरे को मार सकता है।

(१३)

+संयम

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥६-३६॥

असंयमी साधक साधनामार्गको नहीं पा सकता परन्तु जो संयमी और प्रयत्नशील है वह उपाय द्वारा तुरंत ही योगका आराधन कर सकता है।

(१४)

तपश्चर्या

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीरपरिग्रहः ॥६-१०॥

योगीपुरुषको सदैव एकान्तवाससेवी, तपस्वी और निष्परिग्रही होकर साधना करनी चाहिए।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७-१९॥

परन्तु मूढ रूढिसे या पीडापूर्वक दूसरेके अकल्याणके लिए या ऐसी दूषित इच्छासे ग्रहण किया हुआ तप तामसिक तप है। इसलिए एक आत्मलक्षी तप ही होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त स्थितप्रज्ञमुनि तथा साधकके-साम्य नितार किया जा सकता है। यहां अधिक-और श्रीभगवद्गीताका कितना साम्यवाची झुकाव है-दृष्टिकोणका साम्य यहां देना चाहता हूं। इसमें-पहले पृष्ठ पर खेंचा जा चुका है।

+पूर्ण अहिंसा संयम के विना शक्य नहीं।

(१३)

संयम

अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं वीरे आयगुत्ते,
जे खेयण्णे दुरणुचरो मग्गो वीराणं ॥३-१-३॥

वीरसाधकको पापकर्मोंसे हट कर अप्रमत्त और जितेंद्रिय बनकर संयममें प्रवृत्त रहना चाहिए क्योंकि असंयमीकेलिए साधनाका मार्ग दुश्चर है, फिर चाहे वे वीरपुरुष ही क्यों न हों।

(१४)

तपश्चर्या

इह आणाकंखी पंडिए अनिहे। एगमप्पाणं सपेहाए धुणे सरीरगं ॥४-३-४॥

सत्पुरुषको आज्ञाका पालक पंडित किसी भी प्रकारकी वासना या भौतिक इच्छा रक्खे विना मात्र एक आत्मोन्नतिका लक्ष्य रखकर देहदमन करे।

जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ।
एवमत्तसमाहिए अणिहे ॥४-३-६॥

जैसे जीर्ण-पुरानी लकड़ियोंको अग्नि शीघ्र जला डालता है। ऐसे ही जो आसक्तिरहित और आत्मलक्ष्यी साधक होता है वह कर्मोंको शीघ्र जला डालता है।

-लक्षणों द्वारा छोटी बड़ी अनेक साधना-प्रणालिकाका
-विस्तारसे विवरण नहीं दिया है। इससे श्रीआचारांग
-इसका स्पष्ट ध्यान आजायगा। अब में एक और नवीन
-शाब्दिक एकता का भी समावेश है। इसका रेखाचित्र

परिच्छेद(३)समानार्थक शाब्दिक-

श्रीभगवद्गीता

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४-१९॥

जिसने काम-संकल्प रहित सारे समारम्भोंको जान लिया है उसीको ज्ञानीपुरुष ज्ञानरूपी आगसे दग्ध हुए कर्मवाला और बुद्धिमान साधकके रूपमें पहचाना गया है।

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जागर्ति भूतानि,सा निशा पश्यतो मुनेः ॥२-३९॥

सब जीवोंकी जहां रात्रि है वहां संयमी जागता है और जहां ज़गतके जीव जागते हैं वहाँ संयमी उदासीन है ।

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मातमनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

आत्मासे आत्माका उद्धार हो सकता है, इसलिए आत्मा का पतन न कर। आत्मा ही आत्माका शत्रु है। जिसने अपने आत्माको जीत लिया है उसका वह बंधु है, परन्तु जो वृत्तिके आधीन होकर आत्माको नहीं जीत सका उसका आत्मा शत्रु के समान है ।

इतनी सी रूपरेखाके बाद श्रीगीताजी और श्री-

है। परन्तु इसके बाद जिज्ञासु साधकको भारतीय-

उसे जाननेकी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसलिए-

पर भो सर्वतोव्योपो मीमाँसा आनेवाले प्रकरणमें-

समन्वय

श्रीआचारांग

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया ।
भवन्ति से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे-त्ति बेमि ॥१-१-९॥

इस लोकमें जिसने कर्म-संमारंभोंको जान लिया है वही कर्मयोगी और मुनिसाधक गिना जाता है, ऐसा मैं कहता हूं ।

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सया जागरंति ॥३-१-१॥

जहाँ अज्ञानी जन सोए पड़े हैं, वहां ज्ञानीजन सदा जाग्रत रहते हैं ।

कस्सेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ।४ ३ ५। तुमं चेव तं सल्लं आहट्टु ॥२-४-८॥

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ? ॥३-३-१०॥

तू अपने आत्माको कस, आत्माका ही दमन कर, तू स्वयं ही अपना संसार शल्य निकाल डालनेमें समर्थ है । हे आत्मन् ! तू ही अपना मित्र है, वाहरके मित्रोंको कहां ढूँढ रहा है ?

आचारांगसूत्रके बोंचकी साम्यताका खयाल आ जाता दर्शन और जैन संस्कृति के बीचमें क्या संबंध है । इस दृष्टिको ध्यानमें रखकर षड्दर्शन की संक्षिप्त होने करेंगे ।

प......ड्......द......र्श......न......की

संक्षिप्त-मीमांसा

प्रस्तुत प्रसंगमें हम षड्दर्शनकी संक्षेपमें मीमांसा करेंगे:-

इस लेखमें बहुत कुछ ऐसा भी है कि जिसे साधक न पढे तो भी काम चल सकता है। विशिष्ट जिज्ञासुको यह इच्छा भी रहेगी कि इसमें क्या होगा ? इसे देखना भी चाहिए इस दृष्टिसे यह लेख लिखे देता हूं।

षड्दर्शनका इतिहास

षड्दर्शनका इतिहास बड़ा मजेदार है। इन दर्शनोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे समय निश्चित करना प्रस्तुत नहीं है। इतिहासकार अब तक इनका समय निश्चित नहीं कर सके हैं। यह एक संशोधनका विषय है। तो भी तत्वचिन्तनकी दृष्टिसे और मेरी अपनी दृष्टिसे इसे अति महत्वका स्थान भी नहीं है। इतिहासशोधनकी दृष्टिसे तो अच्छा है परन्तु इसीमें उलझ कर पड़े रहना साधककेलिए ठीक नहीं। इतिहास सहायक है, मौलिक नहीं। तत्व या सिद्धान्त ही मौलिक होते हैं।

षड्दर्शनका नाम और इस विषयका रस तो एक सामान्य

वाचकसे लगाकर विद्वानवर्ग तक होना स्वाभाविक है। यहाँ तो इसका क्रमिक विकास दिया जाता है।

दर्शनोंका क्रमिक विकास

दर्शन दृष्टिको कहते हैं। अंधश्रद्धाके सामने युक्तिवादका जो अविराम युद्ध चला आ रहा है, इसका नाम भी दर्शन है। ये सब दर्शन कबसे हैं यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसके संशोधक यह मानते हैं कि प्राथमिक दशामें मानव समाज जहां तक अध्यात्मवाद या तत्वचिंतन करनेकी योग्यता नहीं रखता था वहाँ तक कर्मकांण्ड अपना आधिपत्य जमाये हुए था और इस कर्मकाण्डकी जटिलताके वाद किसी समय अध्यात्म-वाद और तत्वचिंतनका विकास हुआ अर्थात् कर्मकाण्डके सामने इसका युद्ध हुआ और अध्यात्मविद्याका युग प्रारंभ हुआ।

ई० स० पूर्व १५०० वर्षसे लगाकर भारतका प्राचीन युग शुरू होता है। इसके वाद १००० वर्षका मध्ययुग और तत्पश्चात् मुसलमानी आक्रमणके पीछे नयायुग आरभ होता है। यह भारतके प्राचीन युगके पहले आर्यसस्कृतिका क्या स्वरूप था? आर्य कहाँ से और कब आए? वैदिक संस्कृति का उद्गम और विकास कबसे हुआ? वोवोलोनियन सँस्कृति के साथ वैदिक संस्कृतिका मेल है या नहीं? सुमेरियन सँस्कृति और बोबीलोनियन संस्कृतिका क्या संबध है? इत्यादि। यह इतिहास भी अभी संशोधनका विषय है परंतु यह ज्ञातव्य अवश्य है। और इसके लिए यहाँ चर्चा करना प्रस्तुत नहीं।

यहां तो मैं प्रस्तुत सूत्रसे सँबंध रखनेवाली बातोंके विषयमें ही षड्दर्शनके प्रश्नका चर्चन करूंगा।

श्रमण भगवान् महावीरका काल अर्थात् ई० पू० ५२७ वर्षका काल। इसका समावेश मध्ययुगकी आदिमें ही होता है। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों समकालीन थे। यद्यपि इनसे पहले भी आध्यात्मिक चिन्तन, तपका अनुष्ठान और जीवदयाकी भावना; ये तत्व न्यूनाधिक प्रमाणमें थे ही। जैन सँस्कृतिका उद्गम प्राचीनतम है। श्रमण पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक पुरुप हुए हैं। अर्थात् इस संस्कृतिके बीज पहलेसे ही बोये हुए तो थे ही, परन्तु वैदिकमन्त्र और ब्राह्मणयुगके विस्तृत और जटिल कर्मकाण्डका जोर होनेसे इन सद्गुणोंकी पूजाका स्थान अति अल्प था।

प्रसिद्ध छ दार्शनिक

हमको षड्दर्शनोंका नाम लेते ही सांख्यादि दर्शनोंके नाम याद आ जाते हैं। क्योंकि इतिहास और साहित्यकी दृष्टिसे ये नाम बिल्कुल नजदीक हैं। तो भी भगवान् महावीर के समय में भी दर्शन तो थे ही। इनके समकालीन म० बुद्धके प्रारंभिक साहित्यमें इनका और इनके प्रणेताओंका उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—

(१) **पूरण काश्यप**—जिसे अक्रियावादीके रूपमें पहचाना जाता है।

(२) मक्खली गोसालक÷इस वादको संसारशुद्धिवाद या नियतिवाद कहा जाता है।

(३) अजितकेसकंबली—उच्छेदवाद।

(४) पकुद कात्यायन—अन्योन्यवाद।

(५) जैनसंघ-पार्श्वापत्यीय—चातुर्याम संवरवाद।

(६) संजय वेलट्ठिपुत्त—विक्षेपवाद।

जैसे हम पहले कह आये हैं, ऐसे ही ये दर्शन भी वेदोक्त क्रियाकलापके विरोधमें उत्पन्न हुए थे। और एक या दूसरी तरह इनका क्रियाकाण्डोंके सामने समान विरोध था। इन छ दर्शनोंको जैनदर्शनमें चार विभागोंमें समाविष्ट किया है।

(१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी।

मुख्य तीन दर्शन

मक्खलीपुत्र गोशालकके विनयवादका अक्रियवादमें समा-

÷मक्खलीपुत्त गोसालक श्रमण भगवान महावीरका शिष्य था। परन्तु मतभेद होनेपर इसने नया मत स्थापन किया। यद्यपि इसका कोई स्वतंत्र साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु जैन और बौद्ध सूत्रोंमें जो बात-कारण उपलब्ध होता है इससे यह पूर्ण सत्य पर प्रतिष्ठित हो या न हो चाहे विवादास्पद ही हो तो भी इस प्रकार मानने का कारण मिलता है कि उस समय यह मत अधिक दृढ़रूपमें था। इसकेलिए 'उत्थान' के महावीरांकमें खुशालदासं करगथलाका लेख पढ़ें।

वेश है। और बौद्धदर्शनका क्रियावादमें समावेश है। इन चारों वादोंकी मान्यताका संक्षिप्त स्थान आचारांगके आठवें 'विमोक्ष' नामक अध्ययनके पहले उद्देशकमें है, और विस्तृत रीतिसे श्रीसूयगडांगसूत्रमें वर्णन है। जैसे बौद्ध त्रिपिटकमें इन छः वादोंके विस्तारसे ६२ भेद कहे हैं वैसे ही जैनदर्शनमें इन चारोंके ३६३ भेद बताये हैं, तथापि मध्ययुगके प्रारंभमें केवल तीन धर्म थे। इसका समाधान आचार्य धर्मानंदकोसांबी इस तरह करते हैं:—

"पूरणकास्यप और मक्खली गोसालकका मत जल्दी नाश हो गया। संजय बेलट्ठिपुत्रका मत जैनसंस्कृतिमें समा गया, अजितकेसकंबलीका मत चार्वाक या लोकायतके रूपमें बदल जानेसे वह नास्तिक ठहराया गया और पकुद कात्यायनमतके तत्व उस समय तो दब गये थे, परन्तु पीछेसे वैशेषिकदर्शनमें उसका उद्गम नजर आने लगा। अर्थात् इस रीतिसे उस युग में वैदिक, जैन और बौद्ध ये ही तीन दर्शन मुख्य थे, और उनका स्थान जैन, वेदधर्म और बौद्धधर्मके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ।"

वैदिक कर्मकाण्डोंके सामने जैन और बौद्धधर्मका प्रकोप हुआ। इसके कारण वैदिक कर्मकाण्ड जीर्ण हो गए इस बातका यहाँ विस्तार प्रस्तुत नहीं है। परन्तु जैसे जैन और बौद्धसंस्कृतिमें कर्मकांडका विरोध था वैसा ही उपनिषदोंमें भी था। चाहे फिर ये छुपे आकारमें ही रहे हों! इस संबंधमें श्रीहरिराय

भट्टाचार्यजी मुंडकोपनिषदका उदाहरण जिनवाणीमें इस भाँति प्रस्तुत करते हैं ।:—

प्रवाह्यते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोकमवरंशेषु कर्म ।
एतत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपि यान्ति ।। मुंडकोपनिषद् १-२-७

यज्ञ और उसके अठारह अंग एवं कर्म सब अदृढ और विनाशशील हैं । जो मूढजन इन सबको श्रेय-अच्छा मानते हैं, वे बार बार यश और मृत्युके फेरमें पड़ते हैं । देखो जिनवाणी पृष्ठ—७ ।

परन्तु यह निषेध छुपा हुआ और वेदमतके अन्तर्गत था यह कह देना आंवश्यक है ।

दर्शनोंका प्रारंभ और उनकी प्रणालिका

इसके बाद दर्शनोंका विकास होता है । दर्शनोंका जन्म चार्वाक मुनिके युक्तिवादने दिया है, ऐसा बहुतसे विद्वानोंका मत है, और यह सप्रमाण और सप्रतीत अभिप्राय है । कालकी दृष्टिसे पुरातत्वविद ऐसा कहते हैं, कि दर्शनोंका प्रारंभ ई० पूर्वकी पहली शतीसे हुआ है । और इसमें सांख्यका कपिल सबसे पहला है ।

षड्दर्शनोंका क्रम विविध प्रकारसे मिलता है, आओ इस

पर विचार करें:—उर्दू इतिहासमें मैंने देखा है कि ×सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा ये छहों दर्शन वेदधर्मजनित होनेसे वेदवारिधिको मिलनेवाले छ विविध मधुर स्रोत—इन्हें झरनेके रूपमें गिना जायं तो अत्युक्ति न होगी। इन छहों के प्रणेता क्रमशः कपिल, पतंजलि, गौतम अक्षपाद(न्यायदर्शनमें प्राचीन और नवीन ऐसे दो मत हैं। प्राचीन न्यायदर्शनके प्रणेता गौतम मुनि और नवीन न्यायके प्रणेता अक्षपाद हैं)। कणाद, जैमिनि तथा बादरायण। इस क्रममें जैन या बौद्धका समावेश नहीं। विद्वान् इसके दो कारण कल्पित करते हैं। एक तो ऊपरके सब दर्शनोंमें ईश्वरकर्तृत्व या ईश्वरप्रेरकताका तत्व है। यह तत्व जैनदर्शन या बौद्धदर्शनमें नहीं। अर्थात् इसका संग्रह नहीं है। दूसरा कारण यह है, कि इन दर्शनोंका मात्र वैदिक धर्मों में स्थान होनेसे इसमें जैनदर्शन या बौद्धदर्शनको स्थान नहीं है। क्योंकि ये दोनों तो वेदधर्मसे बिल्कुल स्वतंत्रदर्शन हैं। मेरी स्वतन्त्र मान्यता यह है, कि जैनदर्शन अर्थात् सत्यदर्शन! यह सबका समाहार करे या सन्धान करे इतना ही इसका कार्य। इसे समुद्रकी उपमा दी जा सकती है। एक आचार्यवरने बहुत सुन्दर कथन किया है कि:-

---

×श्रीधर्मानन्द कौसांबी सांख्यदर्शनके कपिलमुनिको जनक से पहले ही मानकर बुद्धदेवसे दो शती पहले हुआ मानते हैं। इन सबमें इतना तत्व तो है ही, कि दर्शनक्रमोंमें सांख्य दर्शनका सहारा अमोघ है और वह सबसे प्रथम है। यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता।

उदधाविव सर्वसिन्धवः प्रविभक्तासु
सरित्सु न हि तासु भवान् विदृश्यते ॥

आचार्य आनंदघनजी महाराज भी कहते हैं कि 'षड्दर्शन जिन अंग भणीजे।' यदि ये छहों दर्शन अंग हैं, तो जैनदर्शन अंगी है।

इतना होते हुए जैनसंस्कृतिका प्रचार करनेकेलिए जैनर्शनको भी१ दर्शनके रूपमें आलेखन करनेका प्रयत्न हुआ है, और इस तरह बौद्धदर्शनको परम्परानुसार-२ जैनन्यायकी परम्परा भी प्रचलित हुई।

अर्थात्३ श्रीहरिभद्रसूरीजो इसप्रकार छ दर्शनोंका क्रम बताते हैं।

१--दर्शन प्रणालिका का मंडन ही युक्तिवाद-तर्क पर मान्य होनेसे इसके लिए प्रमाण और उसके अवयवोंका प्रविष्ट होना स्वाभाविक है। तो भी जो प्रत्यक्षादि प्रमाण और उसमें अवगाहन करनेके साधनरूप नय, निक्षेप, सापेक्षवाद इत्यादि अंग रचे गये। इस साहित्यका बीज तो मूल आगमोंमें और उनकी टीकाओंमें भी पुष्कल प्रमाणमें मिलता है अर्थात् जैनसंस्कृतिकी रचना केवल तर्क और केवल कर्मकांड पर नहीं बल्कि भावना, सत्कर्म और अनुभूति ये तीन इसके मूल बीज हैं।

२--जैनाचार्यों ने सन्मतितर्क जैसे प्रौढ न्यायग्रन्थोंकी बहुतसी स्वतन्त्र रचना करके न्यायपरम्पराको वेग दिया है।

३--विविध दर्शनोंको अवलोकन करनेकेलिए श्रीहरिभद्रसूरि तथा राजशेखरका 'षड्दर्शन समुच्चय' इसकी टीका तथा श्रीसूयगडांगकी टीका पढ़ें।

बौद्धं, नैयायिकं, सांख्यं, जैनं, वैशेषिकं, तथा ।
जैमिनीयनामानि, दर्शनानाममून्यहो ॥

इस दर्शनक्रममें योगदर्शनको स्थान नहीं दिया, संभव है इसका सांख्यमें समावेश कर देना योग्य लगा हो। वे यह भी कहते हैं, कि नैयायिक और वैशेषिकका भी मौलिक अत्यन्त मतभेद न होनेके कारण इन दोनोंको एक रूपमें देखें तो लोकायतका भी ऊपरके छः दर्शनोंमें समावेश हो जाता है। श्रीहरिभद्रसूरिके इस दृष्टिकोणमें इनका उदार मानस अभिव्यक्त होता है क्योंकि लोकायत, कि जो केवल नास्तिक रूपमें ही प्रसिद्ध है, इसका दर्शनमें स्थान न होना माना जाता है, उस मान्यताका यह परिहार करता है। इनके मनसे दर्शन अर्थात् आस्तिक या नास्तिकका, ईश्वरकर्तृत्वका या अनीश्वरवादका प्रश्न गौण है और इसी दृष्टिसे नवीन दृष्टि, नूतन विचारसरणी और नूतन प्रेरणा दे वही दर्शन, इतना अर्थ अधिक समुचित है।

एक जैनाचार्य कहते हैं कि—

'जावन्ति होइ वयणपहा, तावन्ति होइ नयपहा।'

जितनी मान्यता उतने ही नय हो सकते हैं। यह कुछ बाधक वस्तु नहीं है। रूढ प्रणालिकाका प्रहार करनेकेलिए ऐसी विचारसरणी धर्मका उच्चतर अंग बना रहता है।

दर्शनप्रणालिकाका इतना कुछ विचार करजानेके बाद अब इन सब दर्शनोंके मूलतत्वोंका अति संक्षिप्तमें निदर्शन करना अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि विस्तार भयसे संक्षेपमें विवरण दूंगा।

बौद्ध दर्शन

बौद्धदर्शन शून्यवादी, क्षणिकवादीके रूपमें पहचाना गया है। क्योंकि ये चित्तसे पर रहनेवाले आत्मा तक न जाकर या दूसरी किसी उलझनमें न पड़कर, मात्र ऊपरकी व्यावहारिक प्रणालिका स्वीकार करता है। इससे ईश्वरवादका बौद्धदर्शन में स्पर्श तक नहीं किया है। बौद्धदर्शनका आलयविज्ञान क्षणिक है। एक क्षणमें जो ज्ञान होता है वह दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता है, परन्तु यह ज्ञान जो संस्कार छोड़ जाता है, वह प्रवाह परम्परासे अनादि होकर इन संस्कारोंका सर्वथा निरोध करनेसे ही दुःखका निरोध हो सकता है। ऐसा करना सबको अभीष्ट है, यही निर्वाण है। सुगतने इस निर्वाणके लिए चार आर्यसत्य कहे हैं:–दुःख, समुच्चय, मार्ग और निरोध दुःखका निरोध करना ही साधकका कर्तव्य है।

विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ये पांच स्कन्ध कहलाते हैं। यही संस्कारका बंध होनेसे दुःखजनक है। इन स्कन्धोंके अनुबंधसे, अहंता और ममतासे, रागद्वेषादि रिपुगण पैदा होते हैं तथा बंधता है और उससे समुदयके रूपमें पहचाना जाता है। काम मात्र संस्कार जन्य हैं इससे ये संस्कार स्वयं विनश्वर और क्षेपणीय हैं। इस प्रकारकी इच्छा उत्पन्न होना मार्ग कहलाता है। और इच्छा होनेपर फिर प्रवृत्ति द्वारा इन संस्कारोंको मोक्ष कहा जाता है।

बौद्धदर्शन पांच विषय और इन्द्रिय तथा मन और शरीर को कर्मका साधनरूप मानता है। कर्मको सत्तासे मुक्त होनेसे

पहले जीवमात्रको कुकर्मके स्थानपर सुकर्म स्थापन करना चाहिये, अर्थात् भोगविलासके स्थानपर अहिंसा, वैराग्य, संयम, तप, ध्यान, समाधि इत्यादिका आचरण करना चाहिए, और इस तरह अनात्मवादी होते हुए पुनर्भव और पाप पुण्यादि तथा इसके फलमें भी ये मानते हैं और संसारकी निवृत्तिकेलिए आष्टांगिक मार्गका प्रबोध करते हैं। इस मार्गमें अहिंसा और इसके पोषक नियमोंके उपरान्त सत्य, ब्रह्मचर्य, और अस्तेय विधायक हैं। इसके न्यायकी परिपाटीमें प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंको अवकाश है। हेतुको न्यायदर्शनकी तरह पंचावयवी न मानकर त्रि अवयवी स्वीकार करते हैं। इस रीतिसे नैयायिकदर्शनका तत्वविवेचन सुन्दर होनेसे जितना उसमें तर्कवादको महत्वपूर्ण स्थान है उतना सत्कर्मविधानको नहीं है। जहाँ तर्क होता है वहां खण्डनात्मक प्रवृत्तिका विशेष झुकाव होना स्वाभाविक है।

नैयायिक-दर्शन

इस दर्शनमें संक्षिप्तरूपसे सात पदार्थ और विस्तृतरूपसे जो सोलह तत्वोंका निरूपण किया है वे क्रमशः ये हैं—(१) द्रव्य, गुण, कर्म,सामान्य, विशेष,समवाय और अभाव तथा(२)प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अव, तर्क, निर्णय वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। ये योग वेदान्तकी तरह एकत्वरूपसे नहीं बल्कि जैनदर्शनकी भांति बहुत्वरूपसे स्वीकार करते हैं। इन्हें आत्मा स्वीकार्य है। ये ईश्वरको मानते हैं 'परन्तु ये ईश्वरको मानते हैं' इससे शायद

कोई ये ईश्वरको कर्ता भी मानते हैं ऐसा न मान बैठे ! न्याय-दर्शन ईश्वर पर कर्तृत्वका आरोपण करते हुए अचकता है। क्योंकि ऐसा करनेसे इसे ईश्वरमें सामान्य जीवोंके समान रागेच्छा आरोपित होनेका भय लगता है। यह इस तरह मानता है कि प्रत्येक जीवोंके जैसे अदृष्ट (कर्म) होते हैं उसके अनुसार ईश्वर मात्र फलकी योजना कर देता है। क्योंकि जगतकी समर्थ शक्तिमत्ताकी चाबी इसके एक के ही हाथ में है। इस प्रकार ये कर्मके नियमको मानते हैं परन्तु इस नियम को स्वतन्त्रता नहीं सोंपते। इन्हें प्रत्यक्षतया × पंचावयवसे अनुमान उपरान्त उपमान और आगेके प्रमाण भी मान्य हैं और प्रत्येक जीवोंको अलग अलग कर्ममुक्ति भी इन्हें स्वीकार्य है। मोक्षमें गये हुए आत्मा पुनरागमन नहीं कर सकते इस प्रकार जैनमन्तव्यका ये अतिसुंदर युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करके दूसरे दर्शनोंका तद्विरुद्ध मन्तव्यका निरसन करते हैं।

वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक दर्शनमें अभाव जैसे पदार्थके अतिरिक्त तत्वके रूपमें स्वीकार नहीं है। वस्तुकी अप्राप्ति ही अभाव जैसा

× अनुमानके पाँच अवयवोंके नाम ये हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। जैसे (१) यह पर्वत अग्निवाला है। (२) क्योंकि वहाँ धुआँ है। (३) जैसे रस्वतीगृहमें धूम है। (४) जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है। (५) जैसे रसोईघरमें धूम है तो वहाँ अग्नि भी है। ऐसे ही सर्वत्र जान लें।

पदार्थ होना इन्हें असंभव लगता है। शेष मान्यताएँ नैयायिक मतसे मिलती जुलती सी हैं। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। साँख्यदर्शनमें सेश्वरवादी और निरीश्वरवादी ऐसी दो शाखाएँ हैं। सांख्यदर्शन में भी 'जीव अनेक हैं' यह कह कर वेदान्तके भीतरके अद्वैतवादका कठोर खंडन करता है।

सांख्य-दर्शन

सांख्यदर्शनमें जीव और प्रकृति ऐसे दो मूल तत्व हैं। साँख्यदर्शन आत्माको जैनदर्शनकी तरह परिणामी न मानकर कूटस्थ नित्य रूपमें स्वीकार करता है। आत्माको कर्ता या भोक्ताके रूपमें स्वीकार करते हुए यह आपत्ति समझता है। तो भी प्रकृतिजन्य बुद्धिमें 'मैं' पनके आरोपसे आत्मा पर कर्मों का प्रभाव पडता है। जन्म जरा, व्याधि और मृत्युकी अवस्थाएं आरोपित होती हैं, ऐसा तो इसे मानना ही पड़ता है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति जैसे दोनों स्वतन्त्र और नित्य तत्व मानते हुए—

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ मुक्तावलि ॥

प्रकृतिके गुणों द्वारा किये गये कर्मोंको अहंकारसे विमूढ हुआ स्वयं कुछ नहीं करता फिर भी मैं करता हूं ऐसा मानता है। इस अज्ञानका नाश हुआ कि तुरंत ही मोक्ष। परन्तु यह केवल कहनेसे नहीं मिलजाती अर्थात् त्रिगुणातीत होने के लिए सत्कर्मों का निदर्शन करना पड़ता है। परन्तु इसकी पूर्ण पूर्ति तो योगदर्शनसे ही होती है।

सांख्यदर्शनका भारतीय दर्शनोंपर अपूर्व उपकार है यह कहे विना नहीं चलता। प्राचीनकालके जैन और बौद्धधर्मके उद्गमके बाद मध्यमयुगमें इसने दर्शनकी आधारशिलाका आरोपण किया है,यह कहना जरा भी अयुक्त नहीं। जैनदर्शन के साथ इस दर्शनका मौलिक मतभेद होनेपर भी अच्छे अच्छे साधकोंका इतना इनसे तत्वसाम्य दीखता है। प्रकृति स्वयं विकारी नहीं है, वह अव्यक्त है।

१–रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण इन तीनों का वल एक दूसरेको सम्पूर्णतया मारकर साम्यावस्थामें रहा हो ऐसा कल्पनागम्य तत्व इसी प्रकृतिमें महत् या बुद्धि चाहे जो कुछ कहो वह पैदा होती है। और बुद्धि उत्पन्न होनेकेवाद अहंकार होता है। अहंकार अर्थात् बाह्य पदार्थोंमें आत्माका आरोपित हो जाना। आघातके सामने टिककर रहनेकी और आघातके सन्मुख प्रत्याघात करनेकी शक्ति ही अहंकारका लक्षण है।

अहंकारको लेकर ही २-पाँच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय

---

१ सांख्य सिद्धान्तसे साधक परिचित ही होंगे। इन्हें अधिक स्पष्ट और व्यवहार्य समझना हो और संस्कृतादि भाषाका अभ्यास न हो तो उन्हें 'जीवन शोधन' में देखना चाहिए। इसमें श्री-किशोर भाई ने परम्पराप्रमाणको तर्कगम्य और व्यवहार्य बनाने का ठीक ठीक प्रयास किया है।

२ स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच ज्ञानेंद्रिय और वाणी, पैर, हाथ, गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाती है।

तथा मन ये सब ग्यारह तत्व शब्दादि पाँच विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं। इन विषयोंके आश्रयभूत जो पांच तन्मात्राएँ होती हैं उन्हें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीरूप पांच महाभूत कहे जाते हैं। इस प्रकार इन चौवीस तत्वोंको लेकर इस पुरुष के लिंग शरीर और स्थूल शरीरकी योजना की गई है। इनसे इसे मुक्त करनेकेलिए साधना आवश्यक है। यह हुई साँख्य दर्शनकी संक्षिप्त मीमांसा। साँख्य और योग दोनों दर्शनको प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम, ये तीनों प्रमाण मान्य हैं।

योग-दर्शन

योगदर्शनको सांख्य-दर्शनकी ही पूर्तिकेलिए माना जाय तो यह अधिक सुसंगत गिना जाय। इसीसे श्रीहरिभद्रसूरिने इसे सांख्यसे अलग स्वीकार नहीं किया।

योगदर्शन साँख्यके तत्वोंको और वेदान्तके मौलिक तत्वों-को भी मानता है। मात्र फेर इतना है कि साँख्यदर्शनका तत्व चिन्तन प्रधान विषय है। तत्वोंकी स्वीकृति या अनादरकेलिए युक्तिवादको महत्व प्राप्त है। यह उधेड़वुन योगदर्शनमें नहीं है। परन्तु इससे कोई योगदर्शनमें स्वतन्त्रतत्व जैसा कुछ नहीं है ऐसा कोई न समझ वैठे। योगदर्शनमें भी चारित्र्य-मीमाँसाके वर्णित तत्व हैं। बौद्धदर्शनके चार आर्यसत्योंकी तरह यह भी साँख्याभिमत हेय, हेयहेतु, हान और हानापाय इन चार व्यूहोंको स्वीकार करता है। परन्तु इन तत्वोंको जो क्रियात्मक और सहेतु स्वरूप साँख्यदर्शन नहीं देता उसे योगदर्शन देता है। चित्तमलिनता त्याज्य है तो इसका उपाय

क्या है ? और यह किस रीतिसे युज्यमान हो ? यह क्रिया ही योगदर्शनका पाया है।

योगदर्शन चित्तवृत्तिनिरोधका मंडन करके ये निरोधसे मिलती जुलती वस्तु ही चर्चन करता है। चित्तवृत्तिओंके विविध आकार और प्रकार बताकर इसकी अष्टांगमार्गिकी योजना भी कर देता है। साधकवर्गको यहाँ बहुमूल्य सामग्री मिलती हैं। इसीसे इसका नाम तक साधक-दुनियामें आकर्षक सिद्ध होता हैं। इस प्रणालिकाके संक्षिप्त वर्णनकेलिए इसी पुस्तकमें देखो ९ वां अध्ययनका ४ था उद्देशकका विशेष।

पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसाके प्रणेता दर्शनकार, जैमिनि मुनिको बताया जाता है। जैमिनि मुनिकी मान्यता यह है कि प्रत्यक्षमें कोई ऐसा सर्वज्ञ नहीं देखा गया, कि जिसका वचन प्रमाणभूत गिना जा सके। इसलिए वेदवाक्योंको ही प्रमाण मानकर वेदपाठ करो। इसके द्वारा काम्य स्वर्ग प्राप्त किया जा सकेगा। इस रीतिसे इस दर्शनकी मर्यादा वेदके वाक्योंको ईश्वरके वाक्य जैसा स्वीकृत करनेवाली हो गई परन्तु परब्रह्मके विचारको स्थान न मिला।

यज्ञादिके निमित्तसे हिंसा द्वारा भूतपूजा, बाह्यस्नानका माहात्म्य और ऐसे अनेकानेक जटिल कर्मकाण्डोंका मोह इस मान्यताके विकृत रूप हैं, कि जिसका लगभग प्रत्येक दर्शनने अकाट्य प्रमाणोंसे सनसनाटकरता विरोध करके इस मान्यता का मूल ही हिला डाला है—ऐसा सब दार्शनिकोंका मत है।

पूर्वमीमांसा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, और अभाव इन छः प्रमाणोंको स्वीकार करता है। न्यायदर्शन में अभाव नामक एक अतिरिक्त पदार्थ माना गया है, इसको इसने प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया है।

जैमिनि मुनि कर्मको स्वीकार करता है, परन्तु वहाँ कर्मवादकी स्पष्ट स्वीकृति नहीं है कारण कर्मके साथ ठीक फलका निश्चित सम्बन्ध मानना चाहिए यह वहाँ नहीं है। इसीलिए बुद्धिवादके विकासके पश्चात् बादरायण नामक वेदान्ती मुनिने जैमिनीके कर्मकाण्डोंको तोड़फोड़ कर हटाकर उसके स्थानपर निश्चयात्मवादका सदोदित प्रकाश फैलाया। वेदान्तके रूपमें इस समय जिसे हम पहचानते हैं वह इस देवर्षिकी ही विरासत है।

वेदान्तमें "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन"—श्रुति-वेदान्त ॥

ऐसे मधुर सूक्त हैं कि जो ब्रह्मके एकत्व और कूटस्थनित्यत्व सूचक हैं।

यह ऐसा मानता है कि:—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ श्रुतिः।

आत्मा एक ही है, परन्तु अलग अलग प्रकारके जीवोंमें यह प्रतिबिम्बित होता है। बाहर जो कुछ देखा जाता है वह

सद्वस्तु नहीं है, भ्रान्तिमात्र है। इसे१ विश्वेदेववादके रूपमें भी पहचाना जाता है। परन्तु यह मान्यता कर्मवादके सिद्धान्त-के अनन्तर फीकी पड़ने लगी। एक ही पदार्थसे व्यक्त होनेवाले जीवोंके अलग अलग सुखदुःख स्पष्ट अनुभूत होते हैं। इतनी विविधता एक कारणसे उत्पन्न कार्यमें से संभव नहीं।

आत्मा यदि कूटस्थ नित्य ही हो तो यह विकृतिका भाजन कैसे बन सके ? इस मान्यताके बाद सगुण और निर्गुण ऐसे ब्रह्मके दो भेद हुए।

बादरायणके बाद वेदान्तकी इस मान्यताको श्रीकुमारिल-भट्टने और खासकर श्रीमान्२ शङ्कराचार्यने तर्क द्वारा उसपर गिलाफ चढ़ाया। और वेदान्तके ईश्वरीय एकत्वके बाद ढीलापन आनेपर पुनः कर्मकाण्डका जो जोर फैल गया था और कापालिक और क्षपणक जैसे पाषण्डी मत जनता पर आरूढ हो गए तब इनकी इतिश्री जैसा बनाकर वेदान्तकी प्रतिष्ठा इन्होंने उज्वल की। वेदान्तके उस शांकरमतके केवलाद्वैतके बाद निंबार्कके (द्वैताद्वैत) स्वाभाविक भेदाभेद और भास्करके औपाधिक भेदाभेदके बाद रामानुजाचार्य और श्रीकंठके विशिष्टाद्वैतके पश्चात् श्रीवल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतकी स्थापना हुई और फिर

---

१ पाश्चात्य तत्वज्ञानमें इसवादको 'पानथीज्म' के रूपमें हरिसेन भट्टाचार्यने पहचाना है।

२श्रीकिशोरभाईका यह मत है कि गीतामें वर्णित मतकी विशिष्टाद्वैतके साथ तुलना हो सकती है।

सतरवें सेंकडेके मध्दान्हमें होनेवाले श्रीमाध्वाचार्यने द्वैतवाद का प्रचार किया ।

१विशिष्टाद्वैतमें ब्रह्म, जीव और माया इन तीन तत्वोंका स्वतंत्र और अनादि रूपमें स्वीकार किया है। परन्तु इतना हेरफेर है, कि ब्रह्म और मायाका शरीर और शरीरी सम्वन्ध तो है ही।

शुद्धाद्वैतमें तत्वरूपसे तीनोंका स्वीकार है परन्तु ब्रह्म ही नित्य है। और बाकीके दो तत्व केवल विनोदकेंलिए बनाए है, ऐसी मान्यता है, और द्वैतमें तो दोनों तत्वोंका स्वतन्त्र और अलगरूपसे स्वीकार है।

लोकायत दर्शन

चार्वाकमुनिका दर्शन ही लोकायत दर्शन है। इसे नास्तिकवाद गिनें, जड़वाद, गिनें भौतिकवाद गिनें या जो चाहो वह यह है।

भारतवर्षमें वैदिककर्मकाण्डने जो हत्याकांड और सत्तावादकी धूम मचाई थी, उसके साथ उतनी ही प्रबल प्रत्याघात की आवश्यकता थी। उस समयके संस्कारी पुरुष तो लोकसंगसे दूर होकर अरण्यमें एकान्तवास स्वीकार किए हुए थे इसलिए प्रजाकी पीडा मिटानेवाली संस्कृतिकी कमी ज्यों की त्यों रही, जिसे चार्वाकमुनिने उसे पूरा किया।

१श्रीशंकराचार्यका काल वि० सं० ७८६ से ८२०, निम्वार्क ६६०, भास्कराचार्य १०००, रामानुज १०१७, श्रीकंठ ११८६, वल्लभाचार्य १४७६ से १५३०, माध्वाचार्य १६५०।

यजनसे परलोकमें काम्य स्वर्ग मिलता है, इस मान्यताका निर्मूल करनेकेलिए इसने परलोकको पधरा दिया, फिर पाप और पुण्य कैसे हों? परन्तु इस संस्कृतिका परिणाम वड़ा ही खराब आया। पिछलगू आदमियोंने इस मान्यताके पीछेका आशय न समझकर केवल स्वेच्छाचार और अनाचारका ही पोषण किया।

भारतवर्षमें वाममार्गी आदि पंथोंके प्रवर्तन इस बीजके वृक्षमेंसे पके हुए विषैले फल हैं ऐसा बहुतसे विद्वानोंका मत है। पाश्चात्य संस्कृति और जड़विज्ञानमें इस संस्कृतिके प्रतिबिंब देखे जाते हैं। यद्यपि अब तो यूरोपीय तत्वज्ञ भी आत्मवाद और कर्मवादको स्वीकार करने लग पड़े हैं, और बहुतसे पाश्चात्य प्रदेशोंमें इस संस्कृतिके बीज बोनेका अनुकूल वातावरण पैदा होता जा रहा है, परन्तु फिर भी इसका सार्वत्रिक प्रचार देखनेके लिए अभी ठहरना पड़ेगा।

जैनदर्शन

जैन संस्कृतिके दर्शनके रूपमें स्वीकार करनेकी जिनकी इच्छा हो उन्हें दर्शनका सर्जन युक्तिवाद पर होनेसे खंडन करना ही दर्शनका ध्येय हो सके इस मान्यताको जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता, इतना याद रखना पड़ेगा। क्योंकि जैन-दर्शन यह मानता है, कि सत्यके मंडनसे असत्यका खंडन सहज हो जाता है, इससे खण्डनात्मक प्रवृत्तिके वदले मंडनात्मक प्रवृत्ति सब दर्शनोंके सत्य अंशोंका विकास करता है, और सब

दर्शनोंके बीच सहकार साधकर अपनानेका प्रयत्न करता है।

जैमिनिके कर्मकाण्ड भी इन्हें मान्य हैं, परन्तु यह इतना ही कहता है, कि यज्ञमें जो हवि होमना हैं वह बाहर नहीं हैं। ये कहते हैं कि:—

तवो जोई जीवो जोइट्ठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंतो, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं
॥उ०-अ०१२॥

जिस यज्ञमें तपरूप अग्नि है, जीवात्मा अग्निका स्थान है, मन, वचन और कायाकी एकाग्रतारूप कडछी है, शरीररूप सुन्दर यज्ञवेदिका है, कर्मरूपी ईंधन है और संयमरूपी शान्तिमन्त्र है। इस प्रशस्त चरित्ररूप भावयज्ञको करो कि जिस यज्ञको महर्षिजनोंने उत्तम माना है।

सारांश यह है कि, जैनदर्शन सबकी मान्यताका सदुद्देश बताता है, फिर यह किसी धर्मके शास्त्रोंको झूठा भी नहीं कहता। यह तो यह कहता है, कि देखनेवालेकी दृष्टि झूठी है जिससे झूठा देखता है, इसलिए दृष्टिको सम्यक् बनाओ।

"सम्मादिट्ठिस्स सम्मसूयं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छासूयं"
नन्दीसूत्रम्।

जिसकी दृष्टि सम्यक् है उसे सम्यक् रूपसे परिणमेगा और जिसकी दृष्टि मिथ्या है उसे सम्यक्श्रुत भी मिथ्यारूपमें परिणमेगा। इसलिए सम्यक्दृष्टि बनो। इसी आधार पर यह केवल सत्यकी आराधना करना बताता है। इसकी पूजा

और आराधनामें सद्‌गुणोंका केन्द्र है। और भक्ति भी पूर्ण-त्यागमें देखता है।

जैनदर्शनमें जीव और अजीव दोनों तत्वोंका स्वीकार है। सांख्यकी तरह जीवोंकी अनन्तताको यह स्वीकार करता है। परंतु यह बौद्धदर्शनकी भान्ति जैसे एकान्त अनित्य या सांख्य या वेदान्तको सदृश एकान्त कूटस्थ नित्यके रूपमें स्वीकार नहीं करता। यह जीव और अजीव दोनोंका[१] परिणाम नित्य मानता है।

सांख्यका आत्मा नित्य होनेसे इसकेलिए जन्म मरण कैसा ? अर्थात् जन्ममरणका प्रभाव स्वीकार करते हुए यह अचकचाता है और आत्माको कूटस्थ नित्य मानकर प्रकृतिजन्य महत्‌की यह सब लीला है, ऐसा कहता है तब चार्वाक आत्मा-को प्रत्यक्ष देखकर भी आत्माको ही अस्वीकार करता है और पंचमहाभूतमें से एक नवीन शक्ति पैदा होती है वह देह नष्ट होनेपर विलय पा जाती है ऐसा कहता है। जैनदर्शन इस आपत्तिको दूर करता है।

---

(१) अनेक परिवर्तन-जन्म, यौवन, जरा मरण इत्यादि अवस्थाओंमें उलट पलट होते हुये आत्मामें कोई हेरफेर नहीं होता। अर्थात वह कूटस्थ नित्य है ऐसी वेदान्त और सांख्यकी मान्यता है। आत्मा अपने मूल स्वरूपको तीनों कालमें कर्मादि निमित्त द्वारा होनेवाले अदल बदलको अंगीकृत करता है, यह परिणामी नित्य है।

जो वस्तु जिसके द्वारा होती है वह वैसे ही गुणोंसे युक्त होती है। चेतनशक्ति जड़मेंसे उत्पन्न नहीं होती, वह तो चेतनमें ही होती हैं। रासायणिक मिश्रणसे नई वस्तु पैदा होते देखते हैं वहाँ भी यही नियम लागु पड़ता है। और वस्तुतः जो कुछ पैदा होते या नष्ट होते देखा जाता है वह वस्तुका परिवर्तन मात्र है। पदार्थमात्र सत् है फिर वह जीव हो या अजीव। परन्तु निमित्त मिलते ही परप्रेरणा या स्वप्रेरणा से इसीमें से परिवर्तन संभव है। इसी से "**उववरणे वा धुवे वा विगमे वा**" उत्पत्ति, स्थिति और लय यह सत्का लक्षण बना रहता है।

इससे जीव और अजीव दोनों परिवर्तन पाते हुए इसका अपना मूलस्वरूप तो स्थायी और अखंड ही रहता है। लय पानेकी क्रिया तो जन्म धारण करनेकी क्रियाका मात्र रूप ही है।

जैसे हाईड्रोजन और ऑकसीजन मिश्र होनेपर इसका जलरूपमें परिणमन होता है और फिर वह गर्म होनेपर वाष्परूपमें परिणम जाता है ऐसे ही अजीव और जीवका गति-चक्र चलता रहता है।

कई बार इसमें मूलतत्व क्या है? यह भी समझा जाय तो भी कारणके विना कार्य संभव नहीं यह सामान्य नियम होनेसे इसको स्वीकार करना ही पड़ता है।

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ णिच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो, संसारहेउ च वयन्ति बंधं
।उ० अ०१४

इस श्लोकको कह कर सांख्य, वेदान्त और चार्वाक इन तीनों दर्शनोंका समाधान करता है। यह कहता है कि आत्मा अमूर्त है, अर्थात् यह अमूर्त आत्मा इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह स्वाभाविक है तो भी इसका अनुभव तो होता ही है।

जो सुख,दुःखका ज्ञान शरीरमें अभिव्यक्त करता है,शरीर, इन्द्रियां और मन पर जो अधिकार करता है वह आत्मा है, वह अमूर्त होनेसे ही नित्य है। तब यहाँ सांख्य प्रश्न करता है कि नित्यको बंधन कैसा ? इसके उत्तरमें कहा है कि कर्मके संगसे इसका प्रभाव जीव पर पड़ता है अर्थात् इसे भी बंधन होता है। पर यह बंधन नित्य समवेत न होनेसे प्रयत्नों द्वारा छुट भी सकता है, मुझे दुःख होता है तुझे सुख होता है; ऐसा अनुभव आत्माका स्पष्ट रूपमें होते हुए उसे केवल भ्रान्ति या माया मानना तर्कगम्य वस्तु नहीं है। यहाँ सांख्य दर्शन यह सब जोखम बेचारी गरीब बुद्धि पर डाल देता है। जैनदर्शन कहता है कि यह बुद्धि स्वयं चेतन है या अचेतन ? यदि इसे अचेतन माना जाय तो जान लें कि यह जड़का स्वभाव ही नहीं है, और चेतनयुक्त गिनें तो प्रकृति स्वयं जड़ होनेसे इसमें उत्पन्न तत्व चेतनवंत हो तो वह विश्वनियमको बाधित करता है। अर्थात् बुद्धिमें चेतनके अंश

प्रतीत होते हैं वे आत्माकी ही किरण हैं यह कहे विना छुटकारा नहीं। और यदि यही बात है तो आत्मा ही जडके संसर्गसे, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मरता हूं, जन्म लेता हूं, इत्यादि बोलता है' और अनुभव करता है यह मानना ही पड़ेगा। इस दृष्टिकोणसे ही जीव और अजीव दोनों परिणामी नित्य हैं। वह कूटस्थ नित्य भी नहीं है, एवं एकान्त अनित्य भी नहीं है। जगतकी कोई भी वस्तु सर्वाङ्ग नष्ट नहीं होती। इसका तो मात्र परिवर्तन ही होता हैं।

इसके कर्मवादकी प्ररूपणा इतनी स्पष्ट, विस्तृत और अकाट्य युक्तिपूर्ण है कि इसका आश्रय लेकर कोई भी दर्शन आश्वासन पा सकता है।

जैनदर्शनका कर्मवाद

सांख्यके एक विभागको कर्मफलका दाताके रूपमें ईश्वर को स्वीकार करना पड़ता है। वेदान्तको भी ब्रह्मके निर्गुण और सगुण ऐसे भेद डालकर सगुण ब्रह्मकी कल्पना करके अवतारवादका सत्कार करना पड़ा और उत्पत्ति, स्थिति तथा लयात्मक निसर्गताका रूपक देने जाते हुए ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे स्पष्ट देव और इनके विविध पूजन भी आरम्भ हो गए; यद्यपि नैयायिक और वैशेषिक इससे अलग रहे, परन्तु इनको भी ईश्वरके ऊपर कर्तृत्वका न सही तो भी प्रेरकताका आरोप तो लगाना ही पड़ा। यह सारी बुनउधेड़ जैनदर्शनके कर्मवादने प्रगट करके रख दी। इसने कहा है कि

जैसे विषमें इच्छाशक्ति न होते हुए विष पीने वालेको उसका असर होता है, क्योंकि विषमें मारणशक्तिका गुण है। इसका प्रतीकारक बल न मिले तो वह अपना काम अवश्य करेगा ही, क्योंकि यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही कर्म स्वयं जड़ होते हुए जीवमें रहे हुए रागद्वेषके वशसे ये कर्मपुद्गल स्वयं ही जीवमें आश्रय पाते हैं, और उनका प्रभाव पड़ता है। इसके बीच किसी दूसरी शक्ति या ईश्वर को आनेकी आवश्यकता नहीं।

जैनदर्शन और ईश्वरवाद

परन्तु इतने भरसे ईश्वरतत्वको नहीं स्वीकार करता, वल्कि यह ईश्वरतत्त्वको स्वीकार करता है, इतना ही नहीं वल्कि जगतके सव सुयोग्य-भव्य जीवोंको ईश्वरत्व पानेका अधिकार बताता है। परन्तु इसे ईश्वरको संसारकी व्यवस्था के वनाने विगाड़नेकी झंझटमें डालना अभीष्ट नहीं।-१

१वीतरागभावकी पराकाष्ठा पानेके वाद सर्वज्ञ या केवलज्ञानी कहलाते हैं। इनके दो वर्ग हैं:-एक वर्ग केवलज्ञान पाकर अपने अवशेष [सारे आठ कर्म हैं। केवलज्ञान होने पर उनमेंसे [१] मोहनीय, [२] अन्तराय, [३] ज्ञानावरणीय और [४] दर्शनावरणीय ये चार कर्म क्षय हो जाते हैं, और वेदनीय, आयुष्य नाम और गोत्र ये वाकी रह जाते हैं।] रहे हुए कर्मोंको खपाकर सवथा कर्मरहित हो जाते हैं। कर्मसंवंध सर्वथा छूटकर ये जीव मुक्त होते हैं और मुक्त चैतन्यका ऊर्ध्वगतिशील स्वभाव रहता है। जहां तक संसारका वातावरण है वहां तक स्थिर न होकर ये वातावरणसे परे जाकर स्थिर होते हैं। इस स्थानको मुक्तस्थान

जैनदर्शनमें जो अपने कामक्रोधादि षड्रिपुओंका या क्रोधादि चार कषायोंका सम्पूर्ण नाश करे उन सबको ये ईश्वर मानते हैं—फिर इनका चाहे जो हो। इसके सामने विवाद नहीं। जैसा कि श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

अर्थात्—संसारभव-बीजके अंकुर-रागद्वेषादि कर्मबीजोंको जिसने क्षय किया है उस ईश्वर को फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शंकर हो, जिनभगवान, बुद्ध हो-चाहे जो हो उसे नमस्कार है।

और इन आत्माओंको सिद्ध कहा जाता है। मुक्त जीवोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, संसार चक्रकी घटमाल वहां नहीं, वहां मुक्त चैतन्यका जो आनंदमय स्वरूप होता है वह शब्दवेद्य-वचनगोचर नहीं है। दूसरा वर्ग ऐसा होता है कि जिनमें केवलज्ञान प्राप्त होनेपर जहां तक इनकी आयुष्य-अवधि है वहां तक लोककल्याण के सारे कर्तव्य करना अनिवार्य होते हुए सहजनिमित्तकेलिए है। ऐसे महामानवोंको अर्हत या तीर्थंकर कहा जाता है। श्रमण महावीर या जिन्हें जैन चौवीसवाँ तीर्थंकर मानते हैं उन्होंने वही दशा पाई थी, और उन्होंने अपने आत्मज्ञानसे जगतके दुःखमूल शोधकर समस्त जगतके कल्याणका मार्ग बताया था। इन्होंने वनस्पति और जलादिमें भी चेतन-प्राण-तत्व है यह स्पष्ट कहकर इनके प्रति भी समभाव रखना सिखाया था। इनके दूसरे व्यापक सिद्धान्तोंको सरलतासे समझनेकेलिए श्रीउत्तराध्ययनादि सूत्रोंको देखो।

परंतु वह ईश्वर स्वयं वीतराग होनेसे उसे इच्छा या रागद्वेष न होनेसे किसी जीवका ये कुछ नहीं करते। इन्हें तो पाप और पुण्यशाली दोनों बराबर हैं। क्योंकि ये मानते हैं, कि पाप और पुण्य दोनों उपाधिजन्य हैं। और यह उपाधि किसी अन्यके द्वारा दूर नहीं की जा सकती, इसे तो स्वयं ही दूर किया जा सकता है। **"अप्पा कत्ता विकत्ता य"** अर्थात् आत्मा ही सुख दुःखका कर्ता और विनाशक है। ईश्वरकी पूजा, उपासना भी किसी प्रकारके लाभके लिए नहीं मात्र इनके' गुणोंको जीवनमें स्थान मिले इसलिए योजना की है। इसकी साधना-प्रणालिका इसी प्रकारकी गुणपूजा पर निर्भर है।[१]

'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।'

योगदर्शनमें जिसप्रकार क्रिया-परायणताका महत्व है वैसे

---

१ यहां साध्यके रूपमें सत्य और साधनके रूपमें अहिंसाको स्वीकार किया है। जैनधर्मकी अहिंसाकी व्याख्या मात्र हिंसा न करना इतना ही नहीं बल्कि स्वकृत या परकृत या अनुमोदित किसी भी प्रकारकी हिंसामें ये अधर्म समझते हैं और मन, वाणी और कर्मसे मुक्त रहनेकेलिए अर्थात् अहिंसाको यथाशक्य बनानेकेलिए गृहस्थ साधकको भी मर्यादित ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्य-वचन, सरल,कर्मण्य,अस्तेय दया, कर्ममर्यादा,चिन्तन,दानादि व्रत तथा मर्यादित तपश्चरणादि करना कहते हैं। देखो उपासक दशांगादि सूत्र-इस सूत्रमें भी साधकको मर्यादा आई हुई होनेसे यहां अधिक विस्तार करना उचित नहीं है।

ही जैनदर्शनमें क्रियापरायणताका महत्व है। इसकी साधना-प्रणालिका गृहस्थ या त्यागी कोई भी साधक जीवन-व्यवहारमें रहते हुए साध सके यह सहज और सरल है, योगविद्याकी प्राप्तिकेलिए आसन तथा प्राणायामादिके जो कठिन प्रयोग करने पड़ते है ऐसे कठिन प्रयोग यह नहीं बताता। योगदर्शनमें जैसे चित्तशुद्धिका महत्व है ऐसे यह भी चित्तशुद्धिको महत्व देते हैं परन्तु चित्तशुद्धिकेलिए वृत्तिकी आसक्ति नरम पड़े ऐसे उपाय इन्हें मान्य हैं, इसीलिए प्रथम पद तो ज्ञानको ही दिया है। ज्ञान पुस्तकोंमें से नहीं मिलता, यह तो साधन है। ज्ञान तो आत्मामें ही है। ये पुस्तकें तो बाहरी पदार्थ हैं। पहले ज्ञान और फिर क्रिया। परन्तु क्रियाओंका महत्व मात्र इस निमित्तकी पूर्तिके लिए आँका गया है। इससे इसके साहित्यमें विपुलता, विस्तृतता है। विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राण-विद्या, योग, साहित्य, कला और इतर व्यवहारोपयोगी भी अनेक विषय हैं परन्तु उनका लक्ष्य आत्मविकास साधने जितना ही है। और इस जगतको जाननेसे आत्मा जाना जाता है ऐसा न मानकर, आत्माको जाननेसे जगतको जाना जा सकता है ऐसा मानता है। यह जगतके पदार्थों को जानता है। अनुभव करता है। तथापि इसका लक्ष्य तो इसीमें आत्माभिमुख ही रहता है। जो साधन आत्माकी ओर झुकाकर साधक न बनता हो उसे वह साहित्यिक शास्त्र न मानकर शस्त्र ही समझता है।

लोकवर्णन

जीव और अजीव मुख्य दो पदार्थ होते हुए जगतमें जो कुछ परिमित, गति और व्यवस्थिति दीखती है इसके लिए

यहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामके दो तत्व माने गए हैं। धर्मास्तिकाय जगतके गतिमान पदार्थोंको सहायक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थको जिसमें अवकास मिलता है उसे आकाशतत्व माना है। आकाशके लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद हैं। इसके सिवाय काल नामक एक स्वतन्त्र-तत्व है कि जो पदार्थोंपर होनेवाले परिणाम और वर्तनका पृथक्त्व सूचक है। उपयोग ही जीवनका लक्ष्य होनेसे जीवके अतिरिक्त इन दूसरे सब तत्वोंका अजीवमें समावेश होता है। ये सब बाहरके गुण हैं। सब जीवोंमें सामान्य रीतिसे उपयोग, अमूर्तत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, देहपरिमाण और क्षायिक, क्षयोपशम, उपशम, औदयिक और पारिणामिक आदि गुण हैं। जो कि भाव कहलाते हैं। इस रीतिसे यह संक्षिप्त लोक वर्णन है।१

जीवविचार

अब दूसरी बात इसकी संसारी जीवोंके सम्वन्धमें है। संसारी जीवोंकी गति, स्थिति और विकासकी दृष्टिसे ये भेद हैं। इस स्थल पर तो मुख्य और संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत है। चेतन विकासकी दृष्टिसे इसके तीन भेद हैं। प्रथम कोटिकी प्राणसृष्टि जिसमें खनिजतत्वके रूपमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिके जीव या जिसे जैनदर्शन एकेंद्रियके रूपमें मानते हैं, इन जीवोंकी चेतना कर्मफलकी अनुभूति करें

१—इन सब बातोंके लिए उत्तराध्ययनका अनुवाद पढिए।

इतनी ही विकसित है, ऐसा कहा जा सकता है। दूसरी कोटि की चेतनावाले जीव जिनमें द्वींद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञो पंचेंद्रियादिका समावेश होता है। इन जीवोंकी चेतना प्रथमकोटिके जीवोंकी अपेक्षा कुछ विकसित होती है। ये जीव कर्मके फलका अनुभव तो करते ही हैं। परन्तु इसके उपरान्त कार्यका भी अनुभव करते हैं। इस कोटिमें जलमें उत्पन्न होने वाली कौडी तथा सीपके जीव कोड़ी, मकोड़ा और भौंरे आदि तथा अगर्भोत्पन्न संमूर्छिम तिर्यंच तथा मानवादिका क्रमशः समावेश होता हैं, और तीसरी कोटिके जीव या जिन्हें संज्ञी अर्थात् व्यक्त मनवाले कहते हैं ये जीव कर्मफल और कर्मफलके अनुभवके उपरान्त स्पष्ट ज्ञानयुक्त भी होते हैं। इन जीवोंमें पशु, पक्षी और मानवसृष्टिका समावेश होता है परन्तु मनुष्योंमें तो इससे भी स्पष्टज्ञान Supper Concious (सुपर कोन्सियस) वाणीसामर्थ्य, स्वायत्त पुरुषार्थ तथा विपुल सामग्री होती है इस दृष्टिसे चार गतिओंमें मानवी गतिकी श्रेष्ठता बताई है।

ये व्यक्तमनवाले संसारी जीव१ ज्ञानकी२ भूमिकाकी और योनिसे जन्म ग्रहण करनेकी दृष्टिसे तथा लिंगभेद और संज्ञाभेदकी अपेक्षासे ऐसे ऐसे अनेक प्रकारसे माने गये हैं।

---

१ ज्ञानके मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय और केवल ऐसे पांच मुख्य और मतिज्ञानमें मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विभाग पुरस्सर गहरेसे गहरे विभागोंको देखें तो ३३६ भेद या जिसमें स्मृति, प्रज्ञा, विवेकबुद्धि, तर्क, एकाग्रता आदिका समावेश होता है।

अजीव विचार

जैनदर्शन अजीवतत्वको पुद्गल के रूपमें मानते हैं । इन पुद्गलोंके मुख्य परमाणु, स्कन्ध, देश और प्रदेश ये चार तथा इन सबके वस्तुकी तरतमताकी दृष्टिसे अनन्त भेद हैं तथापि; इन सबमें लक्षण तो पुद्गलके ही होते हैं, अर्थात् अवस्थान्तर पाने पर भी मूलगुणकी अवस्थिति तो इनमें ज्यों की त्यों रहती है।

इन पुद्गलोंमेंसे शब्द उत्पन्न होता है, इनका (स्वतन्त्रता से) मिलन या मुक्ति होती है । इसके सिवाय सूक्ष्मता, स्थूलता, आकारभेद, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप इत्यादि भी इसी के धर्म हैं ।

जैनधर्मकी इतनी संक्षिप्त ज्ञेयमीमांसाके पश्चात् चरित्र-मीमांसाका प्रश्न उपस्थित होता है । जैनदर्शन केवल ज्ञेय-मीमांसा करके ही नहीं विरमता बल्कि इसका मन तत्वमीमाँसा अर्थात् इसमें ज्ञेय और चरित्र दोनोंका समावेश किया है ।

नवतत्वोंका विचार

अर्थात् जीव और अजीवके अनन्तर आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ऐसे सात अथवा जीव, अजीवके बाद पाप,

---

ज्ञानका विस्तृत अनुभव नंदीसूत्रके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं ।

२ भूमिकाकी दृष्टि अर्थात आत्मविकासकी दृष्टि। क्रोधादि कषायोंकी न्यूनता या अधिकताकी अपेक्षासे गुणस्थानोंकी श्रेणियां १४ प्रकारकी हैं। इसको गुणस्थानद्वारमें विशेष स्पष्ट किया गया है।

पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, वंध और मोक्ष ऐसे नव पदार्थों-(तत्वों) का निर्देश आता है और इन नवतत्वोंकी जैनदर्शनमें अधिक महत्ता है।

प्रत्येक साधककेलिए यह प्रथमसे ही इन तत्वोंकी श्रद्धाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार करता है। विवेकदृष्टिवाले साधकका हेय, ज्ञेय और उपादेय इस त्रिपुटीको जीवन-साधना में प्रतिपल आवश्यकता है।

आस्रव

आस्रवके दो प्रकार हैं। शुभ और अशुभ-पुण्य और पाप का इसरीतिसे आस्रवमें ही समावेश हो सकता है। आस्रव अर्थात् कर्म, वाणी और मनका योग। स्वयं स्वभावसे शुद्ध होते हुए जब इनमें रागद्वेषका असर होता है, तब इस जीवको कर्मका असर होता है। इसकर्मके मूल आठ भेद और विस्तार से घाति और अघातिके मिलकर १४८ भेद होते हैं। तथा तरतमभावसे वे साम्परायिक और ईर्यापथिक कर्म कहलाते हैं। इनमेंसे पराभव करनेवाले कर्मको साम्परायिक कहा जाता है। कषाय सहित होनेवाले कर्म साम्परायिक और अकषाय-जन्य क्रियासे होनेवाले कर्म ईर्यापथिक कहे जाते हैं। (इनके भी अनेक भेद हैं)

बंध

आत्मा स्वयं स्वभावसे शुद्ध होते हुए उपर्युक्त रीतिसे कर्मास्रव द्वारा बंधा हुआ रहता है। कर्मोंके साथ जीवकी एकवाक्यता होनेका नाम बंध है। इस कर्मबन्धके कारण जन्म, जरा, रोग तथा मरण आदि अवस्थाएं भोगनी पड़ती हैं,

और उसके योग्य गति, शरीर इंद्रियां, प्राण और मनको सामग्रो तैयार करनी पड़ती है। आयुष्यके घात-प्रघात सहने पड़ते हैं।

देहदृढता होते हुए भूलके कारण जीवोंका आयुष्य कैसे और किस प्रकार टूटता है? तथा जीवात्मा जब कर्मबंधके कारण जिस गति या स्थानकी योजनाके लिए गति करता है, उस समय उसके साथ कर्मसामग्री और सूक्ष्म शरीर किस रूपमें रहते हैं और गति किस प्रकारसे होती है? वहाँ वह आहारके विना कैसे रहता है? आदि खूब गहरी और मनोरंजक चर्चा जैनदर्शनमें मिलती है। यहाँ विस्तार भयसे देना उचित नहीं है।

जैनदर्शनमें बंधके मूलकारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और अशुभयोग कहे गये हैं। यह कर्मबंध कषायकी तरतमताके ऊपर आधार रखता है। इसके प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और फल भी अलग अलग प्रकारके होते हैं। परन्तु इस बंधनमेंसे छूटनेका क्रमशः उपाय करना चाहिए। इस उपायमें आदि स्थान संवरका है।

संवर

संवर अर्थात् आस्रवका निरोध, रागद्वेषादिके कारण आत्मा पर जिसकर्मका प्रभाव होता है उसे रोकनेका नाम संवर है। जो जीव इसप्रकार क्रियात्मक जीवनसे जीवित हैं उसे जैनदर्शनमें साधुका स्थान प्राप्त है। इस साधकके दो प्रकार हैं। गृहस्थ साधक और सम्पूर्ण त्यागी साधक।

व्यवहारमें रहते हुए गृहस्थ साधक इस प्रतिज्ञाका पालन कर सके ऐसे बारह अणुव्रत ईसके लिए कहे हैं। ईनमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दिशापरिमाण, भोग्योपभोग्य, पदार्थोंका संयम, अनर्थक्रियाका या अनर्थकारी रूढ़िओंका परिहार, भूलका प्रायश्चित्त, तपश्चरण, तत्वचिंतन; दया, दान, सहिष्णुता, विनय, सेवा स्वाश्रय इत्यादिका समावेश होता हैं। इन व्रतोंका पालन साधककेलिए अनिवार्य है। इसमें इसकी और पर का अव्यक्त रीतिसे कल्याण-योजना समाई हुई हैं और इसीमें सद्धर्मकी आराधना है इन सबका क्रमिक पालन करते हुए आत्मविकास होता जाता है।

निर्जरा

कर्मोंके तीन प्रकार होते हैं। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संवरसे क्रियमाणकी शुद्धि और प्रारब्धकर्मको समभावसे सहन करनेकी शक्ति जागृत होती है, परन्तु संचित कर्मोंके क्षयकेलिए निर्जराकी भी अति आवश्यकता है।

कर्मको भोगकर भी कर्मका क्षय तो होता ही है। परन्तु जो कर्म भोगते समय दुःख या सुखके संस्कारोंको उत्पन्न करते हैं वे कर्म निर्मूल हुए नहीं समझे जाते। वृत्ति पर जो संस्कार रहें वे दूसरे ऐसे ही प्रसंग मिलने पर फिर जागृत होते हैं। ऐसी निर्जराके दो भेद बताए हैं। सकाम और अकाम। सकाम निर्जरा अर्थात् कोई भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंग आवे वह स्वकृत कर्मोंका ही परिणाम है। ऐसी प्रतीति होने पर इस फलको भोगनेकी स्वेच्छासे अप्रतीकारक सहिष्णुशक्ति जागृत

करके उसे सह लेना सकाम निर्जरा कहलाती है। ऐसी भावना विशिष्ट साधकोंको सहज होती है। इन्हें कर्ममुक्तिका मार्ग ही अभीष्ट है।

इस सकामनिर्जराके भी दो भेद हैं। (१) सविपाक निर्जरा, (२) अविपाकनिर्जरा। कर्मका फलभोग होनेपर उस कर्मका स्वाभाविक क्षय हो उसे सविपाकनिर्जरा कहते हैं। और कर्मका उदय आनेसे पहले अर्थात् फलभोगसे पहले ही दयादानादि साधना द्वारा जिस कर्मका क्षय होता है उसे अविपाकनिर्जरा कहा जाता है।

सविपाकनिर्जरा सहिष्णुतासे और अविपाकनिर्जरा (१)तपश्चरणसे होती है।

जैनदर्शनका ध्येय-मोक्ष

जीवके सब कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष है। इसे मुक्ति भी कहा जाता है। जैनदर्शनका सर्वोत्तम ध्येय यही है।

साधकके तर्कके समाधानकेलिए जैनदर्शनमें ज्ञानमीमांसा भी हैं। प्रमेय(जानने योग्य विषय), प्रमाण(जाननेका साधन), प्रमा(ज्ञान), और प्रमिति(ज्ञानफल), ऐसे न्यायदर्शनकी तरह चार भेद नहीं करता। यह कहता है कि ज्ञान स्वयं ही अपना प्रमाण है। जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित है और औरोंको प्रकाश

---

(१) इस सूत्रके ६ वें अध्ययनके चौथे उद्देशकमें तपश्चरणके भेद, प्रभेद और इसके निर्देशक तथा ज्ञानानुभवका विस्तृत अधिकार दिया गया है।

देता है ऐसे ही ज्ञान स्वयं जानता है और औरोंको जनाता है अर्थात् प्रमाण कहें या ज्ञान कहें इन दोनोंका एकमें समावेश होता है। यहां यह प्रश्न भी हो सकता है कि मन और इन्द्रियां काम करते हैं तथा मन या बुद्धि जानते हैं यह सब क्या है? जैनदर्शन कहता है, कि ज्ञानशक्ति चेतनाका ही स्वभाव है। भावमन पर चेतनकी जो किरण पड़ती हैं वही द्रव्यमनके द्वारा व्यक्त होता है, और उपयोगकी अनेक शक्तियां[१] जैसे कि स्पर्शज्ञान, इच्छाशक्ति, प्रेरणा, भावना, तर्क स्मृति इत्यादि द्वारा ज्ञानाकार बनकर इन्द्रियां और शरीरका आकार तथा प्रवृत्तिका रूप धारण करते हैं। इन सबका आधार चेतना-शक्तिपर ही निर्भर है, अजीव तो इसका अधिकरण है। यह ठीक है, परन्तु यह साधन रूपसे ही हैं।

प्रमाण और नय

प्रमाणके दो भेद हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रमाण और ज्ञानका भेद न होनेसे ये पूर्वोक्त पांचों ज्ञानोंको ऊपरके दोनों प्रमाणोंमें समाविष्ट कर दिया गया है, प्रथमके दो ज्ञानका प्रत्यक्षमें समावेश किया जा सकता है। और ये प्रत्यक्षके भी पारमार्थिक और सांव्यवहारिक ऐसे दो भेद करके सर्वोच्चपद केवलज्ञानको दिया है।

जैनदर्शनकी एक ऐसी मान्यता है कि इसे ध्येयरूपसे तो जरा भी न्यूनाधिक अच्छा नहीं लगता इसलिए यह अनुभूति को ही ज्ञान मानता है। कल्पना या तर्ककी आवश्यकता को

---

१ अधिक जानकारीके लिए नन्दी सूत्र देखें।

स्वीकार करता है परन्तु मर्यादासे अधिक नहीं। इसी से आत्मप्रत्यक्षको यह प्रत्यक्षज्ञान मानता है। और इसीमें केवल ज्ञानको ही यह महत्पदपर स्थापन करता है।

इन दो प्रमाणोंको विस्तृत रीतिसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार भेदोंको भी यह स्वीकार करता है। और पिछले तीनोंको परोक्षमें समा देता है। परोक्षज्ञानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसी प्रणालिका है।(१)

प्रमाणोंमें प्रवेश करनेकेलिए अर्थात् ज्ञानका आकार निश्चित करनेसे पहले, यह पदार्थकी असम्पूर्ण ज्ञानस्थितिमें जो विविध विचार सरणियां प्रगट होती हैं अथवा पदार्थोंमें अनेक धर्म होते हुए किसी एक धर्मको लेकर उसके द्वारा वस्तुका निरूपण हो या उसमें से किसी एक विशिष्ट दृष्टिसे विषयकी प्रकृतिका निरूपण हो उसे नय कहा जाता है। इन नयोंके संक्षिप्तरूपसे मुख्य दो तथा विस्तृतरीतिसे पांच, छ, और सात विभाग नियत किये गए हैं। इसमें द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्य ही जिसका मुख्य विषय है ऐसा नय। और पर्यायार्थिक नय। इसप्रकार व्यवहार और निश्चयके भेदसे नय

---

(१) इसकेलिए प्रमाणमीमांसादि न्यायग्रन्थ देखो। उनमें अनुमानके अवयव तथा आकार और स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञानादि के लक्षण भी बताए हैं और आगमोंमें श्वेताम्बर और दिगम्बर की प्रणालिकाका मुख्यभेद है और श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी और श्वे० स्थानकवासीका गौणभेद है।

दो तरहके हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इसतरह नय सात तरहके हैं।

इसभांति जैनदर्शनमें ज्ञेयमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और चरित्रमीमांसा इन तीनोंका समावेश है परन्तु यह सब सामग्री होते हुए इनका यह समन्वय साधनेमें ही उपयोग करता है। इसका समन्वय साधनेका इसके पास अमोघसाधन है वह स्याद्वाद× है।

इतनी सी षड्दर्शनकी संक्षिप्त रूपरेखा है। इससे ठीक तरह समझा जा सकेगा कि दर्शन कुछ लड़नेका हथियार नहीं है। बल्कि विकास साधनेका एक साधन है। चाहे कोई भी साधक कहीं भी रहकर अपनी दृष्टिका विकास करके विकासकी साधना साध सकता है।

×स्याद्वादके सम्बन्धमें संक्षिप्त होते हुए व्यवहारनिदर्शन सूत्रोंमें दिया है।

पा···रि···भा···षि···क

शब्दकोश

[जिन पारिभाषिक शब्दोंका स्पष्टीकरण करना आवश्यक लगा उनका टिप्पणिमें विवेचन किया गया है ।]

प्रत्येक दर्शनकी अपनी अपनी स्वतन्त्र परिभाषा होती है। इस परिभाषाको समझे विना केवल लौकिक अर्थमें उन शब्दोंकी रचना की जाय तो उस दर्शन पर अन्याथ होता है, और उसका रहस्य भी समझ में न आ पायगा। इसलिए इसकी परिभाषा समझ जाना चाहिए। यहां इस पुस्तकमें आनेवाले वहुतसे आध्यात्मिक परिभाषाके शब्दोंको स्पष्ट करना चाहता हूँ। इसमें लौकिक कोश, जैन परिभाषा, और इतर दर्शनोंके शब्दशास्त्रका अवकाश रहेगा। इससे इस सम्पूर्ण सूत्रके अर्थो को समझनेमें अत्यन्त सरलता होगी।

जैन परिभाषा	लौकिक परिभाषा	दार्शनिक परिभाषा
१. अगारिन्:—गृहस्थ साधक		
२. अनगारिन्:—त्यागी, गृह विना का साधु	जैन भिक्षुककी संज्ञा	
३. अधर्म:—धर्म विरुद्ध		

४. अधर्मास्तिकायः- जीव और अजीव पदार्थोंकी स्थिति में सहाय करने वाला तत्व		
५. अंतःकरणः—जैन दृष्टिसे जिसे भाव मनके रूपमें पहचाना जाता है द्रव्यमन पौद्‌गलिक है, भावमन चैतन्य का प्रकाशरूप है।	मन	मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार चतुष्टय का केन्द्र,
६. आरम्भः—पापकारी व्यापार, कर्मवन्धनका प्रबल कारण	प्रारम्भ	
७. आत्माः—(१) आत्मा,जीव, प्रकृति;	जीव, चेतन, चित्त, सत्व, अन्तःकरण	चित्त, सत्व,अन्तःकरण
८. आस्रवः—(२) कर्मोंकाआगमन	आगमन	दर्शनशास्त्रोंमें इसके लिए कोई स्थान नहीं
९. आसक्तिः— परिग्रहोंमें बुद्धि	अतिशय मोह	सकामवृत्ति

१०. कर्मः—क्रिया, (समयसार) विषयोपभोगकी लाक्षणिक क्रिया भाग्य, काम, धंधा, व्यापार प्रवृत्ति।	क्रिया, व्यापार, संस्कार, नसीब, जिस पर क्रिया होती हो वह व्यापार	
११. कल्पनाः—(३) तरंग, संभावना	एक प्रकारकी मानसिकशक्ति,	कर्मोंकी मन पर पड़ने वाली छाप।
१२. क्रोधः—(४) रोष, गुस्सा	गुस्सा,	गुस्सा,
१३. गृद्धिः—(५) आकांक्षा, आसक्ति, आतुरता, लालच,		
१४. चित्तः—(६) अन्तःकरण, मन, चेतन, ज्ञान, उपयोग, अभिप्राय,	मन, अन्तःकरण,	अन्तःकरणका एक विभाग,
१५. तृष्णाः—उत्कट इच्छा	उत्कट इच्छा,	वृत्ति,
१६. त्यागः—जैन दृष्टिसे मैं भक्ति प्रीति और अनासक्तिमें समावेश करता हूं		

१७. द्वेषः— (७) रागका उलटारूप	शत्रुता	मुख्यभावसे शत्रुता गौण भावसे ईर्ष्यादि
१८. धर्मः—वस्तुका स्वभाव, अहिंसा संयम तथा तपश्चरणकी संस्कारिता	चारपुरुषार्थमेंसे एक पुरुषार्थ,	ऐहिक और पारलौकिक कल्याण करनेवाला,
१९. धर्मास्तिकायः-(८) जीव तथा अजीवपदार्थोंको गतिमेंसहाय करनेवाला एक तत्व		
२०. धारणाः--मतिज्ञानकाएकप्रकार, मनकी स्थिरता, स्मृति,	स्मृति	शरीरके भीतरके या बाहरके किसी केन्द्रपर चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास,
२१. ध्यानः—(९) अभ्यन्तर तपका एक प्रकार, चित्तकी एकाग्रता, मनकी स्थिरता, मनन, स्मृति, दृढ़ प्रयत्नसे मन आदिका होता हुआ व्यापार,	चित्तका लक्ष्य एकाग्रता, योगका एक अंग	चित्तको एक ही प्रत्यय पर लगाकर रखनेका प्रयास, एकतानता,

२२. अनासक्तिः– परिग्रहादिमें गृद्धि न होना, गीतामें अनासक्तिमें निष्काम शब्द आता है। मैंने आचारांग सूत्रमें अनासक्ति शब्द का इसी अर्थमें उपयोग किया है।	अतिशय स्नेह और मोहका न होना,	निष्काम वृत्ति,
२३. निदानः— श्रेयार्थीके मार्गमें जो तीन कांटे हैं उसमेंसे एक प्रत्येक कार्यके पीछे रही हुई फलकी लालसा, वासनाका एक पक्ष, आत्माके अनंतत्वको भुलाने वाली तृष्णा।	मूल कारण, परिणाम,	
२४. निदिध्यासः— (१०) जैनदर्शनमें इसे स्वाध्यायके रूपमें स्थान है।		निरंतर चिन्तन,

२५. निसर्गः—(११) स्वभाव,सम्यक्त्व या समताका एक प्रकार ।	कुदरत, जगत, सृष्टि स्वभाव ।	गीताकी दृष्टिसे पदार्थ मात्रमें रही हुई साहजिकशक्ति ।
२६. पूर्वग्रहः—जैन दर्शनमें पूर्वग्रह शब्दके स्थानमें ममत्व शब्द है ।	पहलेसे ही बनाया हुआ अभिप्राय ।	
२७. प्रतीकारः—	बदला, विरोधी उपाय	
२८. प्रमादः—आत्म-स्खलना, इसके मद,विषय,कषाय, निन्द्रा, विकथा ऐसे पांच प्रकार हैं ।	गफलत, भूल ।	असावधानता अजागृती,
२९. मानः—गर्व,	अभिमान,	इतर दर्शनोंमें अहंकार ।
३०. मायाः—कपट, छल, लुचपन ।	कपट	वेदान्तकीमायाकी अपेक्षा प्रस्तुत माया अलग तरह की है ।
३१. मोहः—मूढता, अविवेक अज्ञानता, रागांधता, राग और माह में इतना ही अन्तर है कि	अज्ञान' भ्रम, मूर्छा, बेहोशी ।	आसक्ति, विस्मय,

मोहका दर्शन पदार्थके दर्शनके बाद बाहरकी क्रियामें होता है, तब रागका स्थान वृत्तिमें छुपा रहता है, मोहका क्रियामें दर्शन होता है।		
३२. योगः—संयम, मन, वाणी तथा कायाका व्यापार	संयम, परमात्माके साथ संबंध जोड़नेका उपाय	चित्तवृत्तिका निरोध,
३३. रागः—(१२) विषयोंमें आसक्ति,स्नेह आत्मा का रंजक परिणाम,(समयसार) संसारका बीज राग द्वेप पर निर्भर है।	मोह, ममता, आसक्ति	स्नेह
३४. लोभः—संचयवृत्ति।	लोभ, परिग्रह,	लोभ, तृष्णा
३५. लालसाः—तृष्णा, लालच,	उत्कट इच्छा	

३६. वासनाः-(१३) संस्कार, भावना जैनदर्शनमें वासना शब्द अधिक प्रचलित नहीं है निदान यह वासनाका एक विभाग है।	पूर्वसंस्कारोंसे दृढ़ रहनेवाली कामना।	पूर्व संस्कारोंसे दृढ़ रही हुई कामना।
३७. विकल्पः—(१४) प्रकार, भेद, विविधता, विशेष कल्पना।	विकल्प	कल्परहित शब्दज्ञानके पीछे उठनेवाला निश्चय,
३८. वृत्तिः—(१५) शैली, आचार वृत्ति, स्वभाव।	अनिश्चित इच्छा, लगन या आवेग।	चित्तमें उठनेवाली क्रियाओंका स्थायी संस्कार।
३९. विचारः— अन्तःकरणकी गहराईसे उठने वाली लहर या जो सत्यनिर्णय का मुख्य कारण होता है।		बुद्धिमेंसे उठते हुए वास्तविक तर्कोंके पीछे बंधे हुए ख्यालका संप्रज्ञान (स्पष्टभान)
४०. वैराग्यः—त्याग का बीज, पदार्थों में अबद्धता।	विरक्तवृत्ति	विषयोंमें तृष्णाका अभाव।

४१. व्रतः—(१६) नियम पापसे निवृत होनेकी मर्यादा ।	प्रतिज्ञा,	
४२. विरतिः— सावद्य प्रवृत्तिका अभाव ।		
४३. विवेकः--आत्मा तथा ज्ञानात्मा का पृथक्करण ।	सम्यता	सत्यासत्यका पृथक्करण .
४४. स्नेहः—(१७) जैनदर्शनमें प्रेम, राग, रतिस्नेह, एकार्थमें आते हैं,	प्रेम,प्यार,प्रीति, विकास ।	
४५. संस्कारः—	सुधारना	कर्मों की मन पर पड़ने वाली छाप ।
४६. स्मृतिः—बुद्धि के निर्णयके पश्चात् होनेवाला निश्चित संस्कार	बुद्धिके एक ओर स्मरणशक्ति ।	अन्तःकरणकी निश्चय कारिणी शक्ति ।
४७. समाधिः--चित्त की एकाग्रता, मनकी स्थिरता ।		ध्यानकी अन्तिम दशा
४८. श्रद्धाः–विश्वास, तत्वरुचि,	विश्वास	मनुष्यके द्वारा स्वयं स्वीकृत प्रवृत्तिमें विश्वास ।

४९. समत्वः—सम-भाव, सम्यग्दृष्टि से ही है।	समभाव	गीताकी दृष्टिसे योग का लक्षण
५०. समदर्शी या समदृष्टिः—यहीं से जैनके रूपमें गिनाजानाप्रारंभ होता है। अपने बहिरात्माकेसाथ युद्धकरके विजय-शक्ति प्राप्त करने का मनोरथ जागृत होता है।	सबकी ओर समान दृष्टिसे देखनेवाला, निष्पापवृत्ति।	युक्तयोगीका पहला लक्षण, बौद्धदर्शनमें सामूहिक शब्द है।
५१ स्वभावः—धर्म, प्रकृति, गुण,	कुदरतका गुण,प्रकृसि	
५२. स्याद्वादः—स्याद्वाद, अनेकांतवाद या अपेक्षा वाद, ये सब एकार्थसूचक हैं। अलग अलग दृष्टि-कोणोंसे वस्तुके समझनेकी प्रणा-लिका।	प्रत्येक वस्तुका इसके पक्षसे अलग अलग रीतिसे ज्ञान होता है ऐसा जैनतत्वज्ञानका आधारभूत सिद्धान्त,	न्यायदर्शनमें अन्योन्य भाव है इसके साथ इसका मेल कई विद्वान् विठाते हैं। परन्तु यह भले प्रकार सुघटित नहीं होता।

५३. समारंभः—मन वाणी और शरीरसे दूसरेको दुःख देना।		
५४. लोकसंज्ञाः—(१८)लोकदृष्टि, लोकैषणा, लोक-भय, कामवासना,	लोक लगन, संकेत ।	

सूचनाः—कौंसमें दीगई नंबर संख्या टिप्पणिकेलिए आगे देख ।

टिप्पणियां

(१) आत्माः—क्रिश्चियानीटीमें गऊमें आत्मा न मानकर बहुतसे इसका अनर्थ करते हैं। उनका वक्तव्य यह हैं कि इतर प्राणोमें मनुष्य जैसा आत्मा Consious (चेतना) नहीं है। इसीसे इन्हें इतर जोवोंके प्रति दया पूर्ण रहना चाहिए। परन्तु उनमें आत्मा नहीं अर्थात् प्राण, जीव या चेतना नहीं है यह अर्थ न लेना चाहिए।

(२) आस्रवः—आत्माके साथ कर्मोंका असर कैसे रूप में होता हैं। इसकेलिए षड्दर्शनके क्रममें विस्तृत वर्णन दिया जा चुका है।

(३) कर्मः—कर्मके बंध और उसके विपाक समान नहीं होते। ज्ञानी पुरुष और अज्ञानी पुरुष द्वारा एक ही क्रिया की गई हो तो एक शुभकर्म बांधता है, और दूसरा अशुभकर्म।

(४) क्रोधः—जैनदर्शनमेंक्रोध, मान,माया और लोभ ये चार कषाय बताई हैं। इसमें इनके भेद, प्रभेद बहुत हैं। परन्तु इन सबका मूल तो मोह ही है। इस प्रकार श्री-आचारांगसूत्रमें क्रोधका व्यवहार्यरूप वर्णन किया है।

(५) गृद्धिः—इस शब्दका जैनागमसाहित्यमें पुष्कल उपयोग किया है।

(६) चित्तः—सामान्य रीतिसे नीचेकी भूमिकामें जीव होता है, वहाँ तक यह शरीर पर ही "मैं" का प्रयोग करता है। और इससे जरा अधिक विकासवाले आदमी अधिकसे अधिक चित्त या अन्तःकरणको आत्माके रूपमें मान लेते हैं।

(७) धर्मः—सामान्य रीतिसे लोकभाषामें धर्म और पुण्य शब्द एक ही अर्थमें उपयुक्त हैं और इसका वर्तमान जैनसंस्कृतिमें कितना गहरा प्रभाव पड़ा है और इसीलिए जो त्रुटी या कमी देखी जाती है इस संबन्धमें प्रसंगोपात्त मीमांसा करनेकी मेरी इच्छा है। धार्मिकभाषाके शब्द जब रूढिका रूप ले लेते हैं तब उसका मूल पाया बहुत गहरा डाला जाता है। परिभाषा ज्ञानके अभावमें जब इस संस्कृतिमें जीवित रहनेवाले भूल कर बैठें वहां दूसरेको क्या कहा जाय? सत्यार्थप्रकाशमें श्रीदयानन्द सरस्वतीने धर्मास्तिकायके विषयमें षड्दर्शनविचारके लोकस्वरूप विभागमें स्पष्ट विवेचन है, वहाँ से देखें।

(९) धारणाः—मतिज्ञानके भेदोंका विस्तृत विवरण नंदीसूत्रमें देखो।

(१०) अनासक्ति—त्याग और अनासक्तिके विस्तृत विवेचनकेलिए देखो उपसंहारमें श्रीआचारांग और श्रीगीताजी का समन्वय।

(११) निसर्गः—मैंने इस अनुवादमें कुदरत तथा कर्मफलकी दृष्टिसे निसर्गका उपयोग खूब किया है। यह सहेतुक हैं। इसका व्यापक और संक्षिप्त अर्थ यह है कि जैन-दर्शनमें जो पांच समवाय(पुरुषार्थ, प्रारब्ध, काल, नियति, और स्वभाव)हैं इन्हें यथार्थ जाननेसे तदनुसार जीवनकी प्रत्येक क्रियामें सहजता आ जाती है, यह सहजता फिर चाहे थोड़े अंशमें हो या अधिकांशमें।

(१२) रागः—जैन परिभाषासे रागका अर्थ अधिक स्पष्ट हो रहता है संसार का बीज रागद्वेष पर निर्भर है और रागसे द्वेष उत्पन्न होता है। अर्थात् रागके ऊपर संसारका आरंभ होता है। जिसमें रागद्वेषादिवशात् कर्म पुद्गल जीवमें आस्रव पाते हैं।

(१३) वासना—श्रीआचारांगमें मैंने जहाँ जहाँ वासना शब्दका उपयोग किया है वहां पूर्वके संस्कारोंसे दृढ़ रहनेवाली कामना समझें। और इसका संबंध स्त्रीमोहके अर्थमें अधिक सयुक्त लगता है। आचारांगमें आनेवाले स्त्रीमोहका त्याग वासनात्यागके अर्थमें लेना है। आसक्तिकी जो दो दिशाएँ वर्णित हैं, उनमें वासना और लालसाको स्थान है। लालसामें इतर पदार्थोंके मोहका समावेश है। लालसा और वासनाके

तारतम्य परिणामके लिए देखो श्रीआचारांग पृष्ठ २०१। काम, क्रोध, मान, मद, मोह, मत्सर आदि षड् रिपुओंकी प्रणालिकाके लिए देखो श्रीआचारांग पृष्ठ १२७।

(१४) विकल्प—मैंने विकल्प और विचारका भेद अधिक विस्तारसे स्पष्ट किया है। देखो श्रीआचारांग पृष्ठ १६३।

(१५) वृत्ति—आचारांगसूत्रमें मैंने वृत्तिका प्रयोग किया है। इसमें लौकिक और अन्य दर्शनोंकी परिभाषाका अर्थ लेना है। वासना और वृत्तिका भेद समझना हो तो वह यह रीति है। वासना स्थायी है। और स्थायी तत्वोंमें से जब विकल्प उठते हैं, तब इसके जन्मस्थानको वृत्तिके रूपमें पहचाना जाता है।

(१६) व्रत:—जैनदर्शनमें इसके अणुव्रत और महाव्रत ऐसे दो विभाग हैं। अणगारी साधक पालते हैं उन व्रतोंमें सर्वांश दृष्टि होनेसे इस साधकके सम्बन्धमें इस प्रकार पलनेवाले व्रतों को महाव्रत कहा जाता है। और श्रावकोंको व्यवहारमें रह-कर इन व्रतोंका पालन करनेसे उनमें मर्यादाकी दृष्टि होनेसे इन्हें अणुव्रत कहते हैं। और यह मर्यादा भले प्रकार सुरक्षित रहनेके हेतुसे श्रावकोंकेलिए खास तीन गुणव्रत और चार

शिक्षाव्रतोंकी योजनाकी गई है। मुख्य पांच व्रतोंमें अहिंसा, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश है। योग-दर्शनकी परिभाषामें इन्हें यम कहा है और उनमें उपर्युक्त पाँचों नियम होते हैं।

(१७) स्नेह—सांख्यदर्शनकी त्रिगुणात्मक प्रकृतिको गीताजी में जो व्यवहार्यरूप और उसकी पहचान बताई है। वह प्रत्येक साधकके अवलोकन करने योग्य है।

प्रवृत्तिका बहुत बड़ा आधार वृत्ति पर होता है। वृत्तिपर जिस तरहके संस्कार होंगे उसी तरहका वृत्तिमें उसका रूप झलकता है। एक ही पदार्थको देखकर, सम्भालकर, रखकर या विचारकर मन पर विकल्प या विचाररूपमें जो अलग अलग भावनाएँ उठती हैं उनके कारण विविध संस्कारों पर निर्भर है। इस वृत्तिको मैं इस रीतिसे पांच विभागोंमें विभक्त करता हूं; मोहयुक्त, रागयुक्त, स्नेहयुक्त, प्रणययुक्त और प्रेमयुक्त।

मोहमें—तमोगुणका आधिक्य।

रागमें—तमो और रजोगुणका आधिक्य।

स्नेहमें—तीनोंका साम्य।

प्रणयमें—रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुणका आधिक्य।

प्रेममें—सत्वगुण ही प्रधानतासे होता है।

निष्काम कर्मयोग या त्याग प्रेमकी भूमिकाके बाद ही साध्य होता है। मोहमें आसुरी तत्व, रागमें पाशवता, स्नेहमें मानवता, प्रणयमें सज्जनता, और प्रेममें सत् प्रयत्न और प्रवृत्ति। जो पाँचवीं भूमिका तक पहुंचा है उसे ही मानवता पचती है 'मानवताकी दृष्टिसे भूमिकाओंका विकास सबसे पहले करना चाहिए।

लोकसंज्ञा–जैन आगमसाहित्यमें इस शब्दका [पुष्कल उपयोग पाया जाता है।

———

श्री…आ…चा…रां…ग…सूत्र

के

सूक्तामृत

मात्र आदमी आदमीके बीचमें ही नहीं बल्कि जो समस्त विश्ववर्गके साथ प्रेमकी जंजीरसे अनुसन्धान करे वही धर्म। जहां ऐसा न देखा जाय वहां धर्म नहीं, बल्कि धर्मका विकार है। धर्मके विकारको सर्वथा दूर करना चाहिए।

देहका दान करने पर भी जिज्ञासा बड़ी महंगी है। तपश्चर्यासे देहको कृश करना सहेल है, परन्तु मर्कट जैसी चंचल वृत्तिको कृश करना कठिन है।

आरम्भ आसक्तिसे उत्पन्न होता है। त्यागी भी आसक्त हो तो आरम्भ जीवी है, और गृहस्थ भी संयमी या अनासक्त हो तो वह अनारम्भ जीवी है।

कर्मका नियम किसीको किसी समय नहीं छोड़ता, छोड़ेगा भी नहीं। सुख या दुःख माना जाता है इसका कारण भी कर्मोंकी विचित्रता है। कर्ममुक्ति आत्मभान होने पर ही संभव है।

विचार और विवेक जिज्ञासाके मूल पाये हैं। वृत्तिओंमें बारम्बार उठनेवाले विकल्पोंकी विचारमें गिनती होती है वह भूल है। जीवनमें अद्भुत नवीनता और दिव्यदृष्टि अर्पण करे वही विचार। विचारकी किरण अन्त:करणकी गहराईमें चमचमाती चैतन्यज्योतिका स्फुलिंग है। उसके द्वारा जीवनकी निगूढ गुफामें जाकर जो बुद्धि सत्यका राह स्पष्ट करे उसे विवेकबुद्धि कहा जाता है।

सत्यको स्थान या क्षेत्रका बंधन नहीं है। अनासक्त दशा त्यागका अमूल्य और मीठा फल है। वीर्यको छुपाना आत्मघातके समान है। शीलरक्षण चरित्ररचनाका पहला पाया है।

जहाँ सत्य है वहाँ आत्मज्ञान है और जहां आत्मज्ञान है वहीं मुनित्व है।

सत्य, श्रद्धा और समभावसे चारित्र्यबलका विकास होता है और कर्मके बंधन ढीले पड़ते हैं।

वृत्तिके द्वन्द्वों पर विजय पानेवाला ही सच्चा विजेता है।

श्रद्धा विना समझ नहीं, समझ विना शान्ति या समाधि नहीं होती। सत्पुरुषोंका अनुभव, आगमवचन और अपनी विवेकबुद्धि इन तीनोंके समन्वयके पश्चात् सत्प्राप्तिकेलिए पुरुषार्थ करनेका अटल निश्चय जाग पड़े वही श्रद्धा।

अनुभवका मूल्य महँगा है। कोई मरकर जीनेवाला ही जीवनरत्नाकरमें डुबकी लगाकर अनुभवका रत्न पा सकता है।

भोग आनन्दको लूटता है। संयम आनन्दको समर्पण करता है।

वृत्तिओंपर विजय पानेवाला पातकी भी प्रभुताको पाता है। स्वार्पणका मार्ग सर्वश्रेष्ठ है।

उपादानकी शुद्धि करनेके बाद सत्यकी साधनाका आरम्भ होता है। सत्यका एकलक्ष्यीपन, वीरता भरी अहिंसा और मान,ममताका त्याग ये तीनों साधनों द्वारा उपादानकी क्रमशः शुद्धि होती है।

एकके पाससे लेकर किसी दूसरेको देना आदर्शदान नहीं है। अपनी आवश्यकताओंको घटाकर उसमेंसे दूसरेको कुछ देना आदर्शदान है।

समभावके तीन पाए हैं, निस्स्वार्थता, अर्पणता और प्रेम। इन तीन पायोंपर जिस क्रियासे जीवनकी चिनाई हो उस क्रियाका नाम धर्मक्रिया।

निर्भयता और आत्मस्वातन्त्र्य ये दो साधुताके मुद्रालेख हैं। जो साधक अपने मार्गमें एक ओर संकटके कांटे और दूसरी ओर प्रलोभनके फूल होते हुए उससे अरुचि या उसमें मुग्ध न हो जाय, वही साधक अपनी साधनाको सिद्ध कर सकता है।

यौवनमें धर्म सहज है, यौवन जीवनका सौरभ है। सौंदर्य,

उत्साह, ओजस और आकर्षण ये यौवनशक्तिके प्रतीक हैं।

नैसर्गिक जीवनसे जो जीना सिखाये वही सच्चा संयम है।

संस्कृत रसकी लज्जत चखाये वह संयम और विकृत रस की झंखना (चाह) को वढायें वह विलास।

जीवन संस्कारोंको घड़ता है और संस्कार जीवनको घढता है जिसे जीवनका मोह नहीं और मृत्युका भय नहीं, वही सच्चा ज्ञानी पुरुष है।

जिन क्रियाओंके द्वारा कषाय मंद पड़ और आत्माके गुण खिल उठें वही धर्माचरण है।

सहिष्णु पुरुषमें जो आत्मवल होता है वह वल लाखों आदमियोंके विजेता वीरमें नहीं होता।

वस्त्रधारण करो या छोडदो इसमें मुक्तिका मौक्तिक नहीं, वल्कि मुक्ति तो मूर्छाके त्यागमें है।

अज्ञानी जन सोये पड़े हैं, ज्ञानीजन सदा जागते हैं।

जन्ममरण सवको है, यही समझकर संयममार्गमें चलो।

जहाँ लोकैषणा है वहाँ समता टिकती ही नहीं। समभाव का सम्वन्ध आत्माके साथ है। सच्चा साधक समभावसे ही आत्माको प्रसन्न रखता है।

विकृत विचार या विकृत मान्यताओंका खंडन सत्यार्थी

सत्यको वचाकर ही करता है। वास्तविक रीतिसे तो सत्यार्थीकी खंडनात्मकशैली मंडनात्मक रूप ही होती है। उसकी कोई भी प्रवृत्ति विवेकवुद्धि, वचनमाधुर्य और अनुकम्पाभावसे रहित नहीं होती। स्याद्वादका आराधक या सनातनधर्मका साधक इतना धर्मरहस्य भलेप्रकार समझे और विचारे।

सत्यकी आराधनामें वीरताकी कसोटी होती है।

आत्माभिमुखदृष्टिके विकासके लिए देहदमन, इन्द्रियविजय, और वृत्तिनियमन इन तीनोंकी आवश्यकता है।

स्त्री या पुरुष नरकके द्वार नहीं हैं, वल्कि पुरुष या स्त्रीमोह ही चित्तको व्याकुल करनेवाला है। मोह या वासना ही नरकके द्वार हैं। जितनी मोह या वासनाकी आधीनता उतनी ही आत्मपरतन्त्रता, और जितनी मोहशत्रु पर विजयसिद्धि उतनी ही आत्मस्वतन्त्रता-आत्ममुक्ति।

जीवनमें लघुभाव पैदा करना अमूल्य धन है।

जहाँ पापवृत्ति नहीं, स्वार्थभावना नहीं, वासना नहीं, लड़ाई झगड़ा नहीं, 'मेरा ही सच्चा' है ऐसा हठ नहीं, वल्कि 'सत्य ही मेरा' है जहां ऐसा सत्याग्रह है वहीं सद्धर्म टिक सकता है।

स्वाद पर विजय पाना साधनाका सच्चा साधन है।

वहिर्मुखदृष्टि आत्मविकासका आचरण और कर्मबंधन का मूल है।

अहिंसाका जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके साथ सम्बंध है। सच्चा और सनातनधर्मका पालन अहिंसाकी जीवनव्यापी आचरणीयतामें है। अर्थात् अहिंसा सबके लिए अनिवार्य और शक्य होनेसे श्रद्धास्पद होनी चाहिए।

कृत्रिम विलासमें हिंसाकी गंध है। हिंसा और धर्म दोनों एक साथ नहीं टिक सकते।

अहिंसाकी शुद्धि और शक्यताकेलिए आसक्ति और पूर्वाभ्यासोंसे पर रहना आवश्यक है।

शुद्धिविवेक

अशुद्ध	शुद्ध	पंक्ति	पृष्ठ
म	में	८	२
उतारन	उतारने	१३	३
बचारे	वेचारे	१६	१५
कार्मोको	कर्मोके	६	१७
अणत्यागी	अणुत्यागी	८	२०
कवल	केवल	४	२४
का	को	१२	२६
स्वरुप	स्वरूप	१८	३६
धर्मक्रिया	धर्मक्रिया	१६	,,
पापका	पापकी	१	३७
उपयोगियाके	उपयोगिताके	३	४०
अमक	अमुक	१७	४१
देहदम	देहदमन	७	४६
चिरसंयमा	चिरसंयमी	८	४७
साधनाका	साधनाकी	२	५३
सहनशालताका	सहनशीलताका	३	८३
संस्कारिताका	संस्कारिताकी	१०	,,
वधन	वंधन	२	८६
हो	होते	१२	१००
०	का	२	१२६
काई	कोई	४	१३१
यह	या	१४	१३४

भ	भी	१८	१४६
सूत्रकारज गत	सूत्रकार जगत	११	१५१
आग	आगे	३	१५४
ही	हो	४	१८६
भट	भेट	१०	१९१
जडताश्चर्या	जड तपश्चर्या	५	२३९
होतो	होती	१	२४२
तिमित्त	निमित्त	१८	२८३
उपप्रधानश्रुत	उपधानश्रुत	१७	२९६
अल्पहारसे	अल्पाहारसे	१४	३१९
आत्मलक्ष्मी	आत्मलक्ष्यी	२०	३२७
अजाड	अजोड	८	३३१
अनाजक	अनालका	१६	"
( )	है	८	३५०
नियुक्ति	निर्युक्ति	१५	३६४
पाणोणं	पाणाणं	८	४०८
आ न्दं	आनन्दं	१५	४३०
इनका चाहे	इनका नाम चाहे	३	४४०
जावन-साधना	जीवन-साधना	६	४४६
जीवत	जीवित है	२१	४४७
पर का	पर की	८	४४८
जपत	जगत्	१	४५८
माह	मोह	२२	"
वाज	वीज	२४	४६०
प्रकृसि	प्रकृति	५	४६२
देख	देखें	९	४६३

हँसते दुर्जन भूल देखकर, सज्जन लेते तुरत सुधार।
रवि जलको आकर्षित करता, बादल ढंके तेज हर बार॥
उपकारी जल वृक्ष का, होता पालनहार।
अपकारी अग्नी उसे, करे भस्म उस बार॥
उपकारी यदि भूलको, देखे करे सुधार।
अपकारी क्षति देखकर, करता फिरे खुवार॥
अवगुण उर धरना नहीं, जो हो वृक्ष बबूल।
गुण लेते सज्जन सभी, नहीं छाया में शूल॥